स्वतंत्रता की ओर

व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के विकास के लिए
दिशा-दर्शक विचार

हरिभाऊ उपाध्याय

१९५३
सस्ता साहित्य मंडल—प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मत्री, सस्ता साहित्य मडल,
नई दिल्ली

तीसरी बार १९५३

मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
दिल्ली

पडित सिद्धनाथ उपाध्याय

तीर्थस्वरूप

पूज्य पिताजी की

सेवा मे

○

आरम्भिक

यह ध्रुव सत्य है कि सारा जगत् परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर जा रहा है। जो विश्व हम आज देख रहे हैं, वह मूल स्वतन्त्र तत्त्व का प्रकट रूप है। अव्यक्त से व्यक्त होते ही उसे आकार और मर्यादा प्राप्त हुई। इसी मर्यादा ने उसे कई प्रकार के नियमों और बन्धनों में जकड़ दिया। यही पराधीनता हुई। मुक्त जीव शरीर के कैदखाने में आ गया। आ तो गया, किन्तु उसकी स्वाभाविक गति इस जेल से छुटकारा पाने की ओर है। यही मनुष्य के लिए ईश्वर की ओर से आशा का, मांगल्य का सन्देश है। जिसने इस रहस्य को समझ लिया है उसकी स्वभावत प्रवृत्ति वेग के साथ परतन्त्रता से छूटकर स्वतन्त्रता की ओर जाने की, निराशा, शोक, अनुत्साह, कष्ट के अवसरों पर भी आशावान् और उत्साही रहने की एव पतित हो जाने की अवस्था में भी शुद्ध, उन्नत और श्रेयोमय हो सकने का आत्मविश्वास रखने की ओर होगी। किन्तु बहुतेरे लोग इस रहस्य को नहीं जानते। इससे नाना प्रकार के दु ख, ग्लानि, शोक, सन्ताप, चिन्ता आदि का बोझ अकारण ही अपने सिर पर लादे फिरते हैं और जीवन को सुखी और स्वतन्त्र बनाने के बजाय दु खी और परतन्त्र बनाये रखते हैं। इस पुस्तक में इसी बात का यत्न किया गया है कि पाठक इस रहस्य को समझें और जानें कि मनुष्य पराधीन से स्वाधीन कैसे हो सकता है। वास्तविक स्वाधीनता क्या वस्तु है, उसे वह व्यक्ति और समाज-रूप से कैसे पा सकता है। उसके लिए कितनी तैयारी, कैसी साधन-सामग्री की आवश्यकता है---इसका भी वर्णन एक हद तक किया गया है। कौन-कौन से विचार और धारणाएं वास्तविक स्वाधीनता को समझने में बाधक हैं, इसका भी विवेचन एक अध्याय में कर दिया गया है। आन्दोलन और नेता स्वतन्त्रता के सबसे बड़े

भौतिक साधन है—इसलिए इन पर भी एक अध्याय लिखा गया है। देश का एक साधारण सेवक और लेखक नेता की योग्यता और गुणो के सम्वन्ध में कुछ लिखे, यह है तो 'अव्यापारेषु व्यापार'; किन्तु इसकी आवश्यकता समझकर ही इस विषय में कुछ लिख डालने का साहस किया है। मैं समझता हूँ, उस अध्याय से भी पाठको को कुछ लाभ होगा।

मै नही कह सकता कि अपने उद्देश्य में सफलता कहाँ तक मिली है। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि इन अध्यायो से पाठको की कई उलझनें अवश्य सुलझ जायँगी। यदि इतना भी हुआ तो मेरे समाधान के लिए काफी है। पाठको ने सच्ची स्वतन्त्रता और उसके साधनो को समझ लिया तो मानना होगा कि मुझे इस श्रम का पूरा वदला मिल गया। पाठको से इससे अधिक आशा रखने का मुझे अधिकार भी नही है।

इस पुस्तक में जिन विचारो का प्रतिपादन किया है उनकी स्फूर्ति मुझे मुख्यत पूज्य महात्मा गाधीजी के सिद्धान्तो और आदर्शो से हुई है। अत उनके चरणो में साष्टाग प्रणाम करते हुए यह वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

इन्दौर
चत्र, वर्षप्रतिपदा, १९९२

हरिभाऊ उपाध्याय

दूसरे संस्करण के लिए

'स्वतन्त्रता की ओर' जब पहली बार छपी थी तब भारत राजनैतिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हो रहा था। अब यद्यपि वह एक अर्थ में स्वतन्त्र हो गया है, तो भी सच्ची स्वतन्त्रता से अभी दूर है। फौज और पुलिस के सहारे---स्वतन्त्रता या हिंसा-बल के सहारे जो स्वतन्त्रता टिकी रहे, वह अधिक बलाढ्य या शस्त्रास्त्र-सपन्न व्यक्ति या राष्ट्र के द्वारा छीनी भी जा सकती है। अत गाधीजी का प्रयास है कि लोक-जाग्रति, लोक-बल, लोक-सगठन, लोक-ऐक्य के बल पर---एक ही शब्द में कहें तो सत्य व अहिंसात्मक शक्ति के आधार पर---स्वतन्त्रता-माता का मन्दिर खडा किया जाय। जब-तक ऐसे मन्दिर में भारत-माता की प्राणप्रतिष्ठा हम न कर सकें तबतक हमें 'स्वतन्त्रता की ओर' प्रयाण करते ही रहना है, बल्कि जबतक भारत का मनुष्य भौतिक परतत्रता से छूटकर आत्मिक स्वतत्रता को अनुभव नही करता तबतक हमारी यात्रा का अन्त न होगा। इसीलिए इस पुस्तक का नाम---'स्वतन्त्रता की ओर'---अब भी सार्थक ही बना हुआ है, और सच पूछिए तो केवल राजनैतिक ही नहीं, बल्कि सच्ची, पूर्ण या आत्मिक स्वतन्त्रता की ओर हमारी गति करने के उद्देश्य से ही यह पुस्तक मूल में लिखी गई है।

पाकिस्तान व हिन्दुस्तान के दो टुकडे हो जाने पर तो इस पुस्तक में वर्णित सिद्धान्त और भी आवश्यक रूप से पालनीय हो जाते है। महात्माजी ने कहा था कि यदि १९४२ में हमने हिंसाकाण्ड का अवलम्बन न किया होता तो आज यह खू-रेजी हमें नसीब न हुई होती। यह सही है कि १५ अगस्त---हमारे स्वतन्त्रता-दिवस---के बाद देश में एक प्रकार से हिंसा-वाद प्रबल हो गया है। कुछ लोग तो यह कहने लगे हैं कि अब हम आजाद हो गये, अब अहिंसा की क्या जरूरत? कुछ कहते हैं, अहिंसा है तो भली वस्तु, परन्तु उसके बल पर आज राज्य-सचालन नही किया जा सकता। फिर भी

मेरी यह निश्चित राय है कि यह हवा भी चन्दरोजा है। अहिसा की आत्मा को इससे धक्का नहीं पहुचा है। एक वार यह आवादियो की अदला-वदली का सवाल हल हुआ नही, शरणार्थियो के वसने व काम-काज का इन्तजाम हुआ नहीं, काश्मीर आदि की समस्या सुलझी नही कि हमारे राजनेताओ का ध्यान देश की भीतरी व्यवस्था को ठीक करने की ओर गये विना न रहेगा। यह काम विना शान्ति के सिद्धान्त पर चले हो नही सकता। जैसे-जैसे वे देश की व्यवस्था ३५ करोड के हित की दृष्टि से, उन्हींके हित के लिए, करने लगेंगे वैसे-वैसे वे खुद ही अनुभव करेंगे कि यह काम अहिसा के मार्ग से ही अच्छी तरह हो सकेगा। उस समय जो आज यह मानने लगे है कि अहिसा खत्म हो गई, वे अपनी भूल को महसूस करने लगेंगे। आज भी वे यह तो मानते ही है कि हिसा से अहिसा-मार्ग श्रेष्ठ है। उनकी जवतक यह मान्यता वनी हुई है तवतक अहिसा खतम नही समझी जा सकती।

इस सस्करण को आज की आवश्यकताओ के अनुकूल वनाने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से पहले सस्करण से कुछ विषय निकाल दिये गए है और कुछ नये जोड दिये गए है। अत जिन पाठको के पास पहला सस्करण हो उन्हें भी यह नया सस्करण अपने पास रखने जैसा लगेगा।

'स्वतन्त्रता की ओर' को केवल पढ लेने से इसके उद्देश्य की पूर्त्ति नहीं हो जाती। तदनुकूल अपना व समाज का जीवन वनाने का यत्न जवतक हम न करेंगे तवतक स्वतन्त्रता की ओर हम देखते ही रहेंगे, उसकी प्राप्ति सुलभ न होगी। परमात्मा हमें न केवल ठीक देखने का, वल्कि सही मार्ग पर चलने का भी वल दे।

महिला-शिक्षा-सदन
हटूडी (अजमेर)
२६ जनवरी, १९४८

हरिभाऊ उपाध्याय

निर्देशिका

○

स्वतंत्रता
की
ओर

स्वतंत्रता की ओर

: १ :

मानव-जीवन

१ जीवन क्या है ?

सबसे पहले हम मनुष्य और उसके जीवन को समझने का यत्न करे। जीवन के सम्बन्ध मे मनुष्यो के दृष्टि-विन्दु अलग-अलग पाये जाते है। कोई इस जन्म से इस शरीर की मृत्यु तक के जीवन को ही सारा जीवन मानते है, कोई इसे अपने विशाल जीवन की एक मजिल ही। ये पिछले विचार के लोग कहते है कि हमारे जीवन का आरम्भ तब से हुआ है जबसे सृष्टि मे चेतन पदार्थो के या मनुष्य जीवधारी के दर्शन हुए और अन्त तब होगा जब वह जन्म-मरण के चक्कर से छूट जायगा या उसी परमात्मा मे मिल जायगा, जिसमे से बिछुड कर वह ससार मे आ गया है।

जीवन 'जीव' शब्द से बना है। जीव आरभ से अत तक जिन-जिन अवस्थाओ मे से गुजरता है उन्हे भी जीवन कहते है, जैसे बाल्य-जीवन या धार्मिक जीवन। जीव वह वस्तु है, जो एक शरीर मे रहता है और जिसके कारण शरीर जीवित कहलाता है—शरीर चाहे पशु का हो, मनुष्य का हो, या कीट-पतग का हो।[1] इस पुस्तक मे मनुष्य के जीवन का विचार होगा।

जीव जब किसी शरीर मे आता है तब उसपर इतने प्रभाव काम करते है—(१) माता-पिता के रज-वीर्य और स्वभाव के गुण-दोष। (२) कुटुम्ब, पाठशाला और मित्रो के सस्कार। (३) उपार्जित विद्या और स्वानुभव। कितने ही लोग यह भी मानते है कि पिछले जन्मो के सस्कार

---

१ देखिये, परिशिष्ट (१) जीव क्या है ?

लेकर जीव नवीन जन्म ग्रहण करता है। जबसे जीव गर्भ मे आता है, तबसे वह नए सस्कार ग्रहण करने लगता है। इन सस्कारो पर बहुत ध्यान रखने की आवश्यकता है। इमी सावधानी पर जीव का भविष्य अवलम्बित है। अज्ञान के कारण जीव अच्छे सस्कारो को लेने से रह जाता है और कितने ही बुरे सस्कारो मे लिप्त हो जाता है। कुटुम्ब, समाज और राज्य के सब नियम इसी उद्देश्य से बनाये जाते है कि मनुष्य अच्छे सस्कार को ग्रहण करता रहे और बुरे सस्कारो से बचता रहे। मनुष्य का ही नही, जीव-मात्र का जीवन इसी बुराई और अच्छाई के सघर्ष का अखाडा है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि मनुष्य शरीर, पशु-पक्षियो के शरीर से अधिक उन्नत और विकसित है—इस कारण जीव उसके द्वारा अपने को अधिक पूर्ण रूप मे व्यक्त कर सकता है। यह भी एक प्रश्न है कि मनुष्य-शरीर से अधिक कोई और पूर्ण शरीर है या नही और हो सकता है या नही ? कितने ही लोग मानते है कि एक प्रेत शरीर होता है ओर उसमे जीव अधिक स्वतन्त्रता के साथ रहता है। इसे पितृयोनि कहते है। किन्तु जैसा कि पहले कहा है, इस पुस्तक का सम्बन्ध सिर्फ मनुष्य-जीवन से ही है। इसलिए हमे यह जानना जरूरी है कि मनुष्य-जीवन व उसका उद्देश्य क्या है ? जीव यद्यपि सब शरीरो मे एक है तथापि शरीर-भेद से उसके गुण ओर विकास मे अन्तर है। अन्य शरीरो की अपेक्षा मनुष्य-शरीर मे बुद्धि का विकास बहुत अधिक पाया जाता है जिसके कारण वह अच्छाई ओर बुराई, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की छान-बीन बहुत आसानी से कर सकता है और यही कारण है कि मनुष्य ने आज भीमकाय, विषैले और महान् हिंस्र पशुओ को अपने अधीन कर रक्खा है, एव कई प्राकृतिक शक्तियो पर भी अपना अधिकार कर लिया है। इसलिए यह जरूरी है कि मनुष्य अपने बल और पौरुष के वास्तविक स्वरूप को समझे, अपनी पराधीनता से स्वाधीन बनने की राह खोजे और जाने। इन सब बातो को जान लेना जीवन का मर्म समझ लेना है। उनके अनुसार जीवन को बनाना जीवन की सफलता है। सक्षेप में, जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीव के पुरुषार्थ को जीवन कहते है। जीवन की

पूर्णता ही जीवन की मफलता है।[1] विकाम की दृष्टि से जिमे हम पूर्णता कहते है, सामाजिक भापा में वही स्वतत्रता कहलाती है।

अत्र हमे यह देखना है कि यह पुरुपार्थ क्या वस्तु है—अथवा या कहे कि जीवन की सफलता या माधना किसे कहते है।

२ : जीवन का उद्देश्य

जीव कहासे जन्मता है और कहा जाता है? रास्ते मे वह क्या देखता है, क्या पाता है वा क्या छोडता, क्या करता है—इन मवको जानना जीवन के रहस्य को समझना है। किन्तु इनको वहुत गहराई मे पेठना तर्क-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र के सूक्ष्म विवेचन मे प्रवेश करना है। उसमे भरसक वचते हुए फिलहाल हमारे लिए इतना ही जान लेना काफी है कि विचारको और अनुभवियो ने इस सम्बन्ध मे क्या कहा है और क्या वताया है। उनका कहना है कि इस ससार मे अनगिनत, भिन्न-भिन्न, परस्पर-विरोधी और विचित्र चीजे हैं। किन्तु उन सवके अन्दर हम एक ऐसी चीज को पाते है, जो सवमे सर्वदा समायी रहती है। उसका नाम उन्होने आत्मा रक्खा है। यह आत्मा इस भिन्नता और विरोध के अन्दर एकता रखता है। इस दिखती हुई अनेकता मे वास्तविक एकता का अनुभव आत्मा के ही कारण होता है। साप इतना जहरीला जीव है, फिर भी उसके मारे जाने पर हमारे मन मे क्यो दुख होता है? शत्रु के भी दुख पर हमारे मन मे क्यो सहानुभूति पैदा होती है? इसका यही कारण है कि हमारे और उसके अन्दर एक ही तत्व भरा हुआ है, जो सुख-दुख, हर्प-शोक आदि भावो को, परस्पर विपरीत शरीरो मे रहते हुए भी, एक-सा अनुभव करता है। उसी तत्व का नाम आत्मा है। जव यह तत्व किमी एक शरीर के अन्दर आया हुआ होता है, तव उसे जीवात्मा कहते है। जव जीवात्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि मै वास्तव मे महान् आत्मा हूँ, किन्तु कारण-वश इस शरीर मे आ फँसा हूँ—इसमे वध गया हूँ और जव वह इसके

[1] देखिये, परिशिष्ट (२) 'मानव-जीवन की पूर्णता'।

वन्धन से छूटकर या इससे ऊपर उठकर अपने महान् आत्मत्व को अनुभव करता है, उसमे मिल जाता है, तव वह परमात्मा हो जाता है, या यो कहिए कि मुक्त हो जाता है, सब तरह से स्वतत्र हो जाता है। इसका सार यह निकला कि परतत्रता मे फसा हुआ जीव स्वतत्रता चाहता है। गर्भ में आते ही स्वतत्र होने का वह प्रयत्न करता है। स्वतत्रता उसके जीवन का प्रयत्न ही नही, ध्येय ही नही, वल्कि स्वभाव-धर्म है, क्योकि जीव अपनी मूल दशा में स्वतत्र है। उसी दशा मे वह आत्मा है। स्वतत्र जीव का नाम परमात्मा है और परतत्र आत्मा का नाम जीव है। इस कारण स्वतत्रता जीव की प्राकृतिक या वास्तविक दशा है—परतत्रता अस्वाभाविक और अवास्तविक। जीवन का लक्ष्य, अन्तिम गन्तव्य स्थान, या प्राप्तव्य स्थिति हुई पूर्ण स्वतत्रता। जीव स्वतत्रता के धाम से चला, परतत्रता में फँसा और स्वतत्रता की ओर जा रहा है। वही पहुँचने पर उसे अन्तिम शान्ति मिलेगी, पूरा सुख मिलेगा। इस स्वतत्रता का, इस सुख का, इस आनन्द का पाना ही जीवन की सफलता या सार्थकता है।

जव जीव प्रकृति के लगाये शरीर तक के वन्धन को, परतत्रता को, सहन नही कर सकता, तव मनुष्य की उपजाई पराधीनता उसे कैसे वरदाश्त हो सकती है? यदि यह असहिष्णुता सवमें एक-सी नही पाई जाती है तो उसका कारण केवल यह है कि अनेक कुसस्कारो के कारण कइयो का स्वाधीनता-भाव मन्द और सुप्त हो जाता है। उनको हटाकर अच्छे सस्कार जाग्रत करते ही आन्तरिक स्वतत्रता की ज्योति उसी प्रकार जगमगाने लगती है जिस प्रकार ऊपर की राख हट जाने पर अन्दर की आग जल उठती है। तो जीवन की सफलता केवल इसी वात मे नही है कि हमारी वुद्धि यह समझ ले कि हमें स्वतन्त्र या मुक्त होना है, परमात्मा वनना है, वल्कि हमारा सारा वल और पुरुषार्थ यह अविरत उद्योग करे कि हमें वह स्थिति प्राप्त हो। वुद्धि के द्वारा इस मर्म को समझने वालो की सख्या कम नही है, किन्तु स्वतत्रता का परम आनन्द और ऐश्वर्य वही पाते हैं जो उसके लिए अपने जीवन मे श्रेष्ठ पुरुषार्थ करते हैं।

२ : जीवन की मूल-शक्ति

पुरुषार्थ की प्रेरक शक्ति हमारी भावना है। जब मन मे कोई भाव उदय होता है तो उसे पूरा करने के लिए हम पुरुषार्थ करते है। भावना व पुरुषार्थ के बीच मे हमें बुद्धि से काम पडता है। हम देखते है कि मनुष्य न अकेला भावना का पिण्ड है, न कोरी बुद्धि का पुतला। वह भावना और बुद्धि, हृदय और मस्तिष्क दोनो के उचित सयोग से बना है। फिर भी मनुष्य-जीवन मे भावना की प्रधानता देखी जाती है। मनुष्य के मन मे पहले कोई भावना उत्पन्न होती है और फिर बुद्धि निर्णय करती है कि कौनसी भावना अच्छी है और कौनसी बुरी। अर्थात् मूल वस्तु भावना है, बुद्धि तो केवल उसकी मार्ग-दर्शिका है।

पर हम देखते क्या है कि हमारा जीवन बुद्धि की भूल-भुलैया मे भटक रहा है। हृदय की उच्च भावनाओ की अपेक्षा बुद्धि की चतुराई का आदर आज के शिक्षित समाजो मे विशेष पाया जाता है। इसका फल यह हो रहा है कि समाज मे सच्चाई की कमी और पाखण्ड की वृद्धि हो रही है। स्वाभाविक जीवन कम हो रहा है और कृत्रिमता बढ रही है। वास्तविकता की ओर ध्यान कम है, शिष्टाचार और लोकाचार की ओर अधिक।

यह उन्नति का नही, अवनति का लक्षण है। इससे प्रेम की नहीं, बल्कि स्वार्थ की बढती हो रही है। परस्पर सहयोग का मूल्य कम होता जाता है और ऐकान्तिक स्वार्थ-साधन की मात्रा बढती जाती है। समाज सगठन के नही, बल्कि विशृङ्खलता के रास्ते जा रहा है। नाम तो लिया जाता है स्वतत्रता का, राष्ट्रीयता का, समानता का, विश्व-बन्धुत्व का, कुटुम्ब-भाव का, पर काम किया जाता है परवशता का, सकुचित स्वार्थो का।

इसका कारण यह है कि हमने जीवन के एक ही अश को समझा है, उसकी पूर्णता को नही देखा है, नहीं तो क्या कारण है जो आज जीवन की कम परवाह की जाती है और उसके साधन—साहित्य, कला, शास्त्र,

विज्ञान, धन, सत्ता आदि स्वय अपने-अपने मन के राजा हो बैठे है? साहित्य-सेवी क्यो गन्दा और कुपथ की ओर ले जाने वाला व्यामोहकारी साहित्य हमें इतनी व्याकुलता के साथ दे रहे है? कला क्यो हमारी विलासिता को जाग्रत करने और हमे विषय-लोलुप बनाने की चेष्टा कर रही है? शास्त्र क्यो हमे कृत्रिम बधनो मे बाधकर मूढ बनाये रखने, अपना अन्धानुगामी बनाने, अपने अक्षरो का गुलाम बनाने पर ज़ोर दे रहा है? विज्ञान क्यो प्राणनाशक गैसो, शस्त्रास्त्रो, अणुबमो, जीवन को जर्जर बनाने वाले और गरीबो की जीविका-हरण करनेवाले भीमकाय यत्रो का आविष्कार कर रहा है? धन क्यो थैली खोलकर हमें मोहित करता है, हम पर अपना रोब जमाता है, और हमसे कहलवाता है, 'अर्थस्य पुरुषो दास ?' सत्ता क्यो हमें दबाती, डराती, नाक रगडवाती, चूसती और लूटती है? वास्तव मे देखा जाय तो साहित्य और कला हमारे जीवन को उत्साहित और उल्लसित करने एव शोभनीय बनाने के लिए है, शास्त्र कर्त्तव्य-मार्ग दिखाने के लिए है, विज्ञान सुख-साधन बढाने के लिए है, धन पोषण करने के लिए है और सत्ता सुव्यवस्था और रक्षण करने के लिए है। फिर ये केवल व्यक्तिगत लाभ या स्वार्थ के लिए नही, बल्कि सामाजिक लाभ के लिए है । किन्तु आज तो जीवन बेचारा ऐसा लाचार और पगु हो गया है कि उसके इन अनुचरो की ज्यादती और जबरदस्ती पर मन मे बडा क्षोभ होता है। सिन्धिया, हुल्कर, गायकवाड आदि पेशवा के सरदार और सेनापति थे, पर घात पाकर उन्होने पेशवा को उठाकर ताक पर रख दिया ओर अपने-अपने मुल्को मे राजा बन बैठे। इसी तरह जीवन के ये पार्षद और प्रहरी आज उसे निगल कर, उसकी गद्दी पर आप मालिक बन बैठे है और अपने-अपने राज्य-विस्तार मे ऐसे जुटे हुए है कि जीवन के निहोरे पर किसी को ध्यान देने की फुरसत नही। गाधी जैसा जीवन का सखा उसकी ओर से वकालत करने खडा होता है तो ये सब गुट बनाकर उसकी ओर लाल-पीली आखे निकालने लगते है और तेज होकर उस पर टूट पडना चाहते है। यही समय की बलिहारी है। जीवनदायिनी गीता सुनते हुए हमें दिन मे भी नीद आने

लगती है, पर विनाश को निकट लाने वाले नाटक-सिनेमा मे रात-रात भर जागते हुए हम थकते नही, शास्त्र के उद्देश्य और मर्म को समझने मे हम पीछे हटते है, और लकीर के फकीर बने रहने मे धर्म समझते है, विज्ञान के पारमार्थिक उपयोग की बात पर दुनिया हँस देती है और अणुबम जैसे विनाशकारी साधनो के आविष्कारो मे बडा रस ले रही है, और शुद्ध व्यवसाय करने, गरीबो के हित के लिए व्यवसाय करने की सूचना 'आदर्श' और 'हवाई किलो' की श्रेणी मे रख दी जाती है और चूसने तथा लूटने की प्रणाली नीति-युक्त व्यवसाय, राष्ट्रीय उद्योग और धनवृद्धि आदि बडे नामो से पुकारी जाती है, सत्ता को सेवामय बनाने की प्रेरणा अराजकता और राजद्रोह माना जाता है और करोडो को नि शस्त्र, निर्बल और गुलाम बनाना परोपकार, ईश्वरी आज्ञा का पालन आदि शुभ-कार्य माना जाता है! सचमुच वे लोग कैसे है, जो इस उलटी गगा को बहती देखकर भी चौंकते नही, जिन्हे इस दु स्थिति पर विचार करने की प्रेरणा या बुद्धि नही होती?

इसका मूल कारण एक ही है—जीवन की पूर्णता को, मूल को, यथार्थता को न समझना। जीवन को केवल बुद्धिमय मान लेने की भ्रमपूर्ण धारणा का ही यह परिणाम है। यही कारण है जो वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली मे केवल बुद्धि को बढाने की ओर तो बहुत ध्यान दिया जाता है, पर उच्च व सद्-भावनाओ को जाग्रत करने और उनका लालन-पालन करने की ओर प्राय नही दिया जाता। भावना जीवन की स्वामिनी है और बुद्धि उसकी सखी-मत्रिणी है। बुद्धि का उपयोग भावना की पुष्टि और शुद्धि करना है, न कि उसको आहत या पद-भ्रष्ट करना। भावना यदि भावना के स्थान पर और बुद्धि बुद्धि के स्थान पर रहे तो फिर जीवन का विकास एकागी नही हो सकता, जैसा कि आज हो रहा है।

४ : स्वतन्त्रता का पूर्ण स्वरूप

जीव जबसे गर्भ मे आता है तबसे लेकर मृत्यु तक शरीर के बन्धन मे रहता है—शरीर के कारण उत्पन्न निर्बलताओ और मर्यादाओ से बधा

रहता है—इसलिए वह परतत्र कहलाता है। यह तो एक तरह से उसकी आजीवन परतत्रता हुई। किन्तु इस जीवन की परतत्रता के अन्दर भी फिर उसे कई परतन्त्रताओ मे रहना पडता है। दैहिक परतन्त्रता एक तरह से प्रकृति-निर्मित है, किन्तु शरीर धारण करने के वाद, या उसके कारण, कुटुव, समाज, या राज्य द्वारा लगाई गई परतत्रता मनुष्य-निर्मित है। यो तो नियम-मात्र मनुष्य की शक्ति को रोकते है। परतु हम उन नियमो के पालन को परतत्रता नही कह सकते जो हमारी स्वीकृति से, हमारे हित के लिए, वनाये गये हो। जो नियम हमारी इच्छा के विरुद्ध, हमारे हिताहित का विना खयाल किये, हम पर लाद दिये गए हो, वे चाहे किसी कुटुम्व के हो, समाज के हो, वा राज्य के हो, वन्धन है, परतत्रता है। इन्हे ऐसा कोई मनुष्य नही मान सकता जिसने मनुष्यता के रहस्य और गौरव को समझ लिया है। अतएव मनुष्य को न केवल दैहिक परतन्त्रता से लडना है, वल्कि मानुपी परतत्रताओ से भी लडना है। यही उसका पुरुपार्थ है। वल्कि यो कहना चाहिए कि वह इन मानुषी परतन्त्रताओ से छुटकारा पाये विना दैहिक परतन्त्रता से सहसा नही छूट सकता। मानुपी परतत्रताओ से लडने से न केवल वह अपने को दैहिक पर-तत्रता से लडने के अधिक योग्य वनाता है, वल्कि दूसरो के लिए भी दैहिक परतन्त्रता से मुक्त होने का रास्ता साफ कर देता है।

महज सुखोपभोग की सुविधा को ही स्वतन्त्रता समझ लेना हमारी भूल है। शरीर का पूर्ण विकास, मन की ऊची उडान, वुद्धि का अवाध खेल, अन्त करण की असीम निर्मलता और उज्ज्वलता, आत्मा की चमक तथा अखड वैभव, इन सबको मिलाने पर पूर्ण स्वतन्त्रता की वास्तविक कल्पना हो सकती है। एक शासन-प्रणाली से दूसरी उदार या अच्छी शासन-प्रणाली में चला जाना, एक व्यक्ति की अधीनता से दूसरे अधिक भले और वडे आदमी के अकुश मे चला जाना—महज इतना ही स्वतन्त्रता का पूरा अर्थ और स्वरूप नही है। शरीर, मन, वुद्धि और आत्मा के पूर्ण विकास का ही नाम पूर्ण स्वतन्त्रता है। जो व्यक्ति, प्रथा या प्रणाली मनुष्य को ऐशोआराम के तो थोडे मे अधिकार दे देती है, या उसकी न्यूनाधिक सुविधा तो कर देती है, किन्तु

उसके पूर्ण, सर्वांगीण विकास का ख़याल नही करती, या उसकी बाधक और अवरोधक है, वह पूर्ण स्वतत्रता का दावा हरगिज नही कर सकती, हामी कदापि नही कहला सकती। मन, वचन और कर्म की पूर्ण स्वतत्रता के आगे, शारीरिक सुखभोग की थोडी सुविधा, मन पर उलटे-सीधे कुछ सस्कार डालने का थोडा-सा सुप्रबन्ध—बस इसीका नाम स्वतत्रता कदापि नही है। यह बात हमें अच्छी तरह समझ रखनी चाहिए। ये तो उसकी थोडी-सी किरणे मात्र है। हमे सब कलाओ सहित पूनो के चाद को देखना व समझना चाहिए।

देखा जाता है कि बहुतेरे लोग दैहिक परतत्रता से, पिण्ड छुडाने के लिए उतने उत्सुक नही है जितनी कि मानुषी परतत्रता से या यो कहें कि राजनैतिक परतत्रता से। किंतु राजनैतिक मुक्ति तो दैहिक मुक्ति की पहली सीढी है। उस पर पाव रक्खे बिना मनुष्य आगे बढ नही सकता। लेकिन राजनैतिक मुक्ति को ही बहुत बडी चीज न समझते रहना चाहिए। राजनैतिक परतत्रता हमारे सामाजिक विकास की बहुत बडी बाधक है—इसलिए उसे सब से पहले दूर करना हमारा परम कर्त्तव्य है, किन्तु हमारी गति यही तक रुक न जानी चाहिए—हमारी शक्ति यही पर कुण्ठित हो न जानी चाहिए। हमारी सारी यात्रा की यह तो एक मजिल है। हमे अपना असली धाम न भूल जाना चाहिए। हम अपना आदर्श नीचा न कर ले। लक्ष्य न चूक जाय। इसलिए उसकी ओर बार-बार ध्यान दिलाना और अपने जीवन को उस ध्रुव से पृथक् दिशा मे न बहने देने के लिए चेतावनी देना आवश्यक है। कितने ही लोगो के जीवन को जो हम असफल और दु खपूर्ण देखते है उसका एक महान् कारण इस बात का अज्ञान या इसके विषय में असावधानी ही है।

यह तो हुई मनुष्य की अपनी स्वतन्त्रता की बात। पर इसके साथ ही दूसरो को परतत्रता से मुक्ति दिलाने की बात भी लगी हुई है। अपने साथ-ही-साथ अपने पडौसियो का उद्धार उसे करना होगा। किन्तु इसका विवेचन आगे करेगे। यहा तो इतना ही लिखना काफी है कि जब हम इस भावना का विकास अपने अन्दर करेगे तो अनुभव करेगे कि हम स्वतत्रता के क्षेत्र में ऊचे उठ रहे है। तब हमे अकेले मनुष्य की स्वतत्रता पर ही सन्तोप न हो सकेगा।

हमे पशु-पक्षियो की पराधीनता भी खलने लगेगी। उन्हे भी हम उसी दृष्टि से देखने लगेगे जिस दृष्टि से अभी मनुष्य को देखते है। उनके भिन्न-भिन्न शरीरो के अन्दर हम उसी एक आत्मा को देखने लगेगे और उनके उद्धार के लिए भी उत्सुक होगे। और आगे चलकर जीव-मात्र के वन्धन हमे असह्य होने लगेगे। जैसे-जैसे हमारी वृत्तिया इस प्रकार शुद्ध और व्यापक होती जायगी वैसे-वैसे वह स्वतन्त्रता-प्राप्ति के मार्ग मे हमारी प्रगति की सूचक होगी। अन्त को हम शारीरिक भेदो के पार जाकर अपने असली रूप मे मिल जायगे---यही हमारी पूर्ण स्वतन्त्रता होगी।

५ : मनुष्य क्या है ?

मनुष्य-जीवन का विचार करते समय सवसे पहले जानने योग्य वस्तु है मनुष्य स्वय ही। जब हम मनुष्य को जानने का यत्न करते है तो उसमे सवसे वडे दो भेद दिखाई देते है---एक उसका शरीर और दूसरा उसमे रहनेवाला जीवात्मा। इस जीवात्मा या चैतन्य के ही कारण शरीर जीवित रहता और चलता-फिरता तथा विविध कार्य करता है। इसीलिए शरीर जड और जीवात्मा चेतन कहा गया है।

शरीर भिन्न-भिन्न अवयवो से बना हुआ है, जिन्हे इन्द्रिया कहते है। इनके भी दो भेद है---भीतरी इन्द्रिया और वाहरी इन्द्रिया। आख, कान, नाक, मुख, जीभ, त्वचा, हाथ, पाव, गुदा, मूत्रेन्द्रिय, ये बाहरी और फेफडा, यकृत, प्लीहा, हृदय, मूत्रपिड, जठर, अतडिया, नसे, मस्तिष्क आदि भीतरी अवयव है। बाहरी इन्द्रियो मे आख, कान, नाक, मुह, जीभ ये पाच ज्ञाने-न्द्रिया कही जाती है, क्योकि इनके द्वारा मनुष्य को बाहरी वस्तुओ का ज्ञान होता है---ये वाहर से ज्ञान के सस्कार भीतर भेजती है और त्वचा, हाथ, पाव, गुदा तथा मूत्रेन्द्रिय ये कर्मेन्द्रिय कहलाती है, क्योकि ये अन्दर से आदेश पाकर तदनुसार कर्म करती है।

इनके अलावा शरीर के अन्दर एक और इन्द्रिय है जो वाहर से आये ज्ञान के सस्कारो को ग्रहण करती है और कर्मेन्द्रियो के द्वारा उनकी समुचित

व्यवस्था करती है। इसे मन, चित्त या बुद्धि कहते है। यह इन्द्रिय जब केवल सकल्प-विकल्प करती रहती है अर्थात् यह करू या न करू, इसी उलझन मे पडी रहती है तबतक इसका नाम है मन। जब किसी कार्य के करने या न करने का निर्णय करने लगती है तब उसका नाम है बुद्धि और जब वह कार्य मे प्रेरित करती है, गति देती है तब उसका नाम है चित्त।

परन्तु इतने अवयवो से ही मनुष्य पूरा नही हो जाता है। यह उस मनुष्य के रहने का घर-मात्र हुआ। असली मनुष्य—जीवात्मा—इससे भिन्न है। वह सारे शरीर और मन-बुद्धि आदि मे समाया रहता है। वह न हो तो इस सारे शरीर का, इस कारखाने का, कुछ मूल्य नही है। उसके निकल जाने पर इस शरीर को मुर्दा कहकर हम गाड या जला देते है।

अब कोई यह प्रश्न करे कि तुम शरीर को मनुष्य कहते हो या जीवात्मा को, तो उत्तर यही देना पडेगा कि जीवात्मा को। मनुष्य ही नही प्राणि-मात्र मे असली, साररूप, चीज यही है। ऊपर का कलेवर यह शरीर, उसकी रक्षा, उन्नति और विकास के लिए है। यह उसका साधन है। इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अब हम यह जान गये कि कर्मेन्द्रिया, ज्ञानेन्द्रिया, अन्तरीन्द्रिया मन-चित्त-बुद्धि और सबसे बढकर जीवात्मा को मिलाकर पूरा मनुष्य बना है। मनुष्य किसलिए पैदा हुआ है, या मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य क्या है, यह जानने का साधन मनुष्य की इच्छा के सिवा, हमारे पास और कुछ नही है। मनुष्य-मात्र मे एक बलवती इच्छा पाई जाती है कि सुख मिले—अटल, अखण्ड और अनन्त सुख मिले। सुख पाने की अभिलाषा ही उससे आजीवन भिन्न-भिन्न पुरुषार्थ करवाती है। यह निश्चित है कि सुख स्वतत्रता मे है, पराधीनता मे, बन्धन मे सर्वदा दु ख ही दु ख है। इसलिए बन्धनो से छुटकारा पाना सुख का साधन हुआ, यही उसके जीवन की स्वतत्रता और वही सफलता हुई[1]।

[1] देखिये परिशिष्ट (३) 'सुख का स्वरूप'

६ : स्त्री-पुरुष-भेद

सृष्टि-रचना के अन्तर्गत प्रत्येक देहधारी मे हमें दो बडे भेद दिखाई पडते हैं (१) स्त्री और (२) पुरुष। ये भेद इनकी शरीर-रचना के कारण हुए है। स्त्री और पुरुष के दो अगो में भेद है—जननेन्द्रिय और स्तन। स्त्री के स्तन अवस्था की वृद्धि के साथ बढते जाते है और माता बनने पर उसमें दूध आने लगता है। स्त्री के एक तीसरा विशेष अग गर्भाशय भी होता है। इन अवयव-भेदो से स्त्री और पुरुष का जीवन कई बातो में एक-दूसरे से भिन्न हो जाता है। कुटुम्ब मे पति-पत्नी के जीवन मे आरम्भ करके फिर माता-पिता और अन्त को बडे-बूढो के रूप में परिणत होता हुआ उनका जीवन समाप्त होता है। यद्यपि यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि समाज और जीवन में किसका महत्व अधिक है, परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि जीवन में दोनो की अनिवार्यता है—दोनो एक-दूसरे के पूरक है। यद्यपि मनुष्य-समाज में स्त्री विशेष आदर और स्नेह की दृष्टि से देखी जाती है तथापि मानवी-जीवन का सचालक, नियामक या नेता तो पुरुष ही हो रहा है। स्त्री में स्नेह की और पुरुष में तेज की प्रधानता पाई जाती है। शरीर के भेदो से दृष्टि हटा ले तो दोनो में एक ही मूल वस्तु—आत्मा दिखाई देगी, किन्तु स्थूल जगत मे, दोनो के गुण और बल में, अन्तर पड गया है। इसी से उनके कर्त्तव्य भी अपने-आप भिन्न हो गए है। पत्नी और फिर माता होने के कारण स्त्री के जीवन मे स्नेह, वात्सल्य और कौटुम्बिकता की अधिकता है और उसके जीवन में 'गृह' को प्रधान स्थान है। पति और पोषक होने के कारण पुरुष के जीवन मे तेज, पुरुषार्थ की प्रधानता है और उसके जीवन मे 'व्यवसाय' को प्रधान स्थान मिला है। यही कारण है कि जो पत्नी पति की सहधर्मचारिणी मानी गई है। पति कर्त्तव्य को चुनता है और पत्नी उसकी पूर्ति में उसका साथ देती है। दोनो एक-प्राण, दो-तन-से रहते है। स्त्री-पुरुष की समानता का यही अर्थ है। दोनो को अपनी चरम उन्नति की सुविधा होना आवश्यक है, दोनो का एक-दूसरे की स्वतत्रता में

सहकारी होना जरूरी है। दोनो एक असली चीज से विछुडे हुए है। दोनो वही जाने के लिए, उमी को पाने के लिए, छटपटाते हैं। दोनो का परस्पर सहयोग बहुत आवश्यक है। स्त्री-पुरुप अलग रह कर भी अपने परमधाम को पहुच सकते हैं। परन्तु उम दशा मे उनका मसार-बधनो मे परे रहना ही उचित हैं। ससार-बधन मे पडने पर सामाजिक कर्त्तव्यो से वे बच नही मकते और इसलिए दोनो का सहयोग आवश्यक हो जाता है।

पुरुप मे तेज की और स्त्री मे स्नेह की प्रधानता होती है, यह ऊपर कहा जा चुका है। तेज और स्नेह दोनो अतुल शक्तियाँ है। एक मे पराक्रम का और दूसरे मे बलिदान का भाव है। पराक्रम कुछ अश मे अपने को दूसरो पर लादता है। स्नेह प्राय सर्वांश मे दूमरे को अपना कर आत्मसात् कर लेता है। इसी कारण बडे-बडे पराक्रमी स्नेह से जीत लिए जाते है। इमीलिए ससार में स्नेह की महिमा पराक्रम मे बडी है। इसी कारण उपनिषद् मे पहले 'मातृदेवो भव' कह कर फिर 'पितृदेवो भव' कहा गया है। मो, पराक्रम (पुरुष) यदि अकेला रहेगा तो उमे अपने को प्रखरता से बचाने के लिए अपने अन्दर स्नेह के सेवन की आवश्यकता होगी और यदि स्नेह अकेला रहा तो उसके निर्बलता मे परिणत हो जाने की आशका है। इसलिए तेज का ओज मिलाने की जरूरत होगी। यदि स्त्री-पुरुष अकेले अपनी कमियो को इस प्रकार यत्न कर के पूरा करे तो हर्ज नही, अन्यथा उनके सहयोग से ही दोनो तत्व उचित मर्यादा मे रह सकते है और उनसे स्वय उनको तथा समाज को लाभ पहुच सकता है।

यहा हमे सहयोग का अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। दैहिक विकारो को शमन करने के लिए स्त्री-पुरुषो का जो शारीरिक सहयोग होता है और उसके द्वारा मन्तति के रूप मे समाज को जो लाभ होता है, केवल इतना ही अर्थ यहा सहयोग का अभीप्ट नही है। स्त्री-पुरुप शक्ति के दो बडे भेद इम सहयोग के लिए नही हुए है। वास्तव मे ये दो भेद सृष्टि के सहयोग-तत्व को सिद्ध करते है और बताते है कि मृष्टि महयोग चाहती है, विरोध नही। महयोग जीवन का तत्व है, विरोध जीवन का दोप है।

इसलिए वास्तव मे दोष के ही विरोध को जीवन मे स्थान है। स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के दोषो का विरोध और गुणो का सम्मिलन करते हुए पूर्ण दशा को पहुचे—यही सृष्टि-रचयिता को अभीष्ट है। अतएव सहयोग का अर्थ यहा है जीवन-कार्यों मे सहयोग। केवल पति-पत्नी के ही नाते नही, वहन-भाई के नाते, माता-पुत्र के नाते, मित्र-मित्र के नाते, सब तरह स्त्री-पुरुष का सहयोग वाछनीय और उपयोगी है।

कुछ ज्ञानियो ओर सन्तो ने स्त्रियो की बुरी तरह निन्दा की है। किन्तु वह स्त्री-जाति, स्त्री-तत्व, स्त्री-शक्ति की निन्दा नही है, वास्तव मे उसके दोषो, दुर्विकारो की निन्दा है। पुरुष के दोषो, दुर्गुणो की भी इतनी ही तीव्र निन्दा की जा सकती है, बल्कि पुरुष आक्रमिक होने के कारण अधिक भर्त्सना का पात्र है। सच पूछिए तो दूसरे की निन्दा करना ही अनुचित है। हमारी असफलता, दुख या कमजोरी का कारण हमें अपने ही अन्दर खोजना चाहिए। वह वही मिलेगा भी। किन्तु हम जल्दी मे दूसरे के प्रति अनुदार, कठोर और अन्त मे अन्यायी वन जाते है। इसमे न तो सचाई है, न न्याय हे, न वहादुरी है।

७ : स्त्री का महत्त्व

मानव-जीवन मे स्त्री का महत्व उसकी शरीर रचना से ही स्पष्ट है। सन्तति समाज को उसकी देन है। यद्यपि सन्तति मे पुरुष का भी अग या अश है, किन्तु उसकी धारणा स्त्री के ही द्वारा होती है। सन्तति देकर, उसका लालन-पालन और गुण-सवर्धन करके स्त्री समाज की सेवा करती है। इसके अतिरिक्त वह स्वय भी पुत्री, वहन, पत्नी, माता, वृद्धा के रूप मे समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे अनेक प्रकार की सेवाये करती है, मनुष्य-जीवन को पूर्णाङ्ग बनाती है। मृदुल गुणो की अधि-ष्ठात्री होने के कारण वह समाज मे सरसता और स्वाद की वृद्धि करती है। जीवन-सघर्ष मे शान्ति और सान्त्वना की वह देवी है। विधवा के रूप मे वह त्याग और सयम को स्फूर्ति देती है। पुत्री के रूप मे घर को

जगमगाती, बहन के रूप मे भाई का बल और ढाल बनती, पत्नी के रूप मे पति को अपने जीवन का सार-सर्वस्व लुटाती, माता के रूप मे समाज को अपना श्रेष्ठतम दान देती, वृद्धा के रूप मे समाज पर अपने अनुभव और आशीर्वाद की वृष्टि करती हुई स्त्री समाज के अगणित उपकार करती है। काव्य, नाटक, चित्र, सगीत, नृत्य आदि ललित कलाओ का आधार स्त्री-जाति ही है। इतिहास मे स्त्रियो ने वीरोचित कार्य भी किये है। समय पडने पर स्त्रियो ने पुरुषो मे वीरता और तेज का सचार भी किया है। दर्शन-ग्रन्थो मे वह आदिशक्ति, महामाया भी मानी गई है। अत-एव एक अर्थ मे स्त्री ही समस्त शक्ति की जननी है। पुरुष अपने सारे सत्व को खीचकर स्त्री को प्रदान करता है। किन्तु स्त्री उसे ग्रहण करके अपने सत्व मे उसे मिलाती, अपने मे उसे धारण करती, और फिर उसकी अनुपम कृति जगत् को प्रदान करती है। इसलिए पुरुष केवल देता है। किन्तु स्त्री लेती है, रखती है, मिलाती है और फिर दे देती है। पुरुष तो अपनी थाती स्त्री को देकर अलग हो जाता है, किन्तु स्त्री बडी वफादारी से उसे सचित करके जगत् को देकर ही अलग नही हो जाती, बल्कि उसे जगत् की सेवा के योग्य बनाती है।

प्रकृति ने अपने समस्त गुणो को एकत्र करके उसके दो भाग किये (१) मृदुल और (२) परुष। मृदुल अश का नाम स्त्री और परुष का पुरुष रक्खा। स्वय कष्ट सहकर दूसरो को सुख पहुचाना मृदुल गुणो की विशेषता है। क्षमा, दया, तितिक्षा, उदारता, शान्ति आदि मृदुल गुणो के कुछ नमूने है। ये अपने धारण करने वाले को कष्ट और दूसरे को सुख पहुचाते है। परन्तु धारण करने वाला उस कष्ट को कष्ट इस-लिए अनुभव नही करता कि वह दूसरे के सुख मे अपने को सुखी मानता है। यह स्त्री का आदर्श है। यही स्त्री की दिव्यता है, यही पुरुष पर स्त्री की विजय है। यही जगत् मे स्त्री का वैभव है। यही मानव-जीवन मे स्त्री का गौरव है। स्त्री के अभाव मे जगत् हिंसा, कलह, अशाति और दुःख का नमूना बन गया होता। उसमे हरे-भरे

विटप-वृन्द नही, वल्कि रूखे-सूखे ठूठ नजर आते। शोभा, सुन्दरता, सरसता, सजीवता की जगह भीषणता, वीभत्सता, नृशसता, स्वार्थान्धता ओर रक्त-पिपासा का राज्य दिखाई देता। स्त्री ने उत्पन्न होकर जगत् पर अमृत की वृष्टि की है। उसने मनुष्य को उत्पन्न ही नही किया, जगत् को जिलाया और अमर बनाया है।

८ : पुरुष का कार्य

पुरुष के शरीर मे ओज, तेज, पराक्रम के गुणो की अधिकता है। इसलिए, स्त्री जहा उत्साह और जीवन देती है वहा पुरुष रक्षा करता, आगे वढता, कठिनाइयो को मिटाता, सकटो को चीरता और सफलता पाता है। स्त्री मे रमणीयता और पुरुष मे पराक्रम है। स्त्री लुभाती है और पुरुष भयभीत करता है। स्त्री मे आकर्षण है, पुरुष मे आच है। स्त्री की ओर मनुष्य वरवस दौडा जाता है, पुरुष की ओर सहमता हुआ कदम उठाता है। स्त्री के हृदय मे अपना हृदय मिला देना चाहता है, किन्तु पुरुष को दूर ही से पूजने योग्य समझता है। पुरुष मे सूर्य की प्रखरता है, स्त्री मे शशि की स्निग्धता और सुधामयता। इसलिए पुरुष समाज का रक्षक, पथदर्शक, नेता और भय-त्राता है। स्त्री समाज की सेविका है, पुरुष समाज का सिपाही है। स्त्री खीचती है और जीतती है। पुरुष वढता है और जीतता है। स्त्री स्नेह फैला कर जीतती है, पुरुष धौंस दिखाकर जीतता है। स्त्री हृदय को जीतती है, पुरुष उसे दवाता है। स्त्री हराकर भी हारा हुआ नही समझने देती, पुरुष हराकर फिर कोशिश करता है कि यह जीतने न पावे। इस कारण यद्यपि पुरुष की धौस का प्रभाव समाज पर विशेष रूप से पाया जाता है तथापि समाज के हृदय की डोर तो स्त्री ही हिलाती है। इसलिए पुरुष आदर-पात्र होता है और स्त्री स्नेह-पात्र पुरुष को आदर देकर वदले मे लोग आदर नही पाते, किन्तु स्त्री को स्नेह देकर वदले मे वढता हुआ स्नेह पाते है, क्योकि पुरुष अपने लिए वडा है, स्त्री दूसरो के लिए वडी है। धौस आदर

चाहती है—झुकाना चाहती है, स्नेह दिल मिलाना चाहता है। आदर मे वडप्पन है, स्नेह में समानता है। लोग वडो को चाहते तो है, किन्तु खुश रहते है वरावर वालो से। पुरुष मे दूसरे को अंकित करने का भाव प्रवल है। इसलिए ऐसे ही गुणो का विकास उसमें स्पष्ट रूप से पाया जाता है। ईसलिए स्त्री की सेवाओ को इतिहास नही जानता, उसने मनुष्य के जीवन-विकास मे अपना इतिहास छिपा रक्खा है।

पुरुष प्रधानत इन चार रूपो मे समाज की सेवा करता है—सिपाही, नेता, अध्यापक, गुरू। सिपाही के रूप मे ही समाज के लिए लडता और विजय पाता है। नेता के रूप मे वह समाज को आगे खीचता और उठाता है। अध्यापक के रूप मे वह अच्छे सस्कारो को जगाता और गुरू के रूप मे उसे अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुचाता है। ससार में जहा कही निर्भयता है, तेजस्विता है, दुर्दमनीयता है, प्रखरता है, वह पुरुष-शक्ति की देन है। यदि पुरुष न होता तो हिस्र पशु मनुष्य को चट कर गये होते। यदि पुरुष न होता तो स्त्री, वालक, निर्वल अनाथ हो गये होते। यदि पुरुष न होता तो मृदुल भावो, मृदुल गुणो या यो कहे कि साहित्य, सगीत, कला को आश्रय ही न मिला होता। पुरुष न होता तो राज्य, समाज, सस्थाए न होती, न शास्त्र और विज्ञान का इतना विकास ही सम्भवनीय था। पुरुष न होता तो समाज में सगठन, आन्दोलन, युद्ध विजय, इन शब्दो और वडे-वडे राज्यो तथा धर्म-शास्त्रो का जन्म न हुआ होता। पुरुष मस्तिष्क का राजा है और स्त्री हृदय की देवी है। इसलिए पुरुष यदि न हुआ होता तो ससार दिमागी खूवियो से खाली रह जाता। पुरुष ज्ञान का और स्त्री वल का प्रतीक है। स्त्री न होती तो जिस प्रकार उत्साह और प्रेरणा-हीन निर्जीव समाज हमे मिला होता उसी प्रकार यदि पुरुष न हुआ होता तो अन्ध, पगु, अवुध, असहाय, समाज में हम अपने को पाते। स्त्री विना समाज यदि जीवन-हीन है तो पुरुष विना गति-हीन और दर्शन-हीन। इसलिए पुरुष समाज का सिरमौर और वन्दनीय है। पुरुष सत्य का तेज है और स्त्री अहिंसा की देवी है।

९ : स्त्री-पुरुष-व्यवहार

तो अब यह प्रश्न उठता है कि स्त्री-पुरुष के पारस्परिक व्यवहार की क्या नीति हो ? एक तरफ पुराने विचार के लोग हैं जो स्त्री को धूप और हवा भी नही लगने देना चाहते, दूसरी तरफ वे सुधारक है जो स्त्री-पुरुष के व्यवहार मे कोई भेद, कोई मर्यादा ही नही रखना चाहते । अत हमे यह तय करना है कि इनमे से कौन-सा मार्ग हमारे लिए अच्छा है । या कोई तीसरा ही रास्ता हमे निकालना होगा ।

हम देख चुके है कि स्त्री पुरुष के मूल रूप मे कोई भेद नही है । दोनो मे एक ही आत्मा है अर्थात् आत्मा-रूप से दोनो एक से है । परन्तु शरीर दोनो का जुदा-जुदा है । यह भेद प्रकृति ने ही किया है । इसलिए दोनो के व्यवहार मे कुछ भेद और मर्यादा तो रखनी ही होगी । स्त्री माता बनती है और बच्चे को दूध पिलाती है । नौ मास तक बालक को गर्भ मे रखकर उसकी सेवा करती है । इसलिए उसकी मर्यादा का जरूर ख्याल करना होगा । शरीर-रचना के भेद से स्त्री-पुरुष दोनो के कुछ कर्त्तव्य जुदा-जुदा हो जाते है । इसलिए दोनो के पारस्परिक व्यवहार मे भेद और मर्यादा रहना अनिवार्य है । जीव-रूप मे, या आत्मा-रूप मे, दोनो की आवश्यकताये समान है । इसलिए दोनो के कर्त्तव्य, अधिकार मर्यादा समान है, लेकिन स्त्री व पुरुष रूप मे दोनो के शरीर की आवश्यकता जुदा-जुदा है, इसलिए समाज मे दोनो का दरजा और मर्यादा भी जुदा-जुदा होना उचित है । इस बात को ध्यान मे रखकर समानता का दावा किया जाय तो वह सर्वथा न्याय्य होगा । पुरुष मे भी माता बनने के गुण जबतक नही आ जाते तबतक यह भेद मानना लाजिम है ।

स्त्री-पुरुष की गाडी आगे बढने और ऊचे चढने के लिए है, पीछे हटने या नीचे गिरने के लिए नही, यह सिद्ध करने की जरूरत नही है । इसलिए हमारी समानता की भावना और अधिकार का भी यही फल निकलना चाहिए । यदि स्त्री-पुरुष के समाज भाव से छूट लेने का यह

नतीजा हो कि एक-दूसरे को नीचे खीचने और गिराने के जिम्मेदार बने तो जिस जड को हमने सीचना चाहा था उसी को उखाड कर फेक दिया। स्त्री और पुरुष का परस्पर आकर्षण इतना तेज होता है कि यदि हम इस मूलभूत बात को भूल जाय तो अनर्थ का ठिकाना न रहे।

स्वतन्त्रता और समानता वास्तव मे मनुष्य के दो फेफडो के समान आवश्यक और हितकारी है। परन्तु फेफडे पेट का काम नही कर सकते। वह अपनी मर्यादा मे स्वतन्त्र है और अपनी उपयोगिता के क्षेत्र में समानता रखते है। इसी तरह पुरुष और स्त्री दोनो स्वतन्त्र और समान है, परन्तु हरएक की सीमा प्रकृति ने बाध दी है। उसे न पहचान कर यदि हम व्यवहार करेगे तो हमारी स्वतन्त्रता, उच्छृखलता और समानता अपने विशेषाधिकार के रूप मे बदल जायगी। स्त्री-पुरुष परस्पर प्रेम करने के बजाय एक-दूसरे पर अत्याचार करने लगेगे।

आज हमारे समाज मे पुरुष का आधिपत्य है और स्त्री उससे दबी हुई है। इस स्थिति मे परिवर्तन की आवश्यकता है और समझदार पुरुष तथा जागृत देविया इस विषय मे उद्योगशील भी है। पर यही समय जब कि पुरानी रूढियो के बाध तोडे जा रहे है, स्त्री-पुरुष दोनो के जीवन मे बहुत नाजुक और मूल्यवान है। नाजुक तो इसलिए कि यदि उन्होने मर्यादाओ का ध्यान न रखा तो दोनो न जाने कहा बह जायगे और मूल्यवान इसलिए कि हम एक नवीन, सतेज, स्वतन्त्र, स्वावलम्बी समाज की रचना करने जा रहे है।

स्त्री-पुरुष दोनो का जीवन कर्ममय है, कर्म मे ही उनका जीवन, उन्नति, सुधार है। इसलिए काम-काज के सिलसिले मे ही दोनो एक दूसरे के सम्बन्ध मे आवे, यह अभीष्ट है। निर्दोष आमोद-प्रमोद और मनोरजन के भी अवसर ऐसे होते है जहा स्त्री पुरुष का सहयोग हो सकता है। दम्पति विशेष अवसर पर विशेष प्रकार से मिलते है। रोगियो की सेवा-शुश्रूषा भी ऐसा प्रसग है जहा स्त्री-पुरुष के मिलने की सम्भावना कभी-कभी होती है। इसके अलावा स्त्री पुरुष का मिलना-जुलना, परस्पर

घनिष्ठता बढाना, निरर्थक है। इसलिए नही कि वह पाप है, बल्कि इसलिए कि वह हमे नीचे गिरा सकता है। और बुद्धिमान मनुष्य को गिर कर गिरने की परीक्षा न करनी चाहिए। यह गिरावट प्रेम के भरोसे मोह मे फस जाने से होती है। अत हम यहा प्रेम व मोह के भेद को समझ ले।

प्रेम आत्मिक और मोह शारीरिक है, अर्थात् जबतक आत्मिक गुण के प्रति आकर्षण है तबतक वह प्रेम का आकर्षण है, जब शारीरिक सौंदर्य या शारीरिक भोग की ओर आकर्षण होने लगे तब समझो कि वह मोह का आकर्षण है, और अपने को सम्भालो। एक सुन्दर पुष्प को हम देखते है, उसके दैवी सौंदर्य पर मुग्ध होते है, उसमे ईश्वरी छटा के दर्शन करते है, यह प्रेम हुआ। जब उसे तोड कर सूघने या माला बना कर धारण करने का मन हुआ तब समझो कि हम मोह के शिकार हो रहे है।

दूसरे, प्रेम मे जिसे हम प्रेम करते है, उसके प्रति त्याग, उत्कर्ष, सेवा करने का भाव होता है, मोह मे भोग, सुख, सेवा लेने की चाह रहती है। प्रेमी स्वय कष्ट उठाता है, प्रेम-पात्र को कष्ट पहुचाना नही चाहता उसकी उन्नति चाहता है, अधोगति नही। मोहित व्यक्ति अपने सुख-भोग की अनियन्त्रित इच्छा के आगे प्रेम-पात्र के कष्ट और दु ख की परवा नही करता। उसकी रुचि अच्छे खान--पान, साज--श्रृगार, नित्य नाटक-सिनेमा आमोद-प्रमोद मे होगी---जहा कि एक प्रेमी उसके मानसिक, नैतिक और आत्मिक गुणो तथा शक्तियो के विकास मे, उसकी योजनाओ और कार्यक्रम मे मग्न रहेगा।

हमारे हृदय मे प्रेम है या मोह, इसकी सच्ची जानकारी तो हम अपने मनोभावो पर निगाह रखकर ही कर सकते है---बाह्य विधि-विधान से नही। बाह्य नियम मर्यादाए हमे एक हद तक नियत्रण मे रख सकते है और इस दृष्टि से बहुत उपयोगी भी है, परन्तु वे प्रेम या मोह की परीक्षा के अचूक उपाय नही है। दुनिया अक्सर बहिर्दृष्टि होती है। बाहरी आचार-विचार से ही वह अक्सर मनुष्य की नाप-तौल करती है। हमारे

मानसिक और आन्तरिक भावो को दूर से जानने और समझने का दूसरा साधन भी तो नही है। मार्मिक-दृष्टि व्यक्ति तो विरले ही होते है, जो ऊपरी हाव-भाव या आचार-विचार मे से भीतरी भाव को ताड ले। अत लोक-दृष्टि से भी बाह्य मर्यादाओ का बडा महत्व है। फिर भी मुख्य और मूल्यवान वस्तु तो हमारे हृदय का असली भाव ही है। हम आप ही अपने परीक्षक, निरीक्षक, पहरेदार और पथ-प्रदर्शक बनेगे, तभी सुरक्षितता मे हम अपने ध्येय को पहुच सकेगे।

प्रेम से मोह, मोह से भोग, भोग से पतन यह अधोमुख जीवन का क्रम है। प्रेम से सेवा, सेवा से आत्म-शुद्धि, आत्म-शुद्धि से आत्मोन्नति यह—ऊर्ध्वगामी जीवन का। प्रेम से हम मोह की तरफ बढ रहे है या सेवा की तरफ—यही हमारे आत्म-परीक्षण की पहली सीढी है।

१० : बालक-जीवन

स्त्री मे ऋतु की प्राप्ति और पुरुषो मे मूछो की रेख का बढना बाल्य-काल की समाप्ति और यौवन के आगमन का चिह्न है। बचपन मनुष्य के जीवन मे सबसे निर्दोष तथा कोमल अवस्था है। उस सरलता, निष्कपटता, सहज-स्नेह का अनुभव मनुष्य फिर पूर्ण ज्ञानी होने पर ही कर सकता है। बचपन की निष्पापता स्वाभाविक और ज्ञानी अथवा पूर्ण मनुष्य की साधुता परिपक्व ज्ञान का फल होती है। इसका अर्थ यह नही कि बचपन मे मनुष्य सचमुच निर्दोष होता है, बल्कि यह कि उस समय उसके सस्कार मन्द या सुप्त होते है और आगे चलकर वयो-धर्मानुसार दुनिया के सम्पर्क मे आने से जाग्रत और विकसित होते है। वास्तव मे बालक भावी मनुष्य है। जैसे कली मे फल छिपा हुआ होता है वैसे ही बालक मे मनुष्य समाया हुआ होता है। बालक ही खिलकर और फलकर मनुष्य होता है। वह अपने प्राप्त और सचित सस्कारो के अनुसार अपने आसपास के वातावरण मे से गुण-दोष ग्रहण करता रहता है और अन्त मे मनुष्य बन जाता है। ज्यो-ज्यो बचपन समाप्त होता

जाता है त्यो-त्यो उसमे एक ऐसी शक्ति पैदा होती जाती है जो उसे भले और बुरे की तमीज सिखाती है और अपने मन के वेगो को रोकने का सामर्थ्य देती है। इसे बुद्धि या सारासार-विचार-शक्ति कहते है। जब यह मनुष्य को किसी काम से रोकती है या किसी मे प्रेरित करती है तब उसे पुरुषार्थ कहते है। इस विवेक और पुरुषार्थ के बल पर ही मनुष्य अपने बुरे सस्कारो को मिटा कर अपनी उन्नति करता है। परन्तु बचपन मे ये शक्तिया बीज-रूप में रहती है, इसलिए किसी रखवाले की जरूरत होती है। दूध पीने तक मुख्यत माता, पाठशाला जाने तक माता-पिता तथा कुटुम्बीजन और फिर अध्यापक बालक के रखवाले होते है। उसके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा, चाल-चलन का भार इन्ही पर होता है। बालक अनुकरणशील होता है। बोलने और अपने मन के सभी भावों को अच्छी तरह प्रकाशित करने का सामर्थ्य तो उसमे बहुत कम होता है, किन्तु समझने और ग्रहण करने की शक्ति काफी होती है। बालक कई बार आखो के उतार-चढाव और चेहरे के हाव-भाव से हमारे मन के भावो को ताड जाता है। वह हमारी समालोचना भी करता है और परीक्षा भी लेता रहता है। वचन-भग से बालक बहुत रुष्ट होता है और बुरा मानता है। 'हठ' तो बालक की प्रसिद्ध ही है। इस कारण उसके अभिभावको की जिम्मेदारी और भी बढ जाती है। वे बालक को जैसा बनाना चाहते हो वैसा ही वायुमण्डल उन्हे अपने घर और कुटुम्ब का बनाना चाहिए। हमारा निजी जीवन जैसा होगा वैसा ही घर का वातावरण होगा। दुर्व्यसनी, झूठे, पाखण्डी, दुष्ट लोगो के घर मे बच्चा अच्छे सस्कार कैसे पा सकेगा? अतएव बच्चे को अच्छा बनाना हो तो अपने को अच्छा बनाना चाहिए।

यदि हमने मनुष्य के जीवन के लक्ष्य को और उसके मर्म को अच्छी तरह समझ लिया है तो हमें बच्चे की शिक्षा-दीक्षा और पालन-पोषण में कठिनाई न होगी। मनुष्य का लक्ष्य एक है—पूर्ण स्वतन्त्रता। उसीकी तरफ हमे बच्चे की प्रगति करना है। उसके कपडे-लत्ते, खान-पान, खेल-

कूद, पढना-लिखना, सोना-बैठना, सब में इस बात को पूरी तरह ध्यान रखना होगा। घर में सादगी, स्वच्छता, सुघडता, पवित्रता की वृद्धि जिस तरह हो वही उपाय हमें करना चाहिए। माता का दूध बच्चे का सर्वोत्तम आहार है। मा का दूध बद होने के बाद उसे सादे और सात्विक किन्तु पौष्टिक आहार की आदत डालनी चाहिए। सफाई और सुघडता का पूरा ध्यान रहे। दात, नाक खूब साफ रहे। कपडे और शरीर की सफाई भी उतनी ही आवश्यक है। सुबह-शाम प्रार्थना करने की आदत डालनी चाहिए। अपनी चीजे सभाल कर और नियत स्थान पर रखना सिखाना चाहिए। ऐतिहासिक, राष्ट्रीय और दैवी पुरुषो के चित्र और वैसे ही खिलौने उन्हे देने चाहिए। कहानियो और अच्छे-अच्छे भजनो तथा गीतो द्वारा उसका चरित्र बनाने का ध्यान रखना चाहिए। कोई गुप्त बात अथवा अश्लील कार्य बच्चे के सामने न करना चाहिए। बच्चो की शिक्षा के सम्बन्ध में विशेषज्ञो द्वारा निर्मित साहित्य माता-पिता को अवश्य पढ लेना चाहिए।

वालक प्रकृति का दिया हुआ खिलौना, घर का दीपक और समाज की आशा होता है। इसलिए उसके प्रति सदा प्रेम का ही बरताव करना चाहिए। मारने-पीटने से उल्टा बालक का बिगाड होता है। बालक के साथ धीरज रखने की जरूरत है। जब हम नतीजा जल्दी निकालना चाहते हैं, या बच्चा हठ पकड लेता है तभी हम धीरज खो बैठते है और उसे मारने-पीटने लगते है। हमें इस प्रकार अपनी कमी की सजा बच्चे को न देना चाहिए। यद्यपि सभी बच्चो में एक ही आत्मा की ज्योति जगमगाती है और उसकी कोशिश बन्धन को तोडकर आजादी की ओर है तथापि हमे बच्चे की स्वाभाविक और आनुवशिक प्रवृत्ति समझने की चेष्टा करनी चाहिए। आत्मिक अश के साथ अनेक सस्कार मिलकर बच्चे का स्वभाव बनता है। उसकी चित्त-प्रवृत्ति जिधर हो उधर ही का मार्ग उसके लिए सुगम कर देना अभिभावको का काम है। इसका यह अर्थ कदापि नही कि हम उसकी बुरी प्रवृत्तियो को बढावे। कोई बालक भावना-प्रधान होता है, कोई बुद्धि-प्रधान, किसी का मन पढने-लिखने मे अधिक लगता है, तो

किसी का खेल-कूद मे । यह जरूरी नही कि वच्चे को हम सदैव अपनी इच्छा के अनुसार चलावे । उसे उसकी स्वाभाविक सत् प्रवृत्ति की ओर वढने दे-- सिर्फ हम उतनी ही रोकथाम करते रहे जितनी उसको कुप्रवृत्ति की ओर से हटाने के लिए आवश्यक है । वच्चे के लिए हर आवश्यक सामग्री के चुनाव मे हम पूरी सावधानी से काम ले । अनियम और स्वेच्छाचार से उसें वचाने का उद्योग करे । ऐसे खेलो की आदत डाले जिससे उसका शरीर गठीला हो और मन पर अच्छे सस्कार पडे । देशभक्ति, मानव-सेवा, नीति और सदाचार-सम्वन्धी श्लोक, भजन, वोध-वचन उसे कठस्थ कराना चाहिए । अपने कुल-समाज ओर देश या राष्ट्र की परम्परा तथा सस्कृति का ज्ञान उसे वचपन से ही प्रमगानुसार कराते रहना चाहिए । जीवन-चरित्रो का असर वालक के हृदय पर वहुत होता है । इसलिए देश विदेशो के उत्तम और वीर पुरुषो के चरित्र उसे अवश्य सुनाने चाहिए । भूतप्रेत आदि की डरावनी वाते कह कर वच्चे के हृदय को निर्वल न वनाना चाहिए । वच्चा यदि डर से कोई काम करता हो तो इसमे वच्चे की किसी प्रकार उन्नति नही है । दव्वू वालक घर, कुटुम्व, समाज सवके लिए शर्म है । अभिभावको की सदा यह इच्छा रहनी चाहिए कि हमारा वालक हमसे वढकर निकले । वीर और सेवा-परायण वालको के चरित्र भी सुनाने चाहिए । जवतक लिंग ज्ञान न होने लगे तवतक लडके-लडकियो को साथ रहने और खेलने में हर्ज नही है । हठी वालक से घवराना न चाहिए । वोदे वालक की अपेक्षा हठी वालक अच्छा होता है । आज्ञाओ और नियमो का पालन वच्चो पर लादना नही चाहिए । किन्तु वह नियमवद्ध और आज्ञापालक हो, इस ओर ध्यान देना चाहिए । हमारे घर का जीवन भी ऐसा होना चाहिए कि वच्चा खुद-व-खुद नम्र और सभ्य वनता जाय । अपनी जरूरत के हर काम को खुद करने की आदत वच्चे को डालनी चाहिए । अपनी अपेक्षा अपने सहवासियो का अधिक ख्याल करने की शिक्षा वालक को सदैव देनी चाहिए ।

वालक मानव-जीवन की ज्योति है, इसलिए जीवन-सघर्ष में पडने

के पहले ही, उसे आवश्यक रूप मे तैयार करना प्रत्येक माता-पिता और अभिभावक का परम धर्म है।

११ : सार्थक जीवन की शर्तें

अव जीवन को सार्थक बनाने वाली शर्तो को जान लेना जरूरी है। पहले तो हम यह अच्छी तरह समझ ले कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य—सर्वोच्च आदर्श—क्या है। इसके बाद हम यह सोचे कि जीवन के विकास-पथ मे आज हम किस मजिल पर है। तभी हम अपना कार्यक्रम बनाने मे सफल हो सकेगे। अपने अन्तिम लक्ष्य के अनुरूप कोई निकटवर्ती जीवन साध्य हमे निश्चित कर लेना चाहिए। वह ऐसा हो जो हमारी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल हो। फिर हमे तत्सम्बन्धी अपनी योग्यता और अपूर्णता का विचार करना चाहिए और फिर अपूर्णता की पूर्ति का उद्योग करना चाहिए। साथ ही हमे अपनी दैनिक जीवन के कार्यक्रम की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

कार्यक्रम भी दो प्रकार का हो सकता है—एक तो व्यक्तिगत, दूसरा सामाजिक। व्यक्तिगत मे सिर्फ इतना ही विचार करना काफी होगा कि हमारे घर की स्थिति कितनी अनुकूल और कितनी प्रतिकूल है। सामाजिक कार्यक्रम की अवस्था मे सामाजिक स्थिति का भी हिसाब लगाना होगा। किसी कार्यक्रम का निश्चय करने के पहले हमे इस बात का विचार करना चाहिए कि इसका असर मुझ पर, सामने वाले पर, मेरे कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र तथा उनकी व्यवस्थाओ पर क्या होगा ? यदि कार्य ऐसा हो कि अकेले मुझे तो लाभ हो, पर शेष सबको हानि, तो उसे त्याज्य समझना चाहिए। छोटे और थोडे लाभ को बडे लाभ के आगे छोडने की प्रवृत्ति रखनी चाहिए। यदि अपना और कुटुम्ब का लाभ हो, किन्तु समाज और देश का अहित होता हो तो उसे छोड देना चाहिए। इसके विपरीत यदि समाज और देश का हित होता हो तो अपनी और कुटुम्ब की हानि को मजूर करके भी उसे करना चाहिए।

हमारी अपूर्णता दो प्रकार की हो सकती है—विचार या बुद्धि सवन्धी और भौतिक सामग्री-सवन्धी। ज्ञान-सम्वन्धी हो तो अपने से अधिक योग्य और अनुभवी व्यक्ति को पथ-दर्शक वनाना चाहिए। भौतिक सामग्री में धन, जन और अन्य उपकरणो का समावेश होता है। धन प्रधानत धनियो से मिल सकता है। सहायक आरम्भ मे अपने कुटुम्व, मित्र-मडल और सह-योगियो मे से मिल सकते है। उच्च चारित्र्य सव जगह हमारी सहायता करेगा। यदि चारित्र्य नही है तो धनियो की खुशामद करनी होगी। खुशामद हमें शुरू मे ही गिरा देगी। जिस अन्तिम लक्ष्य की साधना के लिए हमने कदम वढाया है उससे हमारा मुह मोड देगी। खुशामद के लिए मिथ्या स्तुति अनिवार्य है। वह हमे सत्य से दूर ले जायगी और वल तथा प्रभाव तो सच्चाई मे ही है। अत धन प्राप्त करने के लिए हमे सव से पहले सच्चाई का आश्रय लेना होगा। जन प्राप्त करने के लिए प्रेम, समता, उदारता और क्षमाशीलता जरूरी है। 'मुझे किसी की परवा नही' ऐसी मनोवृत्ति से जन नही जुट सकते। जन जुटाने मे हमे उलटा सौदा न कर लेना चाहिए। सिद्धात, आदर्श और मनोवृत्ति की एकता जितनी ही अधिक होगी उतनी ही सहयोगिता स्थायी और सुखद होगी।

धन-जन आदि सामग्री प्राप्त कर लेना तो फिर भी आसान है, परन्तु उनको सग्रह कर रखना और उनका उचित उपयोग करना वडा कठिन है। खुशामद, वाहरी प्रलोभन से धन-जन सामग्री जुट तो सकती है, किंतु सचित नही रह सकती। यदि केवल स्वार्थ हमारा उद्देश्य होगा तो भी वह घर आई सम्पद् चली जायगी। हममे जितनी ही नि स्वार्थता और सच्चाई होगी उतनी ही यह सम्पद् टिक रहेगी। सच्चाई के माने है उच्चार और आचार की एकता। उचित उपयोग के लिए वुद्धि-वल की आवश्यकता है। मानवी स्वभाव का ज्ञान, समय की परख, समझाने की शक्ति, तात्कालिक आवश्यकता की सूझ, सरस और मीठी वाणी इसके लिए वहुत जरूरी है। प्राप्त धन-जन और अपनी वुद्धि के उचित उपयोग से हम अपना कार्य भी साधते है और उसके द्वारा प्राप्त अनुभव से अपनी अपूर्णता भी कम करते हैं।

इसके अतिरिक्त शरीर, मन और बुद्धि-सम्बन्धी गुणो की आवश्यकता तो हुई है। यदि हम अपने अन्तिम लक्ष्य और निकटवर्ती ध्येय को ठीक कर ले और सदा इस बात का ध्यान रखते रहे कि हम सीधे अपने लक्ष्य की ओर ही जा रहे है तो हमें अपने-आप सूझता जायगा कि हमें किन-किन शारीरिक, मानसिक और आत्मिक गुणो के प्राप्त करने की आवश्यकता है। अन्तिम लक्ष्य तो मनुष्यमात्र का निश्चित ही है पूर्णता या मुक्ति अर्थात् पूर्ण स्वतत्रता। फर्ज कीजिए कि गोविन्द ने अपने लिए यह तय किया कि भारत के लिए पूर्ण राजनैतिक स्वतत्रता प्राप्त करना उसका नजदीकी लक्ष्य है। इस लक्ष्य को प्राप्त करके वह अन्तिम लक्ष्य पूर्ण आत्मिक स्वतत्रता को पहुचना चाहता है, तो सब से पहले वह इस बात का विचार करेगा कि उसके स्वराज्य-प्राप्ति के साधन ऐसे हो जो उसे आत्मिक स्वतत्रता से पराङमुख न कर दे। यदि आत्मिक स्वतत्रता उसके दृष्टि-पथ से अलग नही है तो वह फौरन इस निर्णय पर पहुच जायगा कि भारतीय राजनैतिक स्वतत्रता का पथ उसकी आत्मिक स्वतत्रता के पथ से भिन्न नही हो सकता। यदि इस बात में कोई गलती नही है कि मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य पूर्ण आत्मिक स्वाधीनता है तो फिर प्रत्येक भारतीय का मनुष्य होने के नाते वही अन्तिम लक्ष्य है और इसलिए उसकी राजनैतिक स्वाधीनता का पथ आत्मिक स्वाधीनता के ही अनुकूल होगा। आत्मिक स्वाधीनता के लिए सब से जरूरी बात है मनुष्य में सच्चाई का होना। सच्चाई के दो मानी हैं—एक तो सच्चाई का ज्ञान और दूसरे उसका दृढता से पालन करने की व्याकुलता। यह सच्चाई मनुष्य की गति को रुकने नही देती और ठीक लक्ष्य की ओर अचूक ले जाती है। यही गुण राजनैतिक स्वतत्रता के लिए भी अनिवार्य है। क्योकि बल जो कुछ है वह सच्चाई मे ही है। कहते हैं—साच को आच क्या? झूठ आखिर कै दिन चलता है? झूठे आदमी से लोग डरते हैं, प्रेम नही करते। राजनैतिक और आत्मिक दोनो स्वतत्रताओ के लिए एक जरूरी बात यह है कि मनुष्य दूसरो के साथ अपने सबध को स्थिर करे। उसे दूसरो के सपर्क मे आना पडता

है, उन्हे काम देना लेना पडता है। यह सम्बन्ध जितना ही अधिक मधुर, प्रेममय और सुखदायी हो उतना ही जीवन और जीवन की प्रगति सुखमय, निश्चित और शीघ्र होगी। दूसरो को दुख न देते हुए काम करने की प्रवृत्ति रखना इसके लिए वहुत आवश्यक है। खुद कष्ट उठा ले पर दूसरो को कष्ट न होने पावे—इस भावना का नाम है अहिंसा। यह अहिंसा हमारे पारस्परिक व्यवहार को शुद्ध, स्थिर और परस्पर सहायक बनाती है। यह सत्य का ही प्राथमिक व व्यावहारिक रूप है। अपनी दृष्टि से, अपनी अपेक्षा से जिसे सत्य कहते है दूसरे की अपेक्षा से वह अहिंसा कहा जाता है। सत्य का प्रयोग जब दूसरे पर करते है तो वह अहिंसा के रूप मे बदल जाता है। इस तरह क्या आत्मिक स्वाधीनता और क्या राजनैतिक स्वतन्त्रता दोनो के लिए सत्य और अहिंसा ये दो गुण प्रत्येक मनुष्य में और इसलिए प्रत्येक भारतीय में अनिवार्य हैं। जितना ही इनका विकास हमारे अन्दर अधिक होगा उतने ही हम दोनो प्रकार की स्वाधीनता के निकट पहुचेगे। यह सोचकर गोविन्द निश्चय करता है कि मै सत्य और अहिंसा का पालन करूगा। ये तो हुए सर्व-प्रधान मानसिक और आत्मिक गुण। दोनो स्वाधीनताओ के लिए मनुष्य में कठोर और मृदुल दोनो प्रकार के गुणो के उदय की आवश्यकता है।

पिछले अध्यायो मे हम यह देख ही चुके है कि क्षमा, दया, तितिक्षा, उदारता, शान्ति आदि मृदुल गुण है और पुरुषार्थ, पराक्रम, शूरवीरता, तेजस्विता, निर्भयता, साहस आदि कठोर गुण है। समस्त कठोर गुणो का समावेश सत्य मे और मृदुल गुणो का अहिंसा मे हो जाता है। एक ओर से सत्य का आग्रह रखने का और दूसरी ओर से अहिंसा के पालन का आप प्रयत्न कीजिये तो मालूम होने लगेगा कि आप मे कठोर और मृदुल दोनो प्रकार के गुणो का विकास हो रहा है—एक ओर आपका तेज अबाध रूप से बढ रहा है और दूसरी ओर सहवासियो मे आपके प्रति प्रेम और सहयोग की मात्रा बढती जा रही है। सत्य अपने स्वत्व की गैरटी है और अहिंसा दूसरे को उसकी स्वत्व-रक्षा का आश्वासन देती है। सत्य

जब व्यावहारिक रूप मे अहिंसा बनने लगता है तब कौशल या चातुरी की उत्पत्ति होती है। जब मनुष्य को यह सोचना पडता है कि एक ओर मुझे सत्य से डिगना नही है, दूसरी ओर दूसरे को कष्ट पहुचने नही देना है, किन्तु यह बात तो दूसरे से कहनी या करा लेनी है तो अब ऐसी दशा मे किस तरह काम किया जाय ? इसका जो उत्तर उसे मिलता है या जो रीति उसे सूझती है उसी को व्यावहारिक भाषा मे कौशल या चातुरी कहते है। सत्य और अहिंसा की रगड से यह पैदा होती है। झूठ, बनावट, मक्कारी से भी चतुराई की जाती है, किन्तु असली हीरे और नकली हीरे मे जो भेद होता है वही इन दोनो प्रकार के कौशल मे होता है। एक जबानी, ऊपरी और दिखाने के लिए होता है, दूसरा हृदय की सस्कृति का फल होता है। सत्य और अहिंसा के मथन से एक और मानसिक गुण बढता है वह है बुद्धि की तीक्ष्णता। सत्य और अहिंसा के पथिक को कदम-कदम पर सोचना पडता है। पेचीदगियो मे से रास्ता निकालना पडता है। इससे उसकी प्रज्ञा तीक्ष्ण होती है।

अब रही शारीरिक योग्यता। सो यह उचित खान-पान, व्यायाम आदि से प्राप्त हो जाती है। परिमित आहार और नियमित व्यायाम नीरोगता की सब से बढ कर औषधि है। दूध से बढकर पौष्टिक, नीद से बढकर दिमाग को ताकत पहुचाने वाली वस्तु और दूर तक घूमने से बढकर मन्दाग्नि को दूर करने का उपाय ससार मे नही है। व्यायाम जहा तक हो स्वाभाविक और उत्पादक हो।

इसके बाद गोविन्द यह चुनता है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए मै किस काम को अपनाऊ ? अपनी रुचि और योग्यता को देखकर वह किसी एक काम को लेता है और उसमे अपनी सारी शक्ति लगा देता है। धन-जन लाता है, आवश्यक जानकारी प्राप्त करता है और उसे पूरा करता है। प्रत्येक काम की योग्यता और आवश्यकता का वह विचार करता है। फर्ज कीजिए, उसके सामने दो काम आते है—एक विधवा-विवाह और दूसरा अस्पृश्यता-निवारण। वह अस्पृश्यता-निवारण को चुनता है,

क्योकि विधवा-विवाह के विना भारत की आजादी उतनी नही रुकती जितनी अछूतपन के कारण रुक रही है। इस तरह वह अपने जीवन की हरएक सास में यह विचार करेगा कि कौन से काम करू जिनसे स्वाधीनता जल्दी-से-जल्दी आवे। अनुकूल कामो को, गुणो को, शक्तियो को वह अपनावेगा, प्रतिकूल को छोडेगा, या अनुकूलता मे परिणत करने का उद्योग करेगा। जव जीवन के प्रत्येक छोटे काम मे वह इस दृष्टि से काम लेगा तो उसे दीख पडेगा कि सामान्य व्यवहार मे न कुछ और क्षुद्र दीखने वाले काम, विचार, व्यवहार भी कितने महत्वपूर्ण है और मनुष्य को कितना सम्हलने की, जागरूक रहने की और सारासार-विचार करने की आवश्यकता है। वह हरएक वात की जड तक पहुचने की कोशिश करेगा—और किसी चीज को जड से ही बनाने या विगाडने का उद्योग करेगा। ऊपरी इलाज से उसे सन्तोष न होगा। यह वृत्ति उसे गम्भीर, धीर और निश्चयी बनावेगी और अन्त को सफलता के राजमार्ग पर ला रक्खेगी।

जीवन को सार्थक वनाने की प्राय सव शर्ते यहा आ गई है। अब हम यह देखे कि मनुष्य क्या होने चला था और क्या हो गया है?

: २ :

स्वतन्त्र-जीवन

१ : कहां फंस मरा ?

मनुष्य जन्मत स्वतत्र है। जिन सस्कारो को लेकर वह जन्मा है, जिन माता-पिताओ के लालन-पालन ने उसे परवरिश किया है, जिन मित्रो, कुटुम्बियो और गुरुजनो ने उसका जीवन बनाने मे उसे शिक्षा-दीक्षा, सुमति और सहयोग दिया है, उनके प्रति अपने बन्धनो और कर्त्तव्यो को छोडकर कोई कारण ऐसा नही है जिससे वह अपनी इच्छा और रुचि के प्रतिकूल किसी के अधीन बनकर रहे। ससार मे कोई शक्ति ऐसी नही है, जो उसे दबाकर, अपना दास बनाकर रख सके। यदि मनुष्य आज हमें किसी व्यक्ति, समूह, प्रथा या नियम का गुलाम दिखाई दे रहा है, तो यह उसकी अपनी करतूतो का फल है, उसकी त्रुटियो, दुर्गुणो, कुसस्कारो का परिणाम है, अन्यथा वयस्क—बालिग—होते ही वह अपनी रुचि, अपनी इच्छा, अपने आदर्श और उद्देश्य के अनुसार चलने के लिए पूर्ण स्वतत्र है। आरम्भ मे मनुष्य स्वतत्र ही पैदा हुआ था। किन्तु उसके स्वार्थ-भाव ने, उसके भेडियापन और शोषणवृत्ति ने, उसे स्वामी और दास, सम्पन्न और दीन, पीडक और पीडित, इन दो भागो मे बाट दिया है। पशु के मुकाबले मे जो अनन्त शक्तिया मनुष्य को मिली है, उनका परिणाम तो यह होना चाहिए था कि वह हर अर्थ मे पशु से ऊचा, बली, पवित्र और रक्षक साबित हो, किन्तु पूर्वोक्त दो बुराइयो ने कई बातो मे उसे पशु से भी गया-बीता बना दिया है। एक पशु दूसरे पशु को अपना गुलाम बनाने की कला में इतना निपुण

कहा है ? इतने वैज्ञानिक और सभ्य तरीके से दूसरे पशु को हडप जाने, फाड खाने के लक्षण उनमे कहा मिलते है ? परन्तु मनुष्य ने अपनी वुद्धि जो पशु को प्राप्त नही है—और पुरुषार्थ का ऐसा दुरुपयोग किया है कि आज वह खुद ही अपने वनाये जाल मे फस कर उसमे से निकलने के लिए वुरी तरह छटपटा रहा है। उसने जो समाज और शासन का ढाचा खडा किया है—समय-समय पर जो कुछ परिवर्तन उसमे करता रहा—वह यद्यपि इसी उद्देश्य से था कि मनुष्य स्वतत्र ओर सुखी रहे, किन्तु कुवुद्धि ने उसे अच्छे नियमो, तथा सत्प्रणालियो का उपयोग, एक का स्वामित्व और प्रभुता वढाने मे तथा दूसरे को सेवक ओर रक वनाने मे करने के लिए विवश कर दिया। उसने स्वतन्त्रता के शरीर को पकड रक्खा, पर आत्मा की उपेक्षा की और उसे खो दिया। स्वतन्त्रता के क्षेत्र मे उसने ऊची-से-ऊची उडाने मारी, अनन्त शक्तियो की, पूर्णता या पूर्ण विकास तक की कल्पना उसने कर डाली, फिर भी आज हम उसके अधिकाश भाग को पीडित, दलित, दीन, दुखी, पतित ओर पिछडा हुआ पाते हैं। पशु स्वतत्र है, गुलामी उसे यदि सिखाई है तो मनुष्य ने ही। इसमे मनुष्य ही उसका गुरु ओर स्वामी है। मनुष्य चढने की धुन मे, चढने के भ्रम मे ऐसा गिरा कि केवल पशु-पक्षी ही नही, खुद अपनी जाति और अपने भाइयो को भी गुलाम वना के छोडा। आज व्यक्ति, समूह ओर जातिया दूसरे को अपने छल, वल ओर शोपण के वदौलत अपना दास और दवा हुआ वना कर उस पर गर्व करते है, मूछे मरोडते है अपना गौरव समझते हैं ! यह पतन मनुष्य ने खुद ही अपने हाथो कर लिया है—'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के नियम को इसका श्रेय है। स्वतन्त्रता के वास्तविक रूप को उसने भुला दिया। अपने असली रूप को वह भूल गया। अपने गन्तव्य स्थान का भान उसे न रहा। स्वतत्र उत्पन्न होकर वह चिरस्थायी सुख की शोध मे चला और मनुष्य जाति को पीडक और पीडित दो भागो मे वाट दिया। उसकी वुद्धि और भावना ने उसको सुख, शान्ति और आनन्द के धाम तक पहुचा दिया था, किन्तु अपना ही भला चाहने, अपनी ही रोटी सेक लेने और दूसरे की परोसी थाली को खुद छीनकर खा जाने की प्रवृत्ति

ने आज उसे अपने ही मुट्ठी भर भाइयो का दास बना रक्खा है। जो स्वतत्रता का प्रेमी था, साधक था, व्यक्ति रूप मे उसका उपभोग भी करता था, वही जालिम और मजलूम, दास और प्रभु के टुकडो मे बट गया। मुट्ठी भर लोग स्वतत्रता के नाम पर स्वतत्रता के नशे मे, अपने करोडो भाइयो का खून चूसते है, उनकी कमाई पर गुलछर्रे उडाते है, अपने को बडा, ऊचा, श्रेष्ठ समझ कर उन्हे हीन, गिरा और हेय समझने मे अपने बडप्पन, उच्चता और श्रेष्ठता की शान मानते है। इसका मूल कारण यही है कि उसने स्वतत्रता से तो प्रीति की, पर उससे ऐसा चिपटा कि उसे भी अपने अधीन बना डाला! अपनी प्रियतमा के बदले उसे पदाकित दासी बना डाला! अर्थात् स्वतत्रता को तो उसने थोडा बहुत समझा, पर उसकी रक्षा और उसके स्वरूप की सच्ची झाकी बहुजन-समाज को कराने के उद्देश्य से ही सही, कुबुद्धि, स्वार्थ-भाव, शोषण-वृत्ति ने उसे अपने भाइयो का सेवक, सखा, मित्र बनाने के बदले स्वामी, पीडक और जबरदस्त बना दिया। स्वतत्रता का वह इच्छुक रहा और है, पर उसके पूर्ण और असली स्वरूप को भूल गया, दूसरे भाई के प्रति अपने व्यवहार-नियम और कर्त्तव्य को विसार बैठा, जिसका फल यह हुआ कि आज उसे अपने ही पर घृणा हो रही है। यदि मनुष्य आज अपनी ऊपरी तडक-भडक के अन्दर छिपे गन्दे ढाचे को देखे, अपने क्षुद्र मनोभावो को जाचे तो, उसे अपना वर्तमान जीवन भारभूत होने लगे, अपने पर गर्व और गौरव होने के बदले शर्म और ग्लानि मे उसका सिर नीचा होने लगे। अरे, यह अमरता का यात्री किस अन्धे कुए मे जा गिरा? अपने भाइयो को, उद्धार करने का टिकट देकर, सारे जहाज को ही किस विकट रेते मे फसा मारा? मनुष्य, क्या तू अपने को पहचान रहा है? सच्ची स्वतत्रता की याद तुझे है? अपने चलने और जाने के मुकाम का खयाल तुझे है? इस समय किस जगह और कहा जा रहा है—इसकी सुध तुझे है? क्या तू चेतेगा? सुनेगा? जागेगा? सोचेगा—सम्हालेगा? अपने को और अपने भाइयो को अपनी गुलामी के अन्धे गड्ढे से निकालेगा और उन्हे लेकर आगे दौडेगा?

२ : सामूहिक स्वतंत्रता

मनुष्य स्वतत्र जन्मा तो है, उसे स्वतन्त्रता परमप्रिय भी है, किन्तु उसने उसकी असलियत को भुला दिया है, खो दिया है। एक मनुष्य महज अपनी ही स्वतन्त्रता का खयाल करता है, दूसरो का नही। यदि करता भी है तो अपनो का अधिक, दूसरो की का कम। एक तो उसने आधी स्वतन्त्रता को पूरी स्वतन्त्रता समझ रक्खा है, दूसरे सामूहिक रूप में स्वतन्त्रता की पूरी ऊचाई, पूरी दूरी तक नही पहुच पाया है, या पाता है। तमाम किरणो-सहित स्वतन्त्रता का पूरा दर्शन वह नही कर रहा है, या उसके पूरे वैभव और स्वरूप से दूर रहता है। सच्ची स्वतन्त्रता वह है, जो अपना तथा दूसरो का समान रूप से खयाल और लिहाज रक्खे। जो अधिकार, सुविधा या सुख मै अपने लिए चाहता हू वह मै औरो को क्यो न लेने दू ? यदि खुले या छिपे तौर पर, जान मे या अनजान मे, मै ऐसा नही करता हू, तो अपने को सच्ची स्वतन्त्रता का प्रेमी कैसे कह सकता हू? मनुष्य अकेला नही है। उसके साथ उसका कुटुम्ब, मित्रमण्डल और समाज जुडा हुआ है। सन्यासी हो जाने पर भी, जगल मे धूनी रमाने पर भी, वह समाज के परिणामो, प्रभावो और उपकारो से अपने को नही बचा सकता। जबतक एक भी मनुष्य उसके पास आता है, या आ सकता है, समाज की एक वस्तु, घटना या भावना उस तक पहुचती रहती है। तबतक वह उसके प्रभावो से अपने को सामान्यत नही बचा सकता। अतएव अपने हित, सुख ओर आनन्द का खयाल करने के साथ ही उसे दूसरे के हित, सुख और आनन्द का भी खयाल करना ही पडता है और करना ही चाहिए। अतएव वह महज अपनी परतन्त्रता की बेडिया काट कर खामोश नही बैठ सकता। अपने पडौसियो का भी उसे ख्याल रखना होगा। जो मनुष्य अपनी स्वाधीनता का सवाल जितना ही हल कर चुका होगा वह उतना ही अधिक दूसरो को स्वाधीनता दिलाने में, या उसकी रक्षा करने में सफल होगा और उस मनुष्य की अपेक्षा जो बेचारा अपने ही बन्धनो को काटने में लगा हुआ है, इसपर इसकी अधिक जिम्मेवारी भी है। यह एक

मोटी-सी वात है कि जिसके पास अपना काम शेष नही रह गया है वह दूसरो का काम कर दे, जो कि उससे कमजोर। या पिछडे हुए है। इस प्रकार दूसरो की सहायता या सेवा करना मनुष्य की एक स्वाभाविक और उन्नत भावना है, जो कि मनुष्य की पूर्णता की वृद्धि के साथ ही उसपर उसकी अधिक जिम्मे-वारी डालती जाती है।

इस तरह एक तो हमने स्वतन्त्रता के अधकचरे रूप को देखा है और दूसरे खुद उससे लाभ उठाने की अधिक चेष्टा की है, दूसरा को उसका लाभ लेने देने या पहुचाने की तरफ हमारी तवज्जह कम रही है। यही कारण है, जो मनुष्य-जाति सच्ची और पूरी स्वतन्त्रता से अभी कोसो और वरसो दूर है। यदि मनुष्य अपने जीवन पर दृष्टि डाले तो उसे पता लगेगा कि आज वह स्वतन्त्रता का प्रेमी वन कर, समाज या देश मे नही रह रहा है, वल्कि धन, सत्ता, विद्वत्ता, वर्गोच्चता या परम्परागत वडप्पन के वदोलत इनके प्रभावो से लाभ उठाकर वह दूसरो को दवाने का कारण वन रहा है। मेरी पत्नी यह मानती चली आई है कि पति तो भला-बुरा जैसा हो पति-देव है। उसका कहना मुझे मानना ही चाहिए,उसका आदर मुझे करना ही चाहिए। वेटा-वेटी और नौकर-चाकर भी यही सुनते, देखते और समझते चले आए है कि वडो का, वुजुर्गो का, मालिक का हुक्म वजाना ही चाहिए, उनके सामने उनका सिर सदा झुका ही रहना चाहिए। प्रजा को यह सिखाया ही गया है कि वह राजा या शासको के रोव को माने ही—उसके अन्तर के विकास की पुकार के विपरीत भी वह शासन और सत्ता के सामने सिर झुकाये ही। पर मै पूछता हू कि क्या यह हमारे लिए—सच्चे मनुष्य के लिए—गौरव और गर्व की वात है? इस तरह सीधे या उलटे तरीको से वडाई, धन और अधिकार पाना अथवा उसके मिलने पर फूलना, इसमे कौन वडाई है? क्या पुरुषार्थ है? वडाई और पुरुषार्थ, गर्व और गौरव की वात तो तव हो, जव मनुष्य इन भावनो के दवाव से नही, वल्कि अपने पूर्ण स्वतन्त्रता-प्रेम के कारण दूसरो के हृदय पर अधिकार कर ले और उसे वनाये रक्खे। दूसरे मनुष्य उसके शारीरिक वल, वुद्धि-वैभव, धन-लोभ, कुल-गौरव या सत्ता-भय से

दबकर नही, बल्कि उसके स्वतन्त्रता-प्रेम से उसको पुष्टि करने वाले सद्गुणो से प्रेरित, आकर्षित होकर उसे चाहे, अपने हृदय मे प्रेम और आदर की चीज बनावे, तो यह स्थिति अलबत्ता समझ मे आ सकती है। इसका गौरव और उच्चता तथा दोनो के सच्चे लाभ की कल्पना करके मन आनन्द से नाचने लगता है। उस समय प्रेम और आदर, सुख और शाति, प्रगति और उन्नति बनावटी, क्षण-स्थायी और ऊपरी नही, बल्कि सच्ची, हार्दिक और स्थायी होगी। पर स्वतन्त्रता के इस सच्चे लाभ को हम तभी पा सकते है, जब हम सच्चे अर्थ मे स्वतन्त्रता की आराधना करे। जितना जोर हम अपनी स्वतन्त्रता पर देते है, जितना ध्यान हम अपनी स्वतन्त्रता का करते और रखते ह, उतना ही दूसरो की स्वतन्त्रता को निवाहने का भी रक्खें। अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति या रक्षा के लिए यदि आज हम तन, मन, धन सब स्वाहा करने के लिए तैयार हो जाते है, तो दूसरो को स्वतन्त्रता दिलाने और उसकी रक्षा करने के लिए भी क्या हम अपने को इतना तैयार पाते है ? रक्षक होने के बजाय हम उलटे आज दूसरो की, अपने से कम भाग्यशाली या पिछडे और गिरे भाइयो की स्वतन्त्रता के भक्षक नही बन रहे है ? इसलिए हमारा महज दूसरो की, अपने पडौसी की, स्वतन्त्रता का ध्यान रखने से ही काम न चलेगा। खुद अपनी स्वतन्त्रता से अधिक महत्व दूसरो की, पड़ोसी की, स्वतन्त्रता को देना होगा। ऐसा प्रयत्न करने पर ही वह अपनी स्वतंत्रता के बराबर उसकी स्वतन्त्रता का ध्यान रख सकेगा, क्योकि अधिकाश मनुष्य स्वार्थ की ओर अधिक और पहले झुकते है। इसलिए जरूरी है कि मनुष्य दूसरे का खयाल करने की आदत डाले। इतिहास मे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए लडने के सैकडो उदाहरण मिलते है, किन्तु ऐसे कितने सत्पुरुष हुए है, जिन्होने महज दूसरो को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए बड़ी-बडी लडाइया लडी है ? मनुष्य-जाति अभी तक विकास-मार्ग में जिस मंजिल तक पहुची चुकी है उसमे अभी इस विचार को पूरा महत्व नही मिला है। इसलिए हमारी स्वतन्त्रता की भावना अधूरी बनी हुई है। इस अधूरी भावना ने ही साम्राज्यवाद को जन्म दिया है। यही स्वेच्छाचार और अत्याचार की

जननी है। कपट नीति को भी पोषण बहुत-कुछ इसी से मिलता है। यदि मनुष्य अपने से अधिक दूसरो का खयाल रखने लगे, तो ये महादोष समाज से अपने आप मिटने लगे। फिर इस भावना की वृद्धि से मनुष्य न केवल स्वय उन्नति-पथ मे अग्रसर होता जायगा, बल्कि समाज को भी आगे बढाता जायगा। न केवल उसके, वरन् सामूहिक हित के लिए भी इस भावना की पुष्टि आवश्यक है।

३ : शासन की आदर्श कल्पना

स्वतत्रता का या समाज-व्यवस्था का सबसे बडा और प्रबल साधन शासन रहा है। अतएव पहले उसी का विचार करे। मनुष्य-जाति के विकास और इतिहास पर दृष्टि डाले, तो यह पता चलता है कि आरम्भ मे मनुष्य का मानसिक और बौद्धिक विकास चाहे अधिक न था, पर वह निश्चित रूप मे आज से अधिक स्वतत्र था। ज्ञान, साधन और सस्कृति में चाहे वह पिछडा हुआ था, पर आज की तरह अपने भाइयो का ही, अपना ही इतना अधिक गुलाम न था। जबतक वह अकेला रहा, अपनी हर बात में स्वतत्र था। जब उसने कुटुम्ब बनाया और जाति या समाज की नीव पडी, तब वह अनेक व्यक्तियो के सम्पर्क और असर मे आने लगा। पर ज्ञान और सस्कृति की कमी से आपस मे झगडे और बुराइया पैदा होने लगी एव एक-दूसरे पर असर डालने लगी। तब उसने इनके निपटारे के लिए एक मुखिया बना लिया और उसे कुछ सत्ता दे दी। यही आगे चलकर राजा बन गया। इसने भरसक समाज के रक्षण और पोषण का प्रयत्न किया, पर बुद्धि के साथ-साथ मनुष्य मे स्वार्थ-साधन और दुरुपयोग या शोषण-वृत्ति भी खिलने लगी, जिससे राजा स्वेच्छाचारी, स्वार्थ-साधक और मदान्ध होने लगे। शस्त्र और सेना-बल का उपयोग जनता को ऊचा उठाने के बदले उसे गुलाम बनाये रखने मे होने लगा। तब मनुष्य मे राजसस्था के प्रति ग्लानि उत्पन्न हुई और उसने राजसत्ता के बजाय प्रजासत्ता कायम की। वशपरम्परागत राजा मानने की प्रथा को मिटाकर उसने अपना प्रतिनिधि-मण्डल बनाकर

उसके निर्वाचित मुखिया को वह सत्ता दी। पर मनुष्य के स्वार्थ-भाव ने इसे भी असफल कर डाला। एक राजा की जगह मनुष्य के भाग्य के ये अनेक विधाता वन गये। इन्होंने अपना गुट्ट वना लिया और लगे जनता को उसके भले के नाम पर लूटने और धोखा देने। तव मनुष्य फिर चौका। अव की उसने विचार किया कि समाज के इस ढाचे को ही वदल दो। ऐसा उपाय करो जिससे मुट्ठी भर लोगो की ही नही, वल्कि वहुजन-समाज की वात सुनी जाय और उनका अधिकार समाज मे तथा राजकाज में रहे। एक मुट्ठी भर लोगो के हाथो मे अपनी भाग्य-डोर छोडकर जिस तरह अवतक वह राजकाज से वेफिक्र रहता था उसमे भी उसे दोप दिखाई दिया और अव की वह खुद समाज-रचना और राज-सचालन मे दिलचस्पी लेने लगा। पहले जहा वह स्वभावत स्वतन्त्र और स्वतन्त्र वृत्ति था, वहा वह अव ज्ञान-पूर्वक स्वतन्त्र होने की धुन मे लगा है। पहले जहा वह, 'व्यक्ति' रहकर स्वतन्त्र था, तहा अव 'समाज' वनाकर स्वतन्त्र रहना चाहता है। पहली वात वहुत आसान थी, दूसरी वडी कठिन है। किन्तु उसका ज्ञान ओर सस्कृति उसको राह दिखा रहे है ओर साधन एव पोरुष उत्साहित कर रहे है। उसने देख लिया कि कुटुम्व मे जो सुख, सुविधा और स्वतन्त्रता हे वह अवतक की इन भिन्न-भिन्न शासन-प्रणालियो ने समाज को नही दी। इसलिए क्यो न सारा समाज भी कौटुम्विक तत्वो पर ही चलाया जाय? यदि कुटुम्व मे चार या दस आदमी एक साथ सहयोग से रह सकते हैं तो फिर सारा समाज अपने को एक वडा कुटुम्व मान कर क्यो नही रह सकता? इस तरह 'वसुधैव कुटुम्वकम्' की जो कल्पना अवतक मनुष्य के दिमाग और जीवन में एक व्यक्ति के लिए थी उसे समाज-गत वनाने का ज्ञान उदय हुआ और उसके प्रयोग होने लगे। आजकल रूस मे यह प्रयोग, कहते हैं, सफलता के साथ हो रहा है। सारा रूस एक कुटुम्व मान लिया गया है और उसका शासन-सूत्र जनता के हाथो मे है। अभी तो उन्हे कौटुम्विक सिद्धान्त के विपरीत एक शासक-मण्डल—सरकार—ओर रक्षा के लिए शस्त्र तथा सेना रखनी पडी है, पर यह तो इसलिए और तभीतक जवतक कि सारे रूस मे सामाजिकता

के सच्चे भाव और पूरे गुण लोगो मे न आ जावे। इस प्रकार होते-होते समाज के शासन का आदर्श यह माना जाने लगा है कि समाज मे किसी शासक-मण्डल की कोई जरूरत न रहनी चाहिए, बल्कि बहुत-से-बहुत हो तो व्यवस्थापक-समिति रहे। वह जनता पर शासन न करे, बल्कि उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति भर करती रहे, उसे आवश्यक साधन-सामग्री पहुचाती रहे। अर्थात् समाज मे कोई एक या मुट्ठीभर व्यक्ति नही, बल्कि सारा समाज अपना राज या शासन आप करे—सब घर-घर के राजा हो जाय। अभी कल्पना में तो यह शासनादर्श बहुत रम्य, सुखदायी मालूम होता है और असम्भव तो प्रयत्न करने पर ससार मे है ही क्या ? किन्तु इस स्थिति को पाना, सो भी सामूहिक और सामाजिक रूप में, बरसो के लगातार सम्मिलित, सुसगठित और हार्दिक प्रयत्नो की बात है।

× × × ×

समाज को सुव्यवस्थित और प्रगतिशील बनाने के लिए हिन्दुओ ने एक जुदा ही तरीका ढूढ निकाला था। उन्होने देखा कि सत्ता, धन, मान और सख्या ये चारो बल एक जगह रहेगे, तो उस अवस्था मे मनुष्य की शक्ति और उसके दुरुपयोग का भय बहुत अधिक है। इस-लिए इन चारो को अलग-अलग बाट देना चाहिए। फिर जैसी मनुष्य की खासियत हो वैसा ही काम उसे समाज मे दे देना चाहिए, जिससे किसी एक पर सारा बोझ न पडे और समाज का काम बडे मजे मे चल जाय। उसने विचारशील, क्रियाशील, सग्रहशील और श्रम तथा सगठन-शील इन चार विभागो मे समाज के लोगो को बाट दिया और उनके कार्यो के लिए आवश्यक तथा मनोवृत्तियो के अनुकूल क्रमश मान, सत्ता, धन और आमोद-प्रमोद ये पुरस्कार अथवा उसकी सेवा के प्रतिफल उसे देने की व्यवस्था कर दी। हम हिन्दू इन्हे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम से पहचानते है और इनके भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यो का ज्ञान भी आम तौर पर सबको है। बुद्धि और विचार-प्रधान होने के कारण ब्राह्मण सहज ही समाज का नेता बना, क्रिया और सत्ता

प्रवान होने से क्षत्रिय शासक और रक्षक बना, सग्रह और धन-प्रधान होने के वदौलत वैश्य समाज का दाता और पोषक तथा सख्या और सगठन-प्रधान होने के कारण शूद्र ममाज का सहायक और सेवक बन गया। इससे समाज मे स्वार्थ साधने के चारो साधन और बल अलग-अलग बट तो गये, एक जगह एकत्र होकर या रहकर समाज को अव्यवस्थित करने या अपने पद और पुरस्कार का दुरुपयोग करने की सभावना जाती तो रही, एक बडी विपत्ति का रास्ता तो रुक गया—यह प्रणाली बरसो तक हिन्दुस्तान मे चली भी—अब भी टूटे-फूटे रूप मे नाम-मात्र के लिए कायम है—किन्तु इसमे एक बडा दोष भी पैदा हो गया, एक तो मनुष्य के उसी स्वार्थ और कुबुद्धि ने उस पर अपना असर जमाया और चारो अपने-अपने क्षेत्रो मे समय पाकर अपने-अपने पदो से समाज की सेवा करने के बदले खुद ही लाभ उठाने लगे और दूसरे को अपने से नीचा मानकर उन्हे पीछे रखने-दबाने लगे, दूसरे एक ही वर्ग मे एक गुण की इतनी प्रधानता हो गई कि दूसरे, अपने तथा कुटुम्ब के पालन-पोषण एव स्वातन्त्र्य-रक्षण के लिए आवश्यक गुण नष्ट होते चले गये, जिससे चारो दल परस्पर सहायक और पोषण होने के बदले स्वय अलग तथा ऐकान्तिक और दूसरे के अत्यन्त अधीन या उसकी शक्ति तोडने वाले बन गये। इससे न केवल समाज का ढाचा ही बिगड गया, बल्कि उसे गहरी हानि भी उठानी पडी, एव आज अपने तमाम ज्ञान और सस्कृति के रहते हुए, भारत सदियो से गुलामी की बेडिया पहने हुए है। ज्ञान और मान-प्रधान होने के कारण, नेता समझे जाने के कारण, मै इस सारी दु स्थिति का असली जिम्मेवार ब्राह्मण ही को मानता हू।

इस समय भी ऐसे विचारको और विचारवालो की कमी देश में नही है, जो इस चतुर्वर्ण-व्यवस्था को फिर ठीक करके चलाना चाहते है। पर मेरी समझ में अब पृथ्वी और समाज इतना बडा हो गया है, यह व्यवस्था इतनी बदनाम हो चुकी है, दूसरी ऐसी नई और लुभावनी योजनाए सामने है और तरह-तरह के प्रयोग हो रहे है, जिससे उसका पुनर्जीवित होना न

तो सभव ही और न उपयोगी ही प्रतीत होता है । उसके लिए अब तो इतना ही कहा जा सकता है कि समाज-व्यवस्थापको की यह कल्पना अनोखी थी जरूर और उसने हजारो वर्षो तक हिन्दू-समाज को स्थिर भी रक्खा, पर मनुष्य के स्वार्थ और शोपण-वृत्ति ने उसे सुस्थित न रहने दिया । सम्भव है, आगे चलकर किसी दूसरे, या यो कहे कि शुद्ध रूप मे फिर यह समाज मे प्रतिष्ठित हो, किंतु अभी तो असली रूप मे सब एक ही वर्ण हो रहे है ।

'क्या कारण है कि ससार के भिन्न-भिन्न देशो और जातियो मे अब तक समाज-व्यवस्था के कई ढाचे खडे हो गये, शासन की कई प्रणालिया चल गई, पर उनसे समाज अपने गन्तव्य स्थान को अभी तक नही पहुचा ? इन तमाम प्रयोगो का इतिहास और फल एक ही उत्तर देता है—मनुष्य का स्वार्थ और शोपणवृत्ति । आखिर मनुष्य ही तो प्रणालियो को बनाने, दुरुपयोग करने और बिगाडने वाला है न ? इसलिए जबतक हम खुद उसे सुधारने, उसे ज्यादा अच्छा बनाने पर अधिक जोर न देगे तबतक केवल प्रणालियो के परिवर्तन, प्रयोग और उपयोग से विशेप लाभ न होगा । जो हो, इस समय तो मनुष्य-समाज की आखे दो महान् प्रयोगो की ओर चकित और उत्सुक दृष्टि से देख रही है—एक तो रूस की सोवियट प्रणाली और दूसरी भारत की अहिंसात्मक क्रान्ति और उसके दूरगामी परिणाम । मेरा यह विश्वास है कि भारत इस क्रान्ति के द्वारा ससार को वह चीज देगा, जो रूस का आगे का कदम होगा । पर इसके अधिक विचार के लिए यह स्थान मौजू नही है । यहा तो हमारे लिए इतना ही जान लेना काफी है कि मनुष्य किस तरह अपनी उन्नति के लिए समाज और शासन के भिन्न-भिन्न ढाचो को बनाता और बिगाडता गया और अब उनकी कल्पना किस आदर्श तक जा पहुची है ।

४ : हमारा आदर्श

यह एक निर्विवाद बात है कि मनुष्य ने अपने विकास-क्रम मे कुटुम्ब और समाज बनाया है । फिर भी अभी वह अपनी पूरी परिणति पर नही

पहुचा है। व्यक्ति से कुटुम्ब और समाज का अग बनते ही उसके कर्त्तव्य उसी तक सीमित न रहे और न वह ऐकान्तिक रूप से स्वतन्त्र ही रहा। कुछ व्यक्ति चाहे स्वतन्त्रता की साधना करते-करते खुद उसकी चरम सीमा तक पहुच गये हो, केवल भौतिक ही नही, बल्कि आध्यात्मिक अर्थ मे भी पूर्ण स्वतन्त्र हो गये हो, पर कुटुम्ब ओर समाज को तो वह अभी भोतिक अर्थ मे भी पूर्ण और सच्ची स्वतन्त्रता तक नही ले जा सका है। यदि हम स्वतत्रता के पूर्ण चित्र की कल्पना पर, जो पिछले अध्यायो मे दी गई है, विचार करेगे ओर उससे आज के जगत् की अवस्था का मुकाबला करेगे, तो यह बात स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जायगी। घर-घर के राजा हो जाना तो अभी बडी दूर की बात है, अभी तक तो दुनिया सब जगह एकतत्री शासन-प्रणाली से बहुमत-प्रणाली तक भी नही पहुच पाई है। हम भारतवासी तो अभी अपने भाग्य-विधाता बनने के अधिकार की ही लडाई लड रहे है। हा, यह लडाई लडी इस ढग ओर तरीके से जा रही है कि जिसके परिणाम बडे दूरवर्ती होगे और जो भारत को ही नही, सारे मनुष्य-समाज को सच्ची स्वतत्रता का पथ प्रत्यक्ष दिखा देगे। अतएव इतनी बात हमे पहले ही से अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हम व्यक्ति और समाज के रूप मे कहा पहुचना चाहते है और उसकी पहली सीढी क्या होगी? दूसरे शब्दो मे यह कहे कि हम मनुष्य और समाज के आदर्श तथा लक्ष्य का विचार कर रखे।[1]

'मनुष्य' का उच्चारण करते ही उसका सबसे बडा गुण तेज—स्वाधीन-वृत्ति—सामने आता है। जिस मनुष्य मे भारी मनोबल है, जो किसी से डरता ओर दबता नही है, उसे हम आम तोर पर तेजस्वी पुरुष कहते हैं। यदि यह गुण मनुष्य मे से निकल जाय तो फिर उसके दूसरे गुण खोखले और बेकार से मालूम होते है। इसी तेज या स्वाधीनवृत्ति ने उसे तमाम भौतिक और सासारिक बन्धनो को ही नही, बल्कि मानसिक और आत्मिक

---

१. देखिये परिशिष्ट (४) 'मनुष्य, समाज और हमारा कर्त्तव्य'।

बन्धनो को भी तोडने और पूर्ण स्वाधीन बनने के लिए उत्सुक और समर्थ बनाया है। सच्चा और तेजस्वी पुरुष वह है, जो न किसी का गुलाम रहता है, न किसी को अपना गुलाम बनाता है, न किसी से डरता और दबता है, न किसी को डराता और दबाता है। अतएव यह भलीभाति सिद्ध होता है कि इस तेज के पूर्ण विकास को ही मनुष्य का लक्ष्य कहना चाहिए। मनुष्य से ही समाज बनता है, इसलिए मनुष्य के लक्ष्य से उसका लक्ष्य जुदा कैसे हो सकता है? फर्क सिर्फ इतना ही है कि मनुष्य व्यक्ति-रूप मे अपने लक्ष्य तक पहुचने के लिए जितना स्वावलम्बी और स्वतत्र है, उतना समाज-रूप मे नही। इसका असर दोनो की अवधि और सुविधा पर तो पड सकता है, किन्तु लक्ष्य पर नही। समाज-रूप मे वह अपने लक्ष्य पर तभी पहुच सकता है, जब वह व्यक्ति-रूप मे आदर्श बनने का प्रयत्न करे। आदर्श व्यक्तियो से पूर्ण समाज अवश्य ही अपने लक्ष्य के, अपनी पूर्णता के निकट होगा। अतएव व्यक्ति-रूप मे मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने को आदर्श बनाने का प्रयत्न करे, समाज-रूप मे उसका यह धर्म है कि दूसरो को आदर्श बनने मे सहायता करे। यह विवेचन हमे इस नतीजे पर पहुचाता है कि तेजोविकास की पूर्णता या स्वाधीन भावो का पूर्ण विकास व्यक्ति और समाज का समान-लक्ष्य है, एव उस तक पहुचने के लिए सतत उद्योग करना दोनो का परम कर्त्तव्य है।

मनुष्य मे दो प्रकार के गुण पाये जाते है—एक कठोर और दूसरे कोमल। वीरता, निडरता, साहस, पौरुष, कष्ट-सहन, आत्म-बलिदान, आदि कठोर गुणो के नमूने है और नम्रता, क्षमा, सहानुभूति, करुणा, सेवा, उदारता, सहिष्णुता, सरसता आदि कोमल गुणो के। प्रथम पक्ति के गुण उसको अदम्य और दूसरी पक्ति के सेवा-परायण बनाते है। अदम्य बनकर वह अपनी स्वाधीनता की रक्षा एव वृद्धि करता है, सेवा-परायण बनकर वह दूसरो को स्वतत्र और सुखी बनाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कठोर गुणो की मात्रा पुरुषो मे अधिक और मृदुल गुणो की मात्रा स्त्रियो में अधिक पाई जाती है। यदि मनुष्य सच्चा स्वतन्त्रता-प्रेमी है, तो पहले गुणो

की पुष्टि और वृद्धि उसका जितना कर्त्तव्य है, उतना ही दूसरे गुणो की पुष्टि और वृद्धि भी परम कर्त्तव्य है। बल्कि, मनुष्य के स्वाभाविक-से बन जानेवाले स्वार्थ-भाव को ध्यान मे रखते हुए तो उसके लिए यही ज्यादा जरूरी है कि वह अपनी अपेक्षा दूसरो के प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन पर विशेष ध्यान रक्खे। अनुभव बताता है कि सेवा-परायण बनने मे अपने आप प्रथम पक्ति के गुणो का विकास हुए बिना नही रहता। इसलिए सेवा—समाज-सेवा, देश-सेवा, मानव-सेवा—की इतनी महिमा है। यदि मनुष्य एकाकी हो, अकेला ही रहे, तो उसे दूसरी जाति के गुणो की उतनी आवश्यकता भी नही है, और न वे उसमे सहसा विकसित ही होगे, पर चूकि वह समाजशील है, समाजशील बना रहना चाहता है और सामाजिक रूप मे भी अपना विकास करना चाहता है, इसलिए दूसरी जाति के गुणो का वैयक्तिक और सामाजिक महत्व बहुत बढ जाता है और यही कारण है, जो सेवा-परायण व्यक्तियो मे दूसरी जाति के गुणो का विकास अधिक पाया जाता है। सच्चा तेजस्वी पुरुष, स्वाधीनता के भाव रखने वाला सच्चा पुरुष, या यो कहे कि सच्चा मनुष्य, अपने प्रति कठोर और दूसरो के प्रति मृदुल या सरस होता है। यही नियम एक कुटुम्ब, समाज या राष्ट्र पर भी, दूसरे कुटुम्ब, समाज या राष्ट्र की अपेक्षा से, घटता है। यदि हम इस मर्म और सचाई को समझ ले और उस पर दृढता से आरूढ हो जाय, तो सारे विश्व को एक सच्चे कुटुम्ब के रूप मे देखने की आशा हम अवश्य रख सकते हैं।

: ३ :

स्वतन्त्रता की नींव

१—सत्य

१ : स्वतन्त्रता के साधन

स्वतत्रता का पूरा अर्थ और सच्चा रूप मालूम हो जाने के बाद यह प्रश्न सहज ही उठता है कि समाज मे मनुष्य इस तरह स्वतन्त्र किन नियमो के अधीन होकर रह सकता है ? यदि मुझे अपनी स्वतन्त्रता उतनी ही प्यारी है जितनी कि औरो की, तो दूसरो के प्रति मेरा व्यवहार कैसा होना चाहिए ? सच्चाई का या झुठाई का ? सहिष्णुता का या असहिष्णुता का ? न्याय का या अन्याय का ? सयम का या असयम का ? उत्तर स्पष्ट है—सहिष्णुता का, न्याय का और सयम का। इसी तरह यह भी निर्विवाद है कि मनुष्य-मनुष्य मे जबतक प्रेम और सहयोग का अटल नियम न माना जायगा तब-तक उभयपक्षी स्वतन्त्रता नही रह सकती। सच्चाई हमारे पारस्परिक व्यवहार को सरल और निर्मल बनाती है। न्याय हमे एक-दूसरे के अधिकारो की सीमा को न लाघने के लिए विवश करता है। सहिष्णुता, ऐसे किसी उल्लघन की अवस्था मे, परस्पर विद्वेष, कलह और सघर्ष को रोकती है। सयम दूसरे को उसकी स्वतन्त्रता, अधिकार और सुख-सामग्री की सुरक्षितता की गारण्टी देता है। प्रेम परस्पर के सम्बन्ध को सरस, उत्साहप्रद और जीवनप्रद बनाता है, कठिनाइयो, कष्टो, रोगो और विपत्तियो के समय मनुष्य को सेवा-परायण और सहयोगी बनाता है, एव सहयोग उन्नति और सुख के मार्ग मे आगे बढने का मार्ग सुगम बनाता है। इन सब भावो

और गुणो के लिए हमारे पास दो सुन्दर और व्यापक शब्द है सत्य और अहिसा।

स्वतत्रता की अवतक भिन्न-भिन्न व्याख्याए कई महानुभावो ने की है। मेरी राय मे स्वतत्रता जहा एक स्थिति, एक आदर्श है वहा एक मनोवृत्ति—एक स्पिरिट—या एक भावना भी है। स्वतत्रता का साधारण अर्थ है अपने तत्र से चलने की पूरी सुविधा। इसमे किसी दूसरे या वाहरी आदमी के तत्र से चलने का निषेध है। जहा कही अपनी इच्छा या अधिकार के विपरीत चलने पर हम मजबूर किये जाते है, वही हमारी स्वतत्रता छीन ली जाती है। हम अपनी इच्छा या अधिकार के अनुसार सोलहो आना तभी चल सकते है जब कोई दूसरा रोक-टोक करने वाला न हो। यह तभी सभव है जब किसी दूसरे की स्वतत्रता मे वाधा न डाले, उसे उसकी इच्छा और अधिकार के अनुसार चलने दे। जब हम दूसरे को उसकी रुचि इच्छा और अधिकार के अनुसार चलने देगे, तभी वह अपनी रुचि और अधिकार के अनुसार चलने मे वाधक न होगा। वह स्थिति हम किसी नियम के वशवर्ती होकर पैदा कर सकते है। वह है सत्य का अनुसरण। यदि हम जीवन मे केवल सत्य का अनुसरण करे तो हम अपने और दूसरे दोनो की स्वतत्रता की रक्षा कर सकते है। यदि हम केवल सत्य का ही अनुगमन करेगे तो निश्चय ही हम अपने साथी पडौसी या सामने वाले के मन मे सत्य की स्फूर्ति पैदा करेगे। जब दोनो ओर सत्य की आराधना है तब अव्वल तो दोनो के टकराने के अर्थात् एक-दूसरे की स्वतत्रता पर आपत्ति करने के अवसर ही कम आवेगे और यदि आवे भी तो हमारा सत्य हमे एक-दूसरे को सहन करने की शिक्षा देगा।

तुम अपने माने सत्य पर दृढ रहो, मै अपने माने सत्य पर दृढ रहूगा, इसी वृत्ति का नाम स्वतत्रता है और यही वृत्ति एक सत्य-उपासक की है। जो स्वतत्रता चाहता है वह वास्तव मे सत्य को ही चाहता है। अधिकार की भाषा मे जब हम सत्य को प्रदर्शित करना चाहते है तब हम उसे स्वतत्रता कहते है और जब हम यह देखने लगते है कि हमारी स्वतत्रता का

आधार क्या है, तब हमे कहना पडता है सत्य। वास्तव में स्वतन्त्रता सत्य के एक अग या रूप का नाम है। या यो कहे कि सत्य वस्तु है और स्वतन्त्रता उसका गुण। जहा स्वतन्त्रता नही, वहा सत्य नही, जहा सत्य नही, वहा स्वतन्त्रता नही। अग्नि से उसकी आच जिस प्रकार पृथक् नही हो सकती उसी प्रकार सत्य से स्वतन्त्रता भिन्न नही। स्वतन्त्रता सत्य पर पहुचने की सीढी है और सत्य स्वतन्त्रता के जीवन का आधार है। माला के सब फूलो मे जिस प्रकार धागा पिरोया रहता है उसी प्रकार स्वतन्त्र मनुष्य के सब कार्यों मे सत्य रहता है। असत्य का अवलबन करके असत्य के रास्ते चलकर स्वतन्त्रता को पाने की अभिलाषा रखना अस्वाभाविक है। उससे जो कुछ स्वतन्त्रता मिलती दिखाई देती है वह एकतर्फा होगी। एकतर्फा सत्य के माने आगे चल कर हो जाते है अत्याचार। अतएव स्वतन्त्रता की व्याख्या एक ही हो सकती है—सत्यमय जीवन।

इस सत्य को पहुचने की अचूक सीढी है अहिंसा। अत यहा अहिंसा का भी थोडा विचार करले। जो भाव या नियम हमे अपने स्वार्थ के लिए दूसरो की हानि चाहने, उसे दुख पहुचाने के लिए प्रेरित करता है, उसे हिंसा कहते है। उसके विपरीत जो भाव या नियम हमे परस्पर प्रेम और सहयोग सिखाता है, वह है अहिसा। सयम जिस प्रकार अहिसा का कर्त्तरि (Subjective) और निष्क्रिय (Passive) रूप है और प्रेम सक्रिय तथा कर्मणि (Objective), उसी प्रकार सयम स्वतन्त्रता का निष्क्रिय और कर्त्तरि साधन एव प्रेम सक्रिय तथा कर्मणि साधन है। इस तरह स्वतन्त्रता और अहिसा साध्य और साधन बन जाते है। हम यह चाहते है कि समाज का बच्चा-बच्चा आजाद रहे, कोई एक-दूसरे को न दबावे, न सतावे। तो क्या व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो प्रकार की स्वतन्त्रता के लिए अहिसा का पालन परम अनिवार्य है? अहिसा यद्यपि स्वतन्त्रता की आतरिक साधन-सी प्रतीत होती है तथापि वह बाह्य साधन भी है। यह सुन कर पाठक जरा चौकेगे तो, पर यदि वे भारत के अहिसात्मक स्वातन्त्र्य सग्राम पर दृष्टि डालेगे, ससार के नि शस्त्रीकरण-आन्दोलन का स्मरण करेगे और विख्यात-विख्यात

साम्यवादियो के आदर्श समाज मे हिंसा के पूर्ण त्याग पर विचार करेगे, तो उन्हे इसमे कोई वात आश्चर्यजनक और असम्भव न प्रतीत होगी। यह ठीक है कि आजतक मनुष्य-जाति के इतिहास मे ऐसा उदाहरण नही मिलता है कि किसी एक वडी जाति, समूह या देश ने अहिंसात्मक रहकर अपनी स्वतत्रता पा ली हो या रख ली हो, इसके विपरीत शस्त्र-वल या हिंसा-प्रयोग के द्वारा स्वतत्रता लेने, छीनने और रखने के उदाहरणो से इतिहास का प्रत्येक पन्ना भरा मिलेगा, पर यह इस वात के लिए काफी नही है कि इस समय या आगे भी अहिंसात्मक सावन वेकार सावित होगे, या न मिलेगे, न रहेगे, न सफल होगे। भारत मे इस समय जो सफलता अहिंसा को मिल रही है, उसे देखते हुए तो किसी को इस विषय मे निराश या हतोत्साह होने का कारण नही है। फिर भी अभी यह प्रयोगावस्था मे है। जवतक इसमे पूर्ण सफलता न मिल जायगी, इसी सावन के द्वारा भारत में सफल क्रान्ति न हो जायगी, तवतक वाह्य सावन रूप मे इसका मूल्य लोग पूरा-पूरा न आक सकेगे। पर वुद्धि जहा तक जाती है अहिंसा किसी प्रकार हिंसा से कम नही प्रतीत होती। वल, प्रभाव, मत-परिवर्तन, हृदयाकर्षण, सगठन, एकता, सामाजिक जीवन, युद्ध-सावन, शान्ति, आदि सव वातो मे अहिंसा हिंसा से कही आगे और वढकर ही है। हमारा जीवन सच पूछिये तो अहिंसा के वल पर जितना चल रहा है, उसका शताश भी हिंसा के वल पर नही। क्या कुटुम्व, क्या जाति और क्या समाज मे अहिंसा का ही—प्रेम और सहयोग का ही—वोलवाला देखा जाता है। यदि आप गौर से देखे तो इसी की भित्ति पर मनुष्य का व्यक्तिगत, कौटुम्विक और सामाजिक जीवन रचा हुआ दीख पडेगा। मनुष्य ही क्यो, पशु-पक्षी समाज मे भी आपको हिंसा की अर्थात् द्वेष, कलह और मारकाट की अपेक्षा प्रेम और सहयोग ही अविक मिलेगा। जो शस्त्र-वल या सेना-वल समाज को अपने पास रखना पडता है, वह भी वहु-समाज के कारण नही, कुछ उपद्रवियो, दुर्जनो और दुष्टो के कारण ही। किसी भी समाज को आप ले लीजिए, उसमे आपको सज्जनो की अपेक्षा दुर्जन वहुत ही कम मिलेगे। जिस प्रकार

एक मनुष्य मे हिंसा की अपेक्षा अहिंसा के भाव बहुत अधिक पाये जायगे, उसी प्रकार एक समाज मे भी आप सज्जन, शान्ति-प्रिय मनुष्यो की अपेक्षा कलह-प्रिय और दुष्ट मनुष्यो की सख्या कम ही देखेगे। अर्थात् जो सेना या शस्त्र आज रक्खा जाता है, वह दरअसल तो थोडे से बुरे, अपवाद-स्वरूप, लोगो के लिए है। यह दूसरी बात है कि मनुष्य या शासक सज्जनो को दु ख देने मे भी उसका दुरुपयोग करते रहते है। पर ससार ऐसे कुकृत्यो की निन्दा और प्रतिकार ही करता रहा है । फिर यह शस्त्र-बल या सेना-सगठन रोज ही काम में नही आता । इससे भी इसका महत्व और आवश्यकता स्पष्ट ही कम हो जाती है। मुख्य उद्देश्य इसका है मनुष्य और समाज का दुष्टो से रक्षण । पर यदि हम समाज की रचना ही ऐसे पाये पर करे कि जिसमें दुष्ट लोग या दुष्टता का मुकाबिला प्रतिहिंसा एव दमन के द्वारा करने के बजाय, सयम, कष्ट-सहन और क्षमाशीलता के द्वारा करने की प्रथा डाली जाय—महज उनके शरीर को बधन मे न डाल कर, उन्हे त्रास न देकर, उनके हृदय पर अधिकार करने की, उसे बदल देने की प्रणाली डाली जाय, तो समाज का, रक्षण ही न हो, बल्कि सम्मिलित और सुसगठित प्रगति भी तेजी से हो। रक्षक की आवश्यकता वही हो सकती है, जहा कोई भक्षक हो, पर यदि हम भक्षक को ही मिटाने की तरकीब निकाल ले, 'मूले कुठार' करे तो फिर रक्षण और उसके लिए सहारक शस्त्रास्त्र, सेना की एव उनके अस्तित्व तथा प्रयोग के लिए अगणित धन-जन की आवश्यकता ही क्यो रहे ? हा, यह अलबत्ता निर्विवाद है कि जबतक समाज से भक्षक मिट नही जायगा, तबतक फौज, पुलिस और हथियार भी समाज से पूर्णत जा नही सकते । किन्तु एक ओर यदि हम शिक्षा, सस्कार और नैतिक आवश्यकताओ की पूर्ति द्वारा दुष्टो, दुर्जनो और भक्षको की जड काटने का, दूसरी ओर समाज को सहनशील, न्याय-प्रिय और सहयोगवृत्ति वाला बनाने का सच्चे दिल से यत्न करे, तो असम्भव नही है—हा, कष्ट और समय-साध्य जरूर है।

इतने विवेचन से यह भलीभाति स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत

और सामाजिक दोनो प्रकार की स्वतन्त्रता के लिए अहिंसा, अपने तमाम फलितार्थो और तात्पर्यो सहित, आन्तरिक साधन तो निर्विवाद रूप से है, पर प्रयत्न करने पर वाह्य साधन भी हो सकता है। वल्कि सच्ची और पूर्ण स्वतन्त्रता की जो कल्पना हम पहले अध्यायो मे कर चुके है, उसकी दृष्टि से तो जवतक हम दोनो कामो मे अहिंसा को पूरा स्थान न देगे, तवतक मनुष्य पूर्ण अर्थ मे न स्वतन्त्र हो सकता है, न रह सकता है।

२ : सत्य का व्यापक स्वरूप

पिछले प्रकरण मे यह वताया गया है कि सच्चाई के द्वारा मनुष्य का पारस्परिक जीवन सरल और निर्मल वनता है। यह निश्चित वात है कि समाज मे जवतक असत्य, पाखण्ड, अन्याय, द्वेष, डाह, अनीति आदि दुर्गुण रहेगे और इनको कब्जे मे रखने वाले या इनकी जड काटने वाले सत्य और अहिंसा सागोपाग इतने प्रवल न होगे कि इन दुर्गुणो को दवाये या निर्बल वनाये रक्खे, तवतक उसमे पुलिस, अदालत फौज, शस्त्रास्त्र, जेल और इन सवकी माता सरकार किसी-न-किसी रूप मे अवश्य रखनी पडेगी और जवतक समाज मे सरकार अर्थात् शासक-मण्डल की जरूरत रहेगी, तवतक उसे आदर्श या स्वतन्त्र समाज नही कह सकते। जवतक समाज अपने आन्तरिक सगठन के वल पर नही, वल्कि किसी वाह्य नियत्रण—सरकार—के सहारे कायम रहता है, तव-तक वह कमजोर और अधीन ही कहा जायगा। भले ही सरकार या शासक-मण्डल जनता के वनाये हो, समाज ने ही अपनी सत्ता का एक अश देकर उनको कायम किया हो, किन्तु उनका अस्तित्व और उनकी आवश्यकता ही समाज की दुर्वलता, कमी और सगठन-हीनता का परिचय देती है। अतएव यदि हम चाहते हो कि ऐसा समय जल्दी आ जाय, जव समाज मे कोई सरकार या शासक-मण्डल जैसी कोई चीज न रहे, सव घर-घर के राजा हो जाय, तव यह स्पष्ट है कि पहले समाज को सत्य और अहिंसा की दीक्षा देनी होगी—इन्हे समाज के वुनियादी पत्थर

समझना होगा। प्रत्येक मनुष्य को सत्याग्रही बनना होगा। सत्य मनुष्य को सरल, न्यायी, निर्मल, दूसरो को हानि न पहुचाने वाला, सदाचारी बनायेगा और अहिंसा दूसरो की ओर से होने वाले दोषो, बुराइयो और ज्यादतियो को रोकने और सहन करने का बल देगी। मनुष्य जबतक एक ओर खुद कोई बुराई न करेगा और दूसरी ओर बुराई करने वाले से बदला लेने का भाव नही रखेगा, तबतक समाज सरकार-हीन किसी तरह नही हो सकता। पहली बात समाज मे सत्याचरण से और दूसरी अहिंसा के अवलम्बन द्वारा ही सिद्ध हो सकती है। सत्य और अहिंसा के मेल का दूसरा नाम सत्याग्रह है। अतएव इन दोनो महान् नियमो का मूल्य केवल व्यक्तिगत जीवन के लिए ही नही, बल्कि सामाजिक जीवन के लिए भी है और उससे बढकर है। ये नियम केवल दूर से पूजा करने योग्य, 'आदर्श' कह कर टालने योग्य, या 'साधु-सतो के लिए,' कह कर मखौल उडाने लायक नही है। यदि हमने मनुष्य के सच्चे लक्ष्य को, समाज के आदर्श को और सरकार तथा शासक-मण्डल नामक सस्था की हानियो को अच्छी तरह समझ लिया है, यदि हम उन हानियो से बचने और समाज को जल्दी-से-जल्दी अपने आदर्श तक पहुचाने के लिए लालायित हों, तो हम इन दोनो नियमो को अटल सिद्धान्त माने और सच्चाई के साथ अन्त करण-पूर्वक इनका पालन किये बिना रह ही नही सकते। इनके महत्व की ओर से आखे मूदना, इन्हे महज एक आध्यात्मिक चीज बनाकर व्यवहार के लिए अनावश्यक या निरुपयोगी मानना, समाज के आदर्श को या उसके उपायो और पहली शर्तो को ही न समझना है।

तो प्रश्न यह है कि सत्य और अहिंसा का मर्म आखिर क्या है?

'सत्य' शब्द का प्रयोग तीन अर्थो मे होता है—तत्त्व, तथ्य और वृत्ति। सत्य 'सत्' शब्द का भाववाचक है। सत् का अर्थ है सदा कायम रहने वाला, जिसका कभी नाश न हो। ससार के बडे-बडे दार्शनिको और अनुभवी ज्ञानियो ने कहा है कि इस जगत् के सब पदार्थ नाशवान है, सिर्फ एक वस्तु ऐसी है जिसकी सत्ता सदा—सर्वकाल रहती है—वह

है आत्मा । इसलिए आत्मा जगत् का परम सत्य अथवा तत्त्व हुआ । जब हम यह विचारते है कि इसमे सत्य क्या है, तब हमारा यही भाव होता है कि इसमे कौनसी बात ऐसी है जो स्थायी है, पक्की है। अतएव सत्य एक तथ्य हुआ । हम सच्चा उस मनुष्य को कहते है जो भीतर-बाहर एक-सा हो। इसलिए, सत्य वह हुआ जो सदा एक-सा रहता है। इस प्रकार सत्य एक तत्त्व, तथ्य और वृत्ति तीनो अर्थो मे प्रयुक्त होता है। तत्त्व-रूप मे वह आत्मा है, तथ्य-रूप मे वह सर्वोच्च जीवन-सिद्धात है ओर वृत्ति-रूप मे महान् गुण है। तीनो अर्थो मे सत्य वाछनीय, आदरणीय ओर पालनीय है। आत्मा के रूप मे वह अनुभव करने की वस्तु है, सिद्धान्त के रूप मे वह पालन करने की और वृत्ति या गुण के रूप मे ग्रहण करने और वढाने की वस्तु है। जब हम यह अनुभव करने लगे कि मेरी और दूसरे की आत्मा एक है—शरीर-भेद से दोनो मे भिन्नता आ गई है, तब हम तत्त्व के रूप मे सत्य को मानते है। जब हम यह निश्चय करते है कि मै तो सत्य पर ही अटल रहूगा, जो मुझे सच दिखाई देगा उसी को मानूगा, तब मै सिद्धान्त के रूप मे सत्य को मानता हू। ओर जब मै यह कहता हू कि मै अपने जीवन को छल-कपट और स्वार्थ से रहित बनाऊगा तब मै एक गुण या वृत्ति के रूप से सत्य को मानता हू। इन भिन्न-भिन्न अर्थो मे एक ही 'सत्य' शब्द के प्रयुक्त होने के कारण कई वार भ्रम उत्पन्न हो जाता है। कभी गुण के अर्थ मे उसका प्रयोग किया जाता है और वह तथ्य या तत्त्व के रूप मे ग्रहण किया जाने लगता है, तब विवाद और कठिनाई पैदा हो जाती है ।

यो तो 'सत्य' का आग्रह रखना, सत्य पर डटे रहना 'सत्याग्रह' है। किन्तु 'सत्याग्रह' मे सत्य तीनो अर्थो मे ग्रहण किया गया है। सब से पहले सत्याग्रही को यह जानना पडता है कि इस बात मे सत्य क्या है? अर्थात् तथ्य, न्याय, औचित्य क्या है ? यह जानने के वाद वह उस पर दृढ रहने का सकल्प करता है। इस सकल्प मे या व्यवहार मे उसे सच्चा-शुद्ध रहने की परम आवश्यकता है। ये दोनो आरभिक क्रियाएँ उसे

इसलिए करनी पडती है कि वह अन्तिम सत्य—आत्मतत्व—को अनुभव करना चाहता है—सारे जगत् से अपना तादात्म्य करना चाहता है। इस प्रकार एक सत्याग्रही का ध्येय हुआ जगत् के साथ अपने को मिला देना—उसकी प्रथम सीढी हुई सत्य का निर्णय करना, दूसरी सीढी हुई उस पर दृढ रहना और तीसरी सीढी हुई अपने व्यवहार मे सच्चा और शुद्ध रहना। इस आखिरी बात मे वह जितना ही दृढ रहेगा, उतनी ही सत्य-निर्णय में उसे सुगमता होगी और उतना ही उसका निर्णय अधिक शुद्ध होने की सभावना रहेगी। सत्य पर दृढ रहने से उसकी तेजस्विता बढेगी, शुद्धता होने से लोकप्रियता बढेगी और जगत् के साथ अपने को मिलाने के प्रयत्न से उसकी आत्मा का विकास होगा। उसकी सहानुभूति व्यापक होगी, उसका क्षेत्र विशाल होगा, वह क्षुद्रताओ और सकीर्णताओ से ऊपर उठेगा। तीनो के सगम के द्वारा उसे पूर्ण, सच्चा या स्वाधीन मनुष्य बनने में सहायता मिलेगी।

सत्याग्रह मनुष्य-मात्र के लिए उपयोगी है। यह समझना कि यह तो साधुओ और वैरागियो के ही काम का है, भूल है। सत्य पर डटे रहना, सच्चाई का व्यवहार करना, प्रत्येक दुनियादार आदमी के लिए भी उतना ही जरूरी है जितना कि साधु या वैरागी के लिए है। यदि सत्य पर भरोसा न रक्खा जाय, सच्चाई का व्यवहार न किया जाय, तो दुनिया के बहुतेरे कारोबार बन्द कर देने पडेगे, बल्कि सासारिक जीवन का निर्वाह ही असभव हो जायगा। ससार मे यद्यपि सत्य और झूठ का मिश्रण है, तथापि ससार-चक्र जिस किसी तरह चल रहा है, उसका आधार असत्य नही, सत्य है। जितना सत्य है उतनी सुव्यवस्था और सुख है, जितना असत्य है उतनी ही अव्यवस्था और दुख है। कुछ लोग छोटे स्वार्थो—थोडे लाभो, और जल्दी सफलता के लोभ मे झूठ से काम ले लेते है—इसीलिए दूसरे लोगो को असुविधा और कष्ट उठाना पडता है। यह कितनी आश्चर्य की बात है कि दुनिया में सत्य सरल व्यवहार तो कठिन माना जाता है और झूठ मे सुविधा और लाभ दिखाई पडता है। यदि प्रत्येक मनुष्य

अपने अनुभव से लाभ उठाना चाहे, तो वह तुरन्त देख सकता है कि झूठ मे कितनी अशाति, और कितनी दुविधा, कितनी कठिनाइया, कितनी उलझने है और सरल सत्य मे मनुष्य कितनी झझटो से बच जाता है। यदि सत्य का आदर न हो, तो परस्पर विश्वास रखना ही कठिन हो जाय और यदि परस्पर विश्वास न हो, वचन-पालन की महत्ता न हो, तो जरा सोचिए, ससार-व्यवहार कितने दिन तक चल सकता है ? इसके विपरीत सत्य का व्यवहार करने से न केवल अपनी साख, प्रतिष्ठा और प्रभाव ही बढता है, वल्कि शाति, तेजस्विता और दृढता भी बढती है, जो कि सासारिक और सफल जीवन के लिए वहुत आवश्यक है ।

परन्तु इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि व्यापारिक, आर्थिक और राजनैतिक मामलो मे तो झूठ का सहारा लिए विना किसी तरह काम नही चल सकता। यह वात इस अर्थ मे तो ठीक है कि कुछ लोग जीवन मे झूठ का आश्रय लेकर अपना उल्लू सीधा करते रहते है, परन्तु इस अर्थ मे नही कि यदि कोई यह निश्चय ही कर ले कि मै तो किसी तरह सत्य से विचलित न होऊगा तो उसका काम न चल सके, या उसे हानि उठाना पडे । यदि वह छोटे ओर नजदीकी लाभो को ही लाभ न समझेगा, आर्थिक कठिनाइयो से ही न घवरा जायगा, तो झूठ का आश्रय लेने वाले की अपेक्षा वह अधिक सफल होगा। हा, उसे धीरज रखना होगा । सत्य का पालन करने वाले को जो कष्ट और कठिनाइयो का सामना करना पडता है, उसका कारण तो यह है कि अभी समाज की व्यवस्था विगडी हुई है—शिक्षा और सुसस्कार की कमी है। यह कल्पना करना चाहे हवाई किले वनाना हो कि सारा मनुष्य-समाज किसी दिन सत्यमय हो जायगा, परन्तु यह निर्विवाद रूप मे कहा जा सकता है कि जितना ही वह सत्य की ओर अधिक बढेगा, उतना ही वह सुख, सुविधा और सफलता मे उन्नति करेगा ।

सृष्टि मे अकेलेपन के लिए जगह नही है—सृष्टि शब्द ही अकेलेपन का विरोधी है । यदि वेदान्तियो की भाषा का आश्रय लिया जाय

तो ईश्वर ने एक से अनेक —'एकोऽहं बहुस्याम'—होने के लिए सृष्टि-रचना की है। इसलिए सच्चे अर्थ में यहा कोई बात, कोई वस्तु 'व्यक्तिगत' नही हो सकती। जितने नियम, सिद्धान्त, आदर्श और व्यवहार बने हैं वे सब न बने होते, यदि सृष्टि मे 'अकेलापन' या 'व्यक्तिगत' कुछ होता। इनकी उत्पत्ति व्यक्ति के जगत् के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही हुई है। अर्थात् इनका मूल्य सामाजिक है। समाज मे रहते हुए भी मनुष्य ने कुछ बाते अपने लिए ऐसी रख ली है जिनका समाज से बहुत सम्बन्ध नही है और इसलिए वे व्यक्तिगत कही जाती है। सत्य तत्व के अर्थ मे तो सृष्टि का आधार है, परन्तु सिद्धान्त और गुण के अर्थ मे सामाजिक नियम है। इस प्रकार सत्य के दो भाग हो जाते है-एक स्वतन्त्र सत्य और दूसरा सामाजिक सत्य। सामाजिक सत्य स्वतन्त्र सत्य का साधक है। स्वतन्त्र सत्य मनुष्य का ध्येय और सामाजिक सत्य उस तक पहुचने की सडक है। सत्य तो मनुष्य की एक कल्पित या अनुभूत स्थिति (Fact) है, जिसके आगे उसने कुछ नही पाया है—परन्तु सबकी दृष्टि वहा तक नही जाती, न वह उन्हे आकर्षित ही करता है, न उन्हे उसमे विशेष दिलचस्पी ही मालूम होती है। ज्यो-ज्यो मनुष्य सामाजिक सत्य की मजिले तय करता जाता है, त्यो-त्यो स्वतन्त्र सत्य उसे लुभावना और ग्रहणीय मालूम होने लगता है और उसके गौरव, स्वाद या सौन्दर्य मे उसकी रुचि होने लगती है। इसलिए जबतक बुद्धि मे उसके स्वरूप को समझने की रुचि और हृदय मे उसे अनुभव करने की उत्सुकता नही जागृत हुई है, तबतक सामाजिक सत्य से ही मनुष्य को आरम्भ करना चाहिए। वह सत्य पर अटल रहने की और जीवन को भीतर-बाहर शुद्ध बनाने की प्रतिज्ञा करे। यह सत्याग्रही के लिए पहली बात हुई।

दूसरे को कष्ट न देने की वृत्ति का नाम ही अहिंसा है। यह सत्य से उत्पन्न होती है और सत्य की सहायक या पूरक है। सामाजिक सत्य का जितना महत्व है, उतना ही अहिंसा का भी महत्व है। परन्तु हम सत्य

और अहिंसा को एक तुला पर नही रख सकते। सामाजिक गुण के अतिरिक्त सत्य का स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्व भी है। परन्तु अहिंसा ऐसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नही है। फिर भी वह सत्य के ज्ञान और उसकी रक्षा के लिए अनिवार्य है, हालाकि उसका जन्म समाज की अपेक्षा से ही हुआ है। यदि ससार मे कोई दूसरा व्यक्ति या जीव न हो तो किसी को कष्ट पहुचाने का सवाल ही नही पैदा हो सकता।

सत्य जबतक स्वतन्त्र है तबतक 'सत्य' है—परन्तु जब वह सामाजिक बनने लगता है तब अहिंसा का रूप धारण करने लगता है। सत्य का प्रयोग जब दूसरे पर किया जाता है, तो वह वहा जाकर अहिंसा बन जाता है। हमसे सत्य के रूप मे निकला और दूसरे तक पहुचते हुए अहिंसा मे बदल गया। हममे उस तक पहुचते हुए कुछ भावनाओ की रासायनिक क्रिया उसपर होती है जिससे वह अहिंसा बन जाता है। चूकि मुझे यह मजूर है कि जिस तक मै अपना सत्य पहुचाना चाहता हू, वह उसे सत्य ही समझे, उसमे अपना लाभ ही समझे, इसलिए मै उसमे मिठास और प्रेम की पुट लगा देता हू—यही अहिंसा का आरम्भ है। यदि मै अपने ही मान्य सत्य की रक्षा कर लेता हू—दूसरे को अपने बराबर सुविधा और अधिकार नही देना चाहता—तो मै सत्य का एकागी और स्वार्थी पुजारी हुआ। परन्तु सत्याग्रही पूरे और सच्चे अर्थ मे सत्य का भक्त होता है, इसलिए अज्ञानी के प्रति उसके मन मे दया, प्रेम और सहानुभूति का ही भाव पैदा होता है। इन्ही भावनाओ की पुट सत्य को अहिंसक बना देती है। सत्य जब मधुर और स्निग्ध होकर दूसरे तक पहुचता है तो उसे स्वादु और स्वागत-योग्य मालूम होता है। सत्य मूलत भी कटु नही हो सकता। वह तीखा हो सकता है, पर कटु नहीं। यदि सत्य ही सबमे फैला हुआ है, तो फिर सत्य एक मे से दूसरे मे पहुचते हुए, कही तीखा और कही कडवा क्यो मालूम होता है? क्योकि सत्य जिन साधनो, जिन उपकरणो से एक के अन्दर से निकलकर दूसरे के अन्दर पहुचता है, वे कुसस्कारो और दोषो से लिप्त रहते है। उन

कुसंस्कारो को पोछने के लिए ही, या यो कहे कि उनके दोष से सत्य को बचाने के लिए ही प्रेम और मिठास की पुट जरूरी हो जाती है। कष्ट-सहन प्रेम, मिठास तथा सहानुभूति की स्थूल अभिव्यक्ति है। जो व्यक्ति अज्ञानी है, स्वार्थ ने जिसे अन्याय और अत्याचार के गड्ढे में गिरा रक्खा है, जो इस तरह अपने आप ही पतित हो चुका है, उसके प्रति एक मनुष्य के मन मे तो सहानुभूति और दया ही उत्पन्न हो सकती है। यह सहानुभूति और दया ही उसे कष्ट देने के वदले कष्ट सहने के लिए प्रेरित करती है और कष्ट-सहन के द्वारा सत्याग्रही दोनो हेतु सिद्ध कर लेता है—उस व्यक्ति का सुधार और अपने प्रति उसका मित्र-भाव। सत्य के इतने विवेचन के वाद हम यह देखेगे कि सत्य की भावना से मनुष्य मे कौन-कौन से गुण उदय होते है और वे किस प्रकार उसे पूर्ण स्वाधीन वनाने मे सहायक होते है।

३ : सत्य से उत्पन्न गुण

सत्य वह तत्व है जिसके वल पर सारा संसार-चक्र चल रहा है। उसको जानना, उसके लिए प्रयत्न करना, उसका अपने मे अनुभव करना मनुष्य का स्वभाव-धर्म है। अनुभवियो ने कहा है कि आत्मा, परमात्मा सत्य से भिन्न नही—सृष्टि मे सत्य जो कुछ है वह यही कि घट-घट मे, अणु-अणु मे एक ही आत्म-तत्व समाया हुआ है। कई मनुष्य ऐसे मिलेगे जो वुद्धि से इस ज्ञान को जानते है, किन्तु सत्य जिनके हृदय का धर्म नही वन गया है। वास्तव मे आत्मा, जो जगत् का परम सत्य है, वुद्धि द्वारा जानने की वस्तु नही है। जिनका हृदय शुद्ध है उन्हे सत्य का स्फुरण अपने आप हुआ करता है, सत्य सीधा उनके दिल मे जाकर पैठ जाता है। परन्तु कुसंस्कारो से जिनका हृदय दूषित और मलिन है, उन्हे उसकी प्रतीति एकाएक नही होती। वुद्धि के द्वारा जिन्होने सत्य को जानने का यत्न किया है, उन्होने वडे-वडे दर्शन-शास्त्र रच डाले है, किन्तु वे इने-गिने विद्वानो के ही काम के हो गये है।

वे बुद्धि की जिज्ञासा को तृप्त चाहे कर दें, किन्तु सत्य का साक्षात्कार तो अनुभव करने से ही होता है। इसलिए सत्य को जीवन का धर्म बनाने—आचरण में उतारने का ही यत्न सबसे सीधा और अच्छा मार्ग है। जो बात आपको सच प्रतीत हो, उसी पर डटे रहिए, किन्तु यह न समझ लीजिए कि आपने उसमे जो कुछ सत्य जाना है वही अन्तिम सत्य है। सभव है, आपकी धारणा मे गलती हुई हो। इसलिए आप आगे के लिए आखे खोलकर रखिए—देखते जाइए, अपने माने हुए सत्य के आगे भी कुछ दिखाई देता है या नहीं—किन्तु जबतक आगे निश्चित रूप से कुछ न दिखाई दे तबतक अपने माने सत्य पर ही अडे रहिए। सत्य तो दुनिया मे एक है। इसलिए यदि आपकी लगन सच्ची है, तो आप उसे—असली सत्य को—किसी दिन अवश्य पा जायगे। किन्तु आपकी वृत्ति हर बात मे सत्य को देखने, सत्य को खोजने की रहे। जिस बात मे जो सत्य प्रतीत हो, उसे अपनाते जाइए, जो असत्य मालूम हो उसे छोडते जाइए। असत्य कई बार बडा लुभावना होता है, शीघ्र सफलता का प्रलोभन दिखाता है—किन्तु आप उसके फदे मे न फसिए। यह अनुभव-सिद्ध है कि यदि आप उसके लालच मे आते रहेगे, तो सभव है कि कुछ बार थोडे परिश्रम मे और जल्दी सफलता मिल जाय, किन्तु आप विश्वास रखिए कि यह लाभ आगे के बडे लाभ को दूर फेक देता है और इसलिए असल मे हानि ही हो जाती है। बार-बार झूठ का आश्रय लेते रहने से तो मित्रो और समाज मे पैठ उठ जाती है और इससे होने वाली हमारी भौतिक और नैतिक हानि का अन्दाजा पाठक सहज ही लगा सकते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो हमे यह अनुभव होगा कि झूठ को अपनाकर यदि आप कोई तात्कालिक लाभ कर रहे हैं, तो उसी समय आप दूसरी बात मे अपनी हानि करते हुए पाये जायगे। चूकि आपका ध्यान लाभ की तरफ है, आपको जल्दी है, इसलिए आप अपने कार्य के समस्त परिणामो को शाति के साथ नही देख रहे हैं—इसलिए वह हानि अभी आपको दिखाई नही देती, किन्तु यदि

आप झूठ का आश्रय लेते हुए इस बात पर ध्यान रक्खेंगे कि देखें इसमें कौन-सी हानि हो रही है, तो आपको उसे देखने में देर न लगेगी। फिर तो आपको असत्य में स्वभावत अरुचि और अन्त में घृणा होने लगेगी और उसकी हानि इतनी प्रत्यक्ष हो जायगी कि आप असत्य के विरोध में प्रचार करने लगेंगे।

इस प्रकार अपने प्रत्येक कार्य और प्रत्येक व्यवहार में सत्य और असत्य की बार-बार छान-बीन करते रहने से आपको सबसे पहला लाभ तो यह होगा कि आपकी विचार-शक्ति बढेगी। इससे आपको सारा-सार का, कर्तव्य-अकर्तव्य का, हानि-लाभ का, अच्छे-बुरे का, विचार करने की आदत पडेगी और आप में विवेक जाग्रत होगा। जब आप सत्य ग्रहण करने की ओर ही दृष्टि रक्खेंगे तो आपका मन एकाग्र होने लगेगा, और-और बातो को छोडकर एक सत्य की ही ओर मन को बार-बार आना पडेगा, इससे उसे सयम का अभ्यास अपने आप होगा। जब हम केवल सत्य पर ही दृढ रहेंगे तो हमे अपने बडे-बढो प्रियजनो और कुटुम्बियो के भी विरोध का सामना करना पडेगा। राज्य, समाज और धर्म के नाम पर स्थापित सत्ता का भी विरोध सहना पडेगा और करना पडेगा। उससे हमारे अन्दर साहस पैदा होगा। इन विरोधियो के विरोध और कष्टो को आनन्द के साथ सहने से कष्ट-सहन की शक्ति बढेगी। सत्य-भक्त के लिए यह जरूरी होगा कि वह दूसरे के माने हुए सत्य का भी आदर करे। वह उसे अपने लिए सत्य तबतक न मानेगा, जबतक कि स्वय उसे उसकी प्रतीति न हो जाय, परन्तु उसे अपने सत्य पर कायम रहने का अधिकार जरूर देगा। ऐसा करने से उसे अहिंसा का पालन करना होगा। यदि वह अपना सत्य उन पर जबरदस्ती लादने लगेगा, दण्ड-बल, भय अथवा शस्त्र-बल से उसे अपना सत्य मानने पर मजबूर करेगा तो, वह सत्य-भक्त नही रहेगा—अपने मान्य सत्य पर चलने का अधिकार सबको है—इस महान् सत्य की वह अवहेलना करेगा। इस प्रकार अहिंसा का पालन उसके लिए अनिवार्य हो गया।

सत्य का निर्णय करने में भी अहिंसा उसकी सहायक होती है, बल्कि अनिवार्य शर्त है। द्वेष हिंसा का एक रूप है। जबतक हमारा मन द्वेष से कलुषित होगा तबतक हमारे हृदय में सत्य की पूरी अनुभूति न होगी—हमारा निर्णय शुद्ध न होगा। द्वेष से प्रभावित मन हमें स्वार्थ की ओर ले जायगा—हमारे द्वेष-पात्र के हित की रक्षा का उचित भाव हमारे मन में न रहेगा—इसलिए हमारा निर्णय न्याय या सत्य-मूलक न होगा। इसी तरह शुद्ध निर्णय या सत्य-शोधन के लिए हमारा अंत-करण राग से भी दूषित न होना चाहिए, क्योंकि जब एक के प्रति राग यानी मोह आसक्ति अथवा स्वार्थ-मूलक स्नेह होगा, तो हमारा मन उसके सुख लाभ या हित की तरफ अधिक झुकेगा और हम दूसरे के स्वार्थ की उपेक्षा कर जायगे। यह राग जन्म के समय चाहे प्रत्यक्ष हिंसा के रूप में न आता हो परन्तु परिणाम के रूप में अवश्य हिंसा हो जाता है। जिसके प्रति हमारे मन में राग होता है, उसका अहित हम अक्सर ही कर डालते हैं—अलबत्ता उसका हित साधन करने की चेष्टा करते हुए ही, क्योंकि उसके प्रति अत्यधिक स्नेह हमें उसके सच्चे हित की ओर से अन्धा बना देता है—हम उसके श्रेय की अपेक्षा उसके प्रेय की अधिक चिन्ता करने लगते हैं—और उसे गलत रास्ते ले जाते हैं। राग को अपनाकर स्वयं अपनी भी हानि करते हैं। हम भी पथ-भ्रष्ट होते हैं। अपने कर्तव्य का निर्णय करने में भी हम राग के वशीभूत हो सत्य का मार्ग छोड़ देते हैं। उनकी नाराजगी के अन्देशे या खुश करने की चिन्ता से सत्य की उपेक्षा होने लगती है। और हित तो अन्तत सत्य की प्रतीति, पालन और रक्षण से ही हो सकता है। इस तरह सत्य का पालन हमें राग-द्वेष से ऊपर उठने की शिक्षा देगा। इससे हमारे मन में समता का और स्थिरता का गुण आने लगेगा। अधिक और बार-बार कष्ट सहन करने से धीरज का विकास होगा। कठिनाइयों, विघ्नों, कष्टों से लड़ते हुए, पुरुषार्थ, निर्भयता की वृद्धि होगी। 'यह सब मैं सत्य के लिए सह रहा हूँ,' यह भावना अपूर्व बल देगी

और उत्साह को बढावेगी । सत्य के पथ पर चलने वाला अवश्य सफल होगा, यह विचार आशा और उमग मे वृद्धि करेगा । यो किसी भी उच्च ध्येय को ग्रहण करके उसकी सिद्धि मे तल्लीन रहने मे इनमे से कई गुणो का विकास होगा, किन्तु अमर आशा और सफलता की अचल श्रद्धा सत्य के ध्येय वाले को ही प्राप्त होती है ।

सत्य के साधक के लिए इतना ही काफी नही है कि वह स्वय ही सत्य का अनुभव और पालन करता रहे, वल्कि उसका यह भी कर्तव्य है कि अपने सत्य से दूसरे को भी लाभ पहुचावे—दूसरे को भी उसका अनुभव करावे । यह वह दो तरह से कर सकता है—स्वय अपने सत्य पर दृढ रहकर—उसका आचरण करते हुए और दूसरे लोगो मे उसके लिए रुचि, प्रीति और लगन उत्पन्न करके । यह दूसरा काम उसे सत्य का प्रचारक भी वना देता है। प्रचारक वनने मे उसमे सगठन की योग्यता आवेगी । उसे जनता की और भिन्न-भिन्न वर्गों की सस्कृति और मनोदशा का अध्ययन करना पडेगा, जिससे विवेक वढेगा और समय तथा स्थिति देखकर भिन्न-भिन्न उपायो का अवलम्वन करना पडेगा, भिन्न-भिन्न व्यक्तियो या व्यक्ति-समूहो से काम लेना पडेगा—इससे साधन-वहुलता और प्रसगावधान आवेगा । सत्य जैसे दूरवर्ती लक्ष्य को सामने रखने मे और अपने वर्तमान कार्यक्रम को सदैव उसके अनुकूल वनाये रखने की चिन्ता से उसमे दूरदर्शिता का प्रादुर्भाव होगा । अहिसा का मूल सत्य पर स्थित है, किन्तु उसका स्वरूप प्रेम-मय है । जव हम इतना ही कहते है कि 'दूसरे को कष्ट न पहुचाओ' तो उसका नाम अहिसा है । किन्तु जव कहते है कि 'दूसरे के दुख को अपना दुख समझो' तो उसका नाम सहानुभूति है और जव हम कहते हैं कि 'दूसरे को अपने समान चाहो' तो उसका नाम प्रेम है । अहिसा तटस्थ है, प्रेम सक्रिय है । जहा प्रेम है, सहानुभूति है, वहा सभी मृदुल गुणो का अधिष्ठान हो गया समझिए । रस की उत्पत्ति प्रेम मे ही है । रस समस्त ललित कलाओ का प्राण है। एक ओर मे सत्य का तेज और

दूसरी ओर से अहिंसा की शान्ति तथा प्रेम का जीवन-रस मनुष्य को समस्त तेजस्वी और रमणीय गुणो से—मस्तिष्क और हृदय के गुणो से—आभूषित करके जीवन की सार्थकता के द्वार तक निश्चित रूप से पहुचा देगा ।

४ : शस्त्र-बल के एवज में सत्याग्रह

सत्याग्रह भारतवर्ष को और उसके निमित्त से सारे जगत् को महात्माजी की एक अपूर्व देन है । विचार-जगत् मे यद्यपि टाल्स्टाय ने इसको आधुनिक ससार मे फैलाने का थोडा यत्न किया है, फिर भी व्याव-हारिक जगत् मे तो गाधीजी को ही उसे प्रचलित करने का श्रेय प्राप्त है । इस अध्याय के आरभ मे हमने सत्याग्रह के मूल-तत्व रूप को समझने का यत्न किया है, किंतु यहा हम उसको एक बल, एक शस्त्र के रूप में विचारने की कोशिश करेंगे । महात्माजी का यह दावा है कि सत्याग्रह शस्त्र-युद्ध का स्थान सफलतापूर्वक ले सकता है ।

यहा हम इसी विषय पर कुछ विचार कर लेना चाहते है । महात्मा-जी जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है, जिसके आधार पर उन्होने अपना जीवन बनाया है, जिसके बल पर उन्होने दक्षिण अफ्रीका और भारतवर्ष मे अपूर्व सफलताये प्राप्त की है, एक-से-एक बढकर चमत्कार दिखाये हैं उसे उन्होने 'सत्याग्रह' नाम दिया है ।

सत्य+आग्रह, इन दो शब्दो को मिलाकर 'सत्याग्रह' बनाया गया है। इसमे मूल और असली शब्द तो सत्य ही है । सत्य पर डटे रहने का नाम है सत्याग्रह । अब प्रश्न यह है कि 'सत्य' क्या है ? इसका निश्चयात्मक उत्तर वही दे सकता है, जिसने सत्य को पा लिया हो, जिस-का जीवन सत्यमय हो गया हो, जो स्वय ही सत्य-रूप हो गया हो । हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियो और दर्शनकारो ने इसे समझाने का यत्न किया है, पर वे इसकी महिमा का बखान करके या कुछ झलक दिखाकर ही रह गये है । मै समझता हू—इससे अधिक मनुष्य के बस मे है भी नही ।

सत्य की पूर्णता, व्यापकता और घनता न तो बुद्धिगम्य ही है और न वर्णन-साध्य ही है। उसकी व्यापकता पर विचार करने लगते है, तो यह ब्रह्माण्ड भी छोटा मालूम होता है। घनता की तरफ बढते है, तो कल्पित या मनोगत बिन्दु भी बडा दिखाई देता है। यह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और विराट् से भी विराट् है । 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इससे अधिक वर्णन उसका नही हो सकता ।

तब मनुष्य उसे समझे कैसे ? प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि और शक्ति के ही अनुसार उसे समझ या ग्रहण कर सकता है। तो प्रत्येक मनुष्य के लिए सत्य वही हुआ, जो उसे जच गया । तो क्या प्रत्यक जचने वाली बात को सत्य ही मान लेना चाहिए ? नही, निर्मल अन्त करण मे जो स्फुरित हो, सात्विक बुद्धि मे जो प्रवेश कर जाय, वही 'सत्य' शब्द से परिचित कराया जा सकता है। वह वास्तविक सत्य चाहे न हो, किन्तु उस व्यक्ति के लिए तबतक तो वही सत्य रहेगा, जबतक उसे आगे सत्य का और या भिन्न प्रकार से, दर्शन न हो। इसको सापेक्ष या अर्द्ध या आशिक सत्य ही समझना चाहिए—यह उस मनुष्य की असमर्थता, अपूर्णता अवश्य है, किन्तु अपने विकास की वर्तमान अवस्था मे इससे अधिक सत्य का दर्शन उसे हो ही नही रहा है, तो वह क्या करेगा ? वह उसी आशिक सत्य पर दृढ रहेगा और आगे सत्य-दर्शन की राह देखेगा एव उसके लिए यत्न करेगा। सत्य-शोधन का, सत्य को पाने का यही मार्ग है। किन्तु इसमें यह बात न भूलनी चाहिए कि सत्य-शोधन मे प्रगति करने के लिए अन्त करण की निर्मलता और बुद्धि की सात्विकता का दिन-दिन बढना अनिवार्य है । ऐसा न करेगे तो आपकी गति कुण्ठित हो जायगी, आप उसी अपने माने हुए अर्थ या आशिक सत्य पर ही—जो असत्य भी हो सकता है—चिपके रह जायगे और सम्भव है कि उससे आप की अधोगति भी हो जाय।

अब इन आशिक सत्यो मे झगडा शुरू हो तो क्या किया जाय ? आप एक बात को सत्य माने हुए है, मैं दूसरी बात को। और वे दोनो परस्पर

विरुद्ध है तो आपका मेरा परस्पर-व्यवहार और सवध कैसा होना चाहिए ? सहिष्णुता का या जोर-जुल्म का ? यदि जोर-जुलम का, तो फिर आप मुझ-से मेरे सत्य पर डटे रहने का अधिकार छीनते है। यह तो सत्य की आराधना नही हुई। आपको अपना ही सत्य प्रिय है, उसी की आपको चिन्ता है। मेरे सत्य की यदि आप बिल्कुल ही उपेक्षा करते है, तो आप जुल्मी, स्वार्थी, एकागी, पक्षपाती क्यो नही हुए ? यदि आपकी वृत्ति ऐसी है तो फिर क्या आप स्वय भी अपने सत्य-शोधन का रास्ता नही रोक रहे है ? इस दशा मे तो आप अपने और मेरे दोनो के सत्य के बाधक हो गये। दूसरे शब्दो मे आप सत्य के द्रोही बन गये। पर यदि आप असहिष्णुता का व्यवहार रखते है तो अपने और मेरे दोनो के लिए सत्य-शोधन का मार्ग विस्तृत कर देते है। दोनो मे विग्रह और द्वेष की जगह प्रेम और मिठास का भाव एव सम्बन्ध बढाते है। इसी वृत्ति का नाम अहिंसा है।

सत्य के शोधन मे अहिंसा के बिना काम चल ही नही सकता। आप एक कदम भी आगे नही बढ सकते। यही नही, बल्कि अन्त करण की निर्मलता, बुद्धि की सात्विकता, जिनके बिना आपका अत करण सत्य स्फुरित होने के योग्य ही नही बन सकता, वास्तव मे देखा जाय तो इस अहिंसा-वृत्ति के ही फल हो सकते है। अन्त करण को निर्मल और बुद्धि को सात्विक आप तभी बना सकते है जब आप अपने को राग-द्वेष से ऊपर उठाते रहेगे। राग-द्वेष से ऊपर उठना अहिंसा का ही दूसरा नाम है।

इस तरह सत्य के साथ अहिंसा अपने-आप जुडी हुई है। दोनो एक-दूसरे से अलग नही हो सकते। दोनो को एक-दूसरे से पृथक् या भिन्न कल्पना करना अपने को सत्य से दूर हटाना है। फिर भी यह तो कहना ही पडेगा कि सत्य साध्य है और अहिंसा साधन। अहिंसा के बिना आप सत्य को पा नही सकते, इसलिए उसका महत्व सत्य के ही बराबर है, किंतु उसका दरजा सत्य के बराबर नही हो सकता।

सत्य यदि वास्तव में सत्य है, सारा ब्रह्माण्ड यदि एक सत्य ही है, या सत्य नियम पर ही उसका आधार और अस्तित्व है, और यदि वही

सत्य हममें ओत-प्रोत है तो फिर हमें अपनी छोटी-सी तलवार, पिस्तौल या मशीनगन, अणुबम अथवा अन्य भीषण शस्त्रास्त्रों से उनकी रक्षा करने की आवश्यकता ही क्या है ? क्या हमारे ये भयानक और मारक साधन उनकी रक्षा कर भी सकेंगे ? यदि हम मानते है कि हा, तो फिर ये सत्य से बढकर साबित हुए । तो फिर सत्य की अपेक्षा इन्ही की पूजा क्यो न होनी चाहिए ? 'सत्यमेव परो धर्म' की जगह 'शस्त्रमेव परो धर्म' का प्रचार होना ही उचित है। 'सत्यमेव जयते नाऽनृतम्' की जगह 'शस्त्रमेव जयते' की घोषणा होनी चाहिए । तो फिर जगत् मे किसी ने शस्त्र को सत्य से बढकर क्यो नही बताया ? इसलिए कि सत्य और शस्त्र की कोई तुलना नही । शस्त्र यदि किसी बात का प्रतीक हो सकता है, तो वह असत्य का । सत्य तो स्वय रक्षित है। सूर्य की कोई क्या रक्षा करेगा ? सत्य के तेज के मुकाबले मे हजारो सूर्य कुछ भी नही है। चूकि हममे सत्य कम होता है, इसीलिए हमे शस्त्र की सहायता की आवश्यकता प्रतीत होती है, क्योकि असत्य हममे अधिक होता है और वह अपने मित्र, साथी या प्रतीक की ही सहायता प्राप्त करने के लिए हमे प्रेरित करता है। अतएव सत्य का हिसा या शस्त्र से कोई नाता नही। यह बात सूर्य के प्रकाश की तरह हमारे सामने स्पष्ट रहनी और हो जानी चाहिए ।

सत्य की शोध और सत्य पर डटे रहने की प्रवृत्ति से ही वह प्रतिकार-बल उत्पन्न होता है, जो सत्याग्रही का वास्तविक बल है। सत्य को शोधने की वृद्धि उसे नित्य नया प्रकाश देती है और जो सत्य स्फुरित हुआ है, उस पर डटे रहने से उसमे दृढता, बल और असत्य से लडने की स्फूर्ति आती है। इस प्रकार सत्याग्रह मे ज्ञान और बल दोनो का समावेश अपने आप होता रहता है। जहा ये दोनो है, वहा पराजय, असफलता, अशाति, दु ख और चिन्ता कैसे टिक सकते है ? सत्य के इसी अनन्त और नित्य नवीन ज्ञान, एव अमोघ बल के आधार पर महात्माजी कहा करते है कि शुद्ध सत्याग्रही एक भी हो, तो वह सारी दुनिया को हिला सकता है। कौन कह

सकता है कि उनका यह दावा वुद्धिगम्य नही है ? सत्य के त्रुटियुक्त, अपूर्ण और छोटे प्रयोगो से भी जब हमने जबरदस्त शक्ति उत्पन्न होती हुई देखी है तो इसमे क्या शक हो सकता है कि सत्याग्रही जितना ही अधिक शुद्धता और पूर्णता के निकट पहुचेगा, उतनी ही उसकी गति, तेज, वल अपरिमित और दुर्दमनीय होगे ।

साराश यह है कि एक ओर सत्य का अमित तेज, वल, पराक्रम, पौरुष, साहस और दूसरी ओर अहिंसा की परम आर्द्रता, मृदुता, मधुरता, विनयशीलता, स्निग्धता, सुजनता, इन दोनो के सम्मेलन का नाम है सत्याग्रह ।

सत्याग्रह एक गुण भी है और वल भी है । प्रत्येक गुण के दो कार्य होते है—एक तो हमारी अनुकूलताओ को वढाना और दूसरे प्रतिकूलताओ को रोकना । जव हमारा कोई गुण प्रतिकूलताओ को रोकता है, वाधाओ को हटाता है, तव वह एक वल हो जाता है । जव हम किसी सामाजिक, व्यक्तिगत, राजनैतिक या किसी भी दोष, कुप्रथा, कु-नियम को मिटाने के लिए किसी न्याय, या सत्य वात पर अडे रहते है, सव प्रकार के कष्ट और कठिनाइयो को आनन्द और धीरज के साथ सहते है, किन्तु अपनी वात पर से नही डिगते, तव हम सत्याग्रह को एक वल के रूप मे ससार के सामने पेश करते है । 'सत्याग्रह' वस्तु की उत्पत्ति वास्तव मे इसी वल के रूप मे हुई है, परन्तु 'सत्याग्रह' शब्द वनते समय उसमे सत्य के सभी सामाजिक गुणो का तथा स्वतत्र सत्य का भी समावेश कर दिया गया है, जिससे 'सत्याग्रह' का भाव एकागी, सकुचित या अपूर्ण न रहे ।

सत्याग्रह का रूप सविनय कानून-भग है । यह एक वलवान अस्त्र है । जिस नियम को हम न्याय और नीति के विरुद्ध समझते है, उसको न मानने का हमे अधिकार है । यदि एक कुनियम को हटाने के लिए दूसरे और समय पडने पर विरोध-स्वरूप सभी नियमो का अनादर करना पडे, तो यह भी करने का हमे अधिकार है । परन्तु वुरे नियमो को हम सदा के लिए अमान्य कर सकते है और दूसरे नियमो को थोडे काल

के लिए केवल विरोध-स्वरूप ही। दोनो अवस्थाओ मे अनादर का कष्ट भुगतना ही वह बल है, जिससे समाज जाग्रत होता है और समाज-व्यवस्था बिगड़ने नही पाती। यदि हमारा नियम-भग उचित होगा, तो हमारा कष्ट-सहन समाज में हलचल और जागृति उत्पन्न करेगा। यदि अनुचित होगा तो हम उसका फल अपने-आप भुगत के रह जायगे और आगे के लिए अपना रास्ता ठीक कर लेगे।

परन्तु नियम-भग का वास्तविक अधिकार उन्ही को प्राप्त होता है, जो दूसरी सब परिस्थितियो में नियमो का पालन चिन्ता के साथ करते रहते है। जो नियम-भग मे अच्छे-बुरे नियमो का भेद नही करते, अथवा जब चाहे तभी नियम-भग करते रहते है, उनके नियम-भग का कोई नैतिक मूल्य नही होता और इसलिए उनकी प्रतिष्ठा और प्रभाव चला जाता है और उनके नियम-भग से समाज का उपकार या सुधार भी नही होता। नियम-भग तभी प्रभावशाली होता है, तभी वह एक अमोघ अस्त्र का काम देता है जब वह बुरे नियम का हो और नियम-पालक व्यक्ति के द्वारा किया गया हो।

फिर नियम-भग सत्याग्रही का अतिम शस्त्र है। सत्याग्रही सबसे पहले तो उस नियम की बुराई समाज या राज्य के सूत्र-सचालको को बताता है, फिर लोकमत को तैयार करके उसके विरुद्ध शिकायत करता है। इतने से यदि काम न चले, तो आदोलन खडा करके उस नियम को भग करता है—और अन्त मे सारी व्यवस्था के ही खिलाफ बगावत खडी कर देता है। इस क्रम से चलने मे उसका बल दिन-दिन बढता जाता है, उसके पक्ष की न्याय्यता को लोग अधिकाधिक समझने लगते है और इसलिए उसके साथ सहानुभूति रखते है, उसे सहायता देते है एव अन्त मे उसका साथ भी देते है। इसके विपरीत एकबारगी नियम-भग करने वाला अकेला रह जाता है और हतबल हो जाता है।

इस प्रकार सत्याग्रही एक सुधारक होता है। जहा भी उसे असत्य अन्याय, अनौचित्य मालूम होगा वही वह सुधार करने मे प्रवृत्त होगा। उसका सुधार करने के लिए यदि उसे विरोध करना पडेगा, लडाई लडनी

पडेगी तो वह पीछे नही हटेगा, परन्तु वह लडाई मोल ले लेने के लिए किसी के घर नही जायगा। 'आ बैल सीग मार' यह उसकी रीति नही होगी। उसका पथ निश्चित है। वह चला जा रहा है। रास्ते मे कठिनाई, रुकावट, विघ्न आ जाते है, तो उन्हे हटाने लगता है। इसके लिए उसे विरोध, आदोलन, लडाई करनी पडती है। जब विघ्न हट गया, रास्ता साफ हो गया, वह फिर शाति और उत्साह के साथ आगे बढने लगता है। इस अर्थ मे वह योद्धा तो है, युद्ध उसे कदम-कदम पर करना पडता है—कभी अपने दुर्गुणो के साथ, कभी कुटुम्बियो के साथ, कभी समाज के नेताओ के साथ और कभी राज्य-कर्त्ताओ के साथ, किन्तु युद्ध उसके जीवन का लक्ष्य नही है।

सत्याग्रही व्यक्ति का सुधार चाहता है, उसका नाश नही, क्योकि वह मानता है कि कोई भी व्यक्ति दो कारणो से अन्याय, अत्याचार करता है या किसी दोष को अपनाता है। या तो स्वार्थ-वश या अज्ञान-वश। स्वार्थ-साधना की जड मे भी अन्तत अज्ञान ही है। अब अज्ञान को दूर करने के, मनुष्य को जाग्रत और न्यायी बनाने के दो ही साधन उसके पास है—एक तो युक्तियो के द्वारा उसके दिमाग को समझाना और इतने से काम न चले तो स्वय कष्ट उठाकर उसके हृदय को जाग्रत करना। मारकर व्यक्ति को वह मिटा सकता है, पर उसका सुधार नही कर सकता। वह अन्यायी और अत्याचारी को सुधार करके अपना मित्र, साथी बनाना चाहता है। उसका नाश करने से यह उद्देश्य सिद्ध न होगा। फिर व्यक्ति का नाश करने से हम उसके गुणो का भी तो नाश कर देगे। बुरे-से-बुरे व्यक्ति के लिए भी हम यह नही कह सकते कि उसमे कोई गुण नही है। यदि उसमे गुण है तो उसकी रक्षा करना, उससे समाज को लाभ पहुचाना हमारा धर्म है। हा, उसकी बुराई को हम नही चाहते—तो बुराई को मिटाने का उद्योग करे। किन्तु बुराई मिटाने के एवज मे हम उस व्यक्ति को ही मिटा दें तो क्या इसे हमारी उद्देश्य-सिद्धि कहेगे ?

सत्याग्रही व्यक्ति पर तलवार इसलिए भी नही उठाना चाहता कि वह मानता है कि अपने विचारो के अनुसार चलने का अधिकार सबको है।

अधिकार के मानी है समाज द्वारा स्वीकृत नियम के अन्दर चलने की पूर्ण स्वाधीनता। यदि आपके और उसके विचार या निर्णय मे भेद है, तो क्या एक के लिए यह उचित है कि इसी बात के लिए दूसरे का नाश कर दे? सत्याग्रही, ऐसे प्रसगो पर, दूसरो पर बलात्कार करने की अपेक्षा स्वय कष्ट उठाता है। अपनी इस सहनशीलता के द्वारा एक तो वह दूसरे को अपने विचारो पर चलने की उतनी स्वाधीनता देता है, जितनी कि वह खुद लेता है और दूसरे उसके मन मे एक हलचल पैदा करता है कि मै गलती पर तो नही हू। उसे वह आत्म-निरीक्षण मे प्रवृत्त करता है। यह आत्म-निरीक्षण उसे सुधार के पथ पर पहुचाता है। बस सत्याग्रही का काम हो गया।

सत्याग्रही की अहिंसा का सम्बन्ध व्यक्तियो से है, प्रणालियो, नियमो और सगठनो से नही। आवश्यकता हो जाने पर इन्हे मिटाने मे वह बिलकुल हिचकिचाहट नही करता। वह मानता है कि प्रणालिया आखिर मनुष्य ही बनाता है। इसलिए मनुष्य के सुधार के साथ प्रणालिया भी सुधरने लगेगी। यह सच है कि प्रणालिया भी मनुष्य के सुधार के ही लिए बनाई जाती है और यदि प्रणाली अच्छी हुई, तो मनुष्य जल्दी सुधर सकेगा, परन्तु प्रणाली और मनुष्य की तुलना मे मनुष्य बडा है। इसलिए मनुष्य को नष्ट कर देने की कल्पना सत्याग्रही को अनुचित और हानिकर मालूम होती है। किसीको मारने की कल्पना हम तभी तक कर सकते है, जबतक हम अपने हित का विचार करते है—यदि उसके हित का विचार करने लगें, तो तुरन्त समझ मे आ जायेगा कि मारना हमारी स्वार्थ-साधुता है। जो मनुष्य सबके हित की भावना नही कर सकता, वह सत्य का अनुयायी कैसे हो सकता है? और यदि सत्य का अनुयायी नही है तो वह अपनी और समाज की प्रगति कैसे कर सकता है, यह समझ मे आना कठिन है। अबतक का इतिहास और वर्तमान जगत् इसलिए हमारी विशेष सहायता नही कर सकता कि वह स्वय ही अपूर्ण और दुःखी है। यदि हिंसा और असत्य के मुकाबले मे अहिंसा और सत्य हमे व्यक्ति और समाज के लिए अधिक हितकर मालूम होते हो तो हमारा इतना ही कर्त्तव्य है कि उनका दृढता से पालन

करते चले जाय। यह सम्भव है या नही, ऐसी शका किसी पुरुषार्थी के मन मे तो नही उत्पन्न होनी चाहिए। जगत् के कई असम्भव समझे जाने वाले चमत्कार मनुष्य के ही प्रयत्न और पुरुषार्थ के फल है। यदि हम समाज मे सुव्यवस्था कर सके, शिक्षा और सस्कार फैलाने की अच्छी योजना कर सके, तो यह ऐसी बात नही है जो मनुष्य की क्षमता के बाहर हो। सत्याग्रही मनुष्य के अपार बल को जानता है, इसलिए न तो असभावनाओ से हतोत्साह होता है, न विघ्नो से घबराता है। सत्याग्रही निराशा, असफलता और थकान को जानता ही नही। यदि हमने सत्य को आशिक रूप मे भी अनुभव कर लिया है, तो बिना किसी बाहरी प्रेरणा और प्रोत्साहन के भी हमारी प्रगति दिन-दिन होती ही चली जायेगी और हमारे पथ की बाधाये हुकार-मात्र मे हटती चली जायगी।

सत्य मे यह बल ओर सामर्थ्य कहा से आ गया? सत्य चूकि सारे जगत् मे फैला हुआ है इसलिए उसकी ओर सबका सहज आकर्षण है। जो व्यक्ति केवल सत्य की ही साधना करता है, सत्य के पीछे तमाम सुखो, वैभवो और प्रयोजनो को भी छोडने के लिए तैयार रहता है, उसके प्रति शत्रु-मित्र सब खिचते चले आते है। उनके अन्दर समाया हुआ सत्याश उन्हे बडे सत्याश की ओर खीचकर ले जाता है। फिर सत्याग्रही दूसरे को कष्ट देना नही चाहता—दूसरे का बुरा नही चाहता, तो ऐसा कौन होगा, जो उसकी सहायता करना न चाहे? वह तो शत्रु से भी प्रेम करना चाहता है तो शत्रु उससे कितने दिन तक शत्रुता रख सकेगा? या प्रतिपक्षी तक जिसके सहायक होने लगते है, उसे सफलता क्यो न मिलती जायगी? सफलता मे उसे उतनी ही कमी रहेगी, या देरी लगेगी, जितनी कि उसकी सत्य और अहिसा की साधना मे कसर रहेगी।

चूकि समाज व्यक्तियो से ही बना है, व्यक्तियो के और व्यक्तियो पर किये गए प्रयत्नो से समाज प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। समाज मे कुछ ही व्यक्ति सूत्र-सचालक हुआ करते है। जनसमाज प्राय उन्ही का अनुसरण करता है। यदि हमने उन कुछ लोगो को अपने सत्य और अहिसा-

बल से प्रभावित किया होगा, तो उनके सारे समाज पर और उनकी बनाई प्रणालियो पर उसका असर हुए बिना कैसे रह सकता है ? सत्याग्रही जब यह कहता है कि मै तो हृदय-परिवर्तन चाहता हू, तब उसका यह भाव होता है कि प्रतिपक्षी हमारे सत्य और अहिंसा बल को अनुभव करे—पहले उसके मन मे यह क्रिया होने लगती है कि 'अरे, इनका कहना ठीक है, इनकी बात वाजिब है, इनकी माग न्यायोचित है।' इसके बाद हमारे कष्ट-सहन और उसके आत्म-निरीक्षण से उसके हृदय-कपाट खुलने लगते है ओर हमपर अत्याचार करते हुए भी उसका दिल भीतर से कमजोर पडता चला जाता है। फिर एक दिन आता है जब वह थक जाता है ओर हमारा मतलब पूरा करने की तैयारी दिखाता है। यही हृदय-परिवर्तन की क्रिया के चिन्ह है। जब वह हमारा मतलब पूरा कर देता है, तब हृदय-परिवर्तन पूर्ण हो जाता है। सत्य ओर अहिंसा की यही विशेषता है कि वह प्रतिपक्षी की बुराई को मिटाकर उसे हमारा मित्र और साथी बनाता है एव दोनो ओर प्रेम, सद्भाव, एकता की वृद्धि करता है—जहा कि असत्य और अहिसा कभी एक को और कभी दूसरे को मिटाने का यत्न करते हुए द्वेष, मत्सर, कलह, वैर और इनके कितने ही बुरे साथियो का प्राबल्य समाज मे करता रहता है।

शत्रु को मारना हमे सहज और स्वाभाविक इसलिए प्रतीत होता है कि हमने अपने स्वार्थ पर ही प्रधान दृष्टि रक्खी है। हम यह भूल जाते है कि हमारा शत्रु भी आखिर मनुष्य है, उसके भी घर-बार, बाल-बच्चे है उसका भी समाज मे कुछ स्थान है, उसमे भी आखिर कुछ गुण है और उनका भी समाज के लिए उपयोग है। कोई मनुष्य महज अपनी बुराई के ही बल पर समाज मे नही टिका रह सकता। हमे उसकी अच्छाई ढूढने का यत्न करना चाहिए। ऐसा करने पर हम अपनी इस भूल को तुरन्त समझ लेगे। यदि हम स्वार्थी होगे तो हम न्यायी नही हो सकते। यदि हम न्यायी नही है, तो हममे और हमारे शत्रु मे, जिसे कि हम अन्यायी कहते है, अन्तर क्या रहा ? सिर्फ अशो का ही अन्तर हो सकता हो। पर इसका भी कारण यह क्यो न हो कि हमे अभी इतने अन्याय और अत्याचार की सुविधा नही

मिली है। यदि मूल बुराई हमारे अन्दर मौजूद है और हमे उनकी चिन्ता नही है, तो सुविधा और अनुकूलता की देर है कि हम अन्यायी और अत्याचारी बनने लग जायगे। यदि हम अपने स्वार्थ को उतना ही महत्व देंगे जितना कि दूसरे के स्वार्थ को, तो हमें किसी को मार-मिटाने की कल्पना अग्राह्य होने लगेगी।

यहा हमे यह न भूलना चाहिए कि हिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के मन और शरीर से है। किसी के शरीर और मन को कष्ट पहुचाना ही हिंसा है। आत्मा तो दोनो की उससे परे है। आत्मा को कष्ट नही पहुचता, परन्तु शरीर और मन को अवश्य पहुचता है। यदि आत्मा की एकता और अमरता पर ही हमारी मुख्य दृष्टि है—शरीर और मन के सुख-दुखो का विचार नही है तो फिर अत्याचार, पराधीनता आदि की भी शिकायत हमें क्यो करनी चाहिए ? हमे यदि गोली मारी जाय तो बुरा कहा जाता है, पर यदि हम मार दें तो उसे हम जायज मानते है। यह न्याय समझ में नही आता। यदि आप वास्तव मे न्याय-प्रिय है, तो दोनो के हित, कार्य और स्वार्थ पर समान दृष्टि रखिए। यदि आप दोनो एक ही साधन को जायज मानते है, तब तो फिर आपके और उसके बीच न्याय-अन्याय का प्रश्न नही है—सत्यासत्य का प्रश्न नही है, बल्कि बलाबल और अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्रश्न है। यदि आप सूक्ष्म रीति से विचार करेंगे, तो आप तबतक न्याय करने मे समर्थ न हो सकेंगे, जबतक आप हिंसा को अपने हृदय मे स्थान देते रहेगे। जबतक आपमे हिंसा-भाव होगा तबतक आपकी वृत्ति अवश्य स्वार्थ की ओर अधिक झुकेगी और दूसरे का सुख, स्वार्थ, हित आपके हृदय मे सुरक्षित न रह सकेगा। यदि आप सच्ची समता, साम्य-भाव चाहते है तो आपको शत्रु-मित्र के प्रति एक-सी न्याय-भावना रखनी होगी। जबतक शत्रु के प्रति मन मे द्वेष है, तबतक उसे कष्ट पहुचाने की भावना बनी ही रहेगी। और जबतक द्वेष है तबतक समता और न्याय की सम्भावना कैसे रहेगी ?

सत्याग्रही सत्य और न्याय के लिए लडता है। वह दिन-दिन प्रबल

इसीलिए होता चला जाता है कि वह शत्रु-मित्र सबके साथ न्याय करना चाहता है—न्याय से ही रहना चाहता है। वह शत्रु को मिटाना नही, सुधारना चाहता है। इसलिए शत्रु भी उसकी बडाई को मानता है। सत्याग्रही अपने शरीर बल के द्वारा नही, बल्कि आत्मिक गुणो और बलो के द्वारा शत्रु को प्रभावित करना चाहता है। वह अपने शत्रु के हृदय पर विजय प्राप्त करना चाहता है। शारीरिक विजय की परिणति प्रति-हिसा मे होती रहती है—जहा कि हार्दिक विजय की परिणति मैत्री मे होती है। बल्कि सत्याग्रह मे हार-जीत किसी एक पक्ष की नही होती—दोनो की विजय होती है—सत्याग्रही की उसके प्रतिपक्षी पर और प्रति-पक्षी की अपनी बुराइयो पर। इस तरह सत्य और अहिसा अर्थात् सत्याग्रह उभय कल्याणकारी है।

५ : सत्याग्रह और आध्यात्मिकता

कितने ही स्थूल-बुद्धि लोग 'आध्यात्मिक' शब्द सुनते ही बिगड उठते है। जब यह कहा जाता है कि सत्याग्रह एक आध्यात्मिक बल है, तब उन-की बुद्धि चक्कर खाने लगती है। वे महात्माजी को यह कहकर कोसने लगते है कि इन्होने राजनीति मे धार्मिकता ओर आध्यात्मिकता घुसेड़ कर देश को पीछे हटा दिया है। अतएव इस बात की परम आवश्यकता है कि हम आध्यात्मिक शब्द का मर्म समझने का यत्न करे।

हर वस्तु के दो रूप होते है—एक सूक्ष्म और मूल तथा दूसरा स्थूल और विस्तृत। वस्तु के सूक्ष्म और मूल रूप को आध्यात्मिक एव स्थूल तथा विस्तृत रूप को व्यावहारिक कहते है। पहला अदृश्य और दूसरा दृश्य होता है। पहला बीज ओर दूसरा पेड है। इतना समझ लेने पर महात्माजी की धार्मिकता और आध्यात्मिकता का व्यावहारिक—राज-नैतिक भाषा मे अर्थ किया जाय तो, वह ईमानदारी, दयानतदारी, वफा-दारी, सच्चाई, यही हो सकता है। महात्माजी कहते है कि सत्याग्रह का पूरा चमत्कार देखना हो, तो उसे ठीक उसी तरह चलाओ, जिस तरह मै

बताता हू । क्या उनका यह कहना अनुचित है ? उन्होने बार-बार कहा है कि सत्याग्रह को बल मिलता है मनुष्य की अपनी सच्चाई से। क्या अपने तई सच्चा होना एक मनुष्य और स्वतत्रता के सिपाही के लिए लाजिमी नही है ? सच्चाई के मानो भी आखिर क्या है ? तन, मन और वचन की एकता। यह एकता तो किसी भी कार्य की सफलता के लिए अनिवार्य है, फिर ३५ करोड को आजाद बनाने के यत्न मे सफलता पाने के लिए इसकी उपेक्षा हम कैसे कर सकते है ?

सत्याग्रह प्रेम का अस्त्र है। यदि हम शत्रु से वैसा ही प्रेम कर सके, जैसा कि हम अपने भाई से करते हैं, तो हम अकेले भी उसे जीतने के लिए काफी हैं। परन्तु जो इतने ऊचे न उठ सके, वे यदि बदले की भावना भी निकाल दे, तो सत्याग्रह के बल का अनुभव अपने अन्दर कर सकते हैं और शत्रु भी उसे अनुभव किये बिना न रहेगा। यदि शत्रु का हृदय स्वार्थ से इतना गन्दा और अन्धा हो गया है कि हमारा प्रेमास्त्र सीधे उसके हृदय को नही जगा सका, तो हमारे और उसके मित्रो और हमदर्दो पर उसका असर इतना जरूर पडेगा कि उसकी सयुक्त शक्ति उसके हृदय को जगने पर मजबूर कर देगी। सत्याग्रह तो अमोघ और पावक बल है। ऐसा बल है कि वह उस शस्त्र के बाधने वाले को भी मनुष्यत्व मे ऊचा उठाता है और उसे भी ऊचा उठने के लिए मजबूर करता है जिस पर वह चलाया जाता है। दोनो का फल होता है आमतौर पर समाज मे मनुष्यता की वृद्धि। इस प्रकार सत्याग्रह की लडाई हमे पशु की भूमिका से उठा कर मनुष्य की भूमिका मे ले जाती है।

यदि राजनैतिक आन्दोलन या युद्ध का अर्थ यह किया जाय कि उस का आधार तो प्रतिहिसा ही है, शत्रु के प्रति घृणा और बदले की भावना ही वह बल है जिससे एक देशभक्त को बलिदान की प्रेरणा मिलती है, तब तो देशभक्ति, राष्ट्रीयता, राष्ट्र-प्रेम नाम की कोई स्वतत्र वस्तु नही रह जाती है। और यदि इसीका नाम देश-भक्ति या राष्ट्रसेवा है, तो कहना होगा कि हमने मनुष्यता को पशुता के समकक्ष कर दिया है। प्रतिहिसा

पशु का धर्म है, मनुष्य मे वह पशुता के अवशिष्ट को सूचित करती है। मनुष्य के विकास की गति पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर है और मानवी गुणो का समुचित विकास किये विना हम न तो ऐसी राज्य-व्यवस्था और न समाज-व्यवस्था कायम कर सकेगे, जिसमे वहुजन-समाज का अधिकाश हित सिद्ध हो सके। यदि घृणा, प्रतिहिंसा, वदला इन भावनाओ की वुनियाद पर हम राज्य-व्यवस्था वनायगे तो समाज में इन्ही की स्पर्धा मुख्य होगी और समाज के सूत्र उन्ही के हाथो मे रहेगे, जो इन वलो मे वढ-चढ कर हो। क्या उनमे हम जनता के स्वराज्य की आशा रख सकते है ? वर्तमान प्रजा-सत्ताओ मे यद्यपि स्वतत्र-देशभक्ति जैसी चीज भी है, तथापि मानना होगा कि उनके राष्ट्र-धर्म का आधार परस्पर का भय अर्थात् हिंसा-प्रतिहिंसा का वल है। किन्तु यदि हमे उसीका अनुकरण करना होगा, तो कहना होगा कि हम पश्चिमी राष्ट्रो के वर्तमान आन्दोलनो से, स्थान-स्थान पर फूटती हुई क्राति-धाराओ से, कोई शिक्षा लेना नही चाहते।

यदि राष्ट्र-धर्म, स्वातत्र्य-प्रेम, स्वतत्र वस्तु है, हम अपने राष्ट्र और स्वातत्र्य के लिए सवकुछ स्वाहा कर दे सकते है, तो उसीकी साधना के लिए क्या हम अपने कुछ दोषो, कुछ भावनाओ को त्याग या वदल नही सकते ? मान लीजिए कि हमारे सामने प्रतिहिंसा का मार्ग वन्द हो—फिर वह हम को चाहे कितना ही प्रिय हो और हमारी दृष्टि मे कितना ही फलोत्पादक हो—और शत्रु से प्रेम किये विना, अथवा वदले का भाव हटाये विना, हम उसपर हावी न हो सकते हो, तो क्या हमारे राष्ट्र-धर्म और स्वातत्र-प्रेम का यह तकाजा नही है कि हम इतना-सा त्याग उसके लिए कर दे ? यदि हम इतना भी नही कर सकते, जो कि हमारे जीवन का एक अग-मात्र है, और सो भी अवाछनीय अश है, तो कैसे माना जा सकता है कि हम अपने-आपको उसके लिए सच्चे अर्थ मे मिटा दे सकते है ? यह कितने आश्चर्य की वात है कि देश-हित के लिए हम नीच कर्म तक करने वाले की तो सराहना करे, किन्तु यदि हमसे उच्च कर्म करने के लिए कहा जाय, उच्च भावनाओ का पोषण करने के लिए कहा जाय, तो हम कहे—

'हम देवता नही है, हमसे तो असम्भव शर्ते करायी जाती है।' यदि हम देवता नही है, तो मै चाहता हू कि हम पशु भी न रहे। हम पशुता से मनुष्यता की ओर जा रहे है और देवता बनना पशु बनने से तो हरगिज बुरा नही है।

राजनीति क्या मनुष्य के समग्र जीवन और समाज के व्यापक जीवन से कोई भिन्न या बाहर की वस्तु है? यदि नही, तो उसे मानव और समाज-जीवन से मिलकर ही रहना पडेगा और उसकी पुष्टि ही उसे करनी पडेगी। यह कितनी अदूरदर्शिता है कि हम समस्त और सम्पूर्ण मानव-जीवन को भुला कर राजनीति का विचार करे और फिर उन लोगो को बुरा कहे, जो एक अग पर नही बल्कि सम्पूर्णता पर विचार किये हुए है और अग को अग के बराबर एव पूर्ण को पूर्ण के बराबर महत्व देते है।

सत्याग्रह के प्रयोगो के कुछ फल तो हमने देख लिये है। हमारी अधीरता यदि सत्याग्रह की पूरी कीमत चुकाने के लिए तैयार नही है, और जिस 'राज-नीति' के हम हिमायती बन रहे है, उसमे से यदि ईमानदारी, सच्चाई वफा-दारी, दयानतदारी, निकाल दी जाय, तो वह आजादी का परवाना बनने के बजाय गले की फासी सिद्ध होगी, इसमे जरा भी सन्देह नही है।

६ : सत्याग्रही के नियम

सत्याग्रहियो में दो प्रकार की वृत्ति के लोग पाये जाते है—एक तो वे जिनका यह खयाल है कि अधिकाधिक तादाद में जेलो मे पहुचकर अधि-कारियो को घबरा दें और चारो तरफ से ऐसी परेशानी पैदा कर दें कि जिस से तग आकर वे झुक जाय। दूसरे इस प्रवृत्ति के लोग होते है, जो चाहते है कि हमारे कष्ट-सहन, त्याग और तपश्चर्या का परिणाम हमारे विरोधी के हृदय पर हो, उसकी मनुष्यता और सात्विकता जागृत हो। कहना यह होगा कि इस दूसरी तरह के सत्याग्रही देश मे बहुत थोडे है। उचित है कि इस कोटि के सत्याग्रहियो की सख्या देश मे बढे, क्योकि यही शुद्ध सत्याग्रही की वृत्ति है। सत्याग्रही की अहिंसावृत्ति की यही कसौटी है। इस कोटि के थोडे भी सत्याग्रही हो तो पहली कोटि के अधिक सत्याग्रहियो की अपेक्षा

ज्यादा उपयोगी और कारगर सावित होगे, वल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि पहली कोटि का सत्याग्रह वास्तविक सत्याग्रह नही है। जिसमे प्रतिपक्षी को जरा भी दवाने, डराने और परेशान करने की भावना हो, वह अहिंसा नही है। और इस भावना से किया गया सत्याग्रह वास्तविक सत्याग्रह नही है, यह हमे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। इसमे जो वल सत्याग्रही लगाता है वह वास्तव मे एक प्रकार का हिसा-वल है, भले ही वह हाथो से मारपीट और मुह से गाली-गलौज न करता हो।

यदि हमारा अवलोकन हमे इस नतीजे पर ले जाता है कि हमारे सत्याग्रह के फलस्वरूप विरोधियो की मनुष्यता और सात्त्विकता प्रकट होने या वढने के वजाय उनमे क्रूरता और कटुता वढी है, तो हम यह निचोड निकाल सकते है कि सत्याग्रहियो के गुण और वृत्ति मे और भी सशोधन की जरूरत है। जवतक हमे यह अनुभव होता हो कि हमारे सत्याग्रह से समारा विरोधी मित्र वनने के वजाय उलटा अधिक शत्रु वनता है, तवतक यही मानना चाहिए कि हमारे सत्याग्रह मे अर्थात् हमारे अहिंसा और प्रेमभाव मे कही कोई द्दोष है और अभी खुद हमे प्रेम की आच मे तपने की जरूरत है।

यो तो एक सत्याग्रही का मूलधन उसके अन्त करण की अहिंसावृत्ति और सत्य पर ही सदा-सर्वदा डटे रहने की दृढता है और उसका कोई नाप किसी महज वाहरी कसौटी से निकालना या महज वाहरी नियम उपनियम से उसका नियमन करना कष्टसाध्य है, परन्तु फिर भी जो व्यक्ति सत्याग्रह के पथ पर चलना चाहता है, उसके लिए कई नियम पथ-दर्शन का काम दे सकते है और उसकी प्रगति मे वहुत सहायक हो सकते है। महात्माजी ने सात नियम या कसौटिया वनाई है, जिससे सत्याग्रही अपनी वृत्ति और प्रगति की जाच कर सकता है

(१) सत्याग्रही की ईश्वर मे सजीव श्रद्धा होनी चाहिए, क्योकि ईश्वर ही उसकी आधार-शिला है।

(२) वह सत्य और अहिंसा को अपना धर्म मानता हो और इसलिए उसे मनुष्य-स्वभाव की सुप्त सात्त्विकता मे विश्वास होना चाहिए। अपनी

तपश्चर्या के रूप मे प्रदर्शित सत्य और प्रेम के द्वारा वह विरोधी की इस सात्त्विकता को जाग्रत करना चाहता है ।

(३) वह चरित्रवान हो और अपने लक्ष्य के लिए जान व माल कुर्बानि करने के लिए तैयार हो ।

(४) वह आदतन खादीधारी हो और कातता हो ।

(५) वह निर्व्यसनी हो, जिससे कि उसका मन और बुद्धि स्वच्छ हो ।

(६) अनुशासन और नियमो को मानने के लिए तत्पर हो ।

(७) जेल के नियमो को, जो निश्चितरूप से आत्म-सम्मान के विरुद्ध न हो, मानता हो ।

इन्हे पढकर किसीको यह चिन्ता और डर न होना चाहिए कि इनका पालन असम्भव है। उसके मनमे, जिसने अपने जीवन को दिन-पर-दिन अच्छा और उन्नत बनाने का सकल्प कर लिया है, ऐसी निराशा या कमजोरी के भाव पैदा न होने चाहिए। जो सच्ची लगन से जितना ही प्रयत्न करता है उसका मधुर फल उसको अवश्य ही मिलता है। महात्माजी भी तो आखिर अपने अन्तिम प्रयत्न और अटूट लगन से ही महात्मा बने है न! हमारा काम तो इतना ही है कि हम सच्चे मन से प्रयत्न करे। ईश्वर अवश्य हमे सिद्धि प्राप्त करायेगा ।

७ : सत्याग्रह—व्यक्तिगत और सामूहिक

बहुतेरे लोग समझते है कि व्यक्तिगत और सामूहिक सत्याग्रह मे केवल मात्रा का ही भेद है—दिये अलग-अलग जलते है, तबतक व्यक्तिगत है और हजारो दिये एक साथ जलने लग गये तो वही सामूहिक हो गया। पर केवल इतना ही समझ लेना काफी नही है। व्यक्तिगत सत्याग्रह जहा गुण पर विशेष ध्यान देता है वहा सामूहिक मे सख्या बल प्रधान है। किन्तु इस-से यह न समझना चाहिए कि उसमे गुण-बल वाछनीय नही है। उसका तो अर्थ सिर्फ इतना ही है कि कुछ व्यक्तियो मे जिस गुण-बल की आशा रक्खी जा सकती है, वह सामूहिक मे सहसा सभवनीय नही है। व्यक्तिगत

सत्याग्रह की विशेषता या प्रभावोत्पादकता उसकी शुद्धता और उज्ज्वलता मे ही है, जहा कि सामूहिक की सख्या वल मे। नि सन्देह दोनो के प्रभाव मे भी अन्तर होगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह, शुद्ध-उज्ज्वल होने के कारण, सात्विक और निर्मल स्फूर्ति हृदय मे पैदा करेगा, जिसके प्रति वह किया गया, उसमे है भी, तथा आसपास के वायुमण्डल मे भी वह शुद्ध प्रेरणा और पथ-दर्शन का काम देगा, किन्तु सामूहिक अपने सख्या-वल से आपके काम को ही वन्द कर देगा, आपकी गति को ही, आपके यन्त्र या तन्त्र को ही रोक देगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रभाव सीधा मनुष्य के हृदय पर पडेगा, वह उच्च भावनाओ और उच्च विचारो के क्षेत्र मे विचरने लगेगा, और उच्च मनोवृत्ति मे अपना निर्णय करेगा। इससे भिन्न, सामूहिक सत्याग्रह मुकावले वाले के सामने अपने हानि-लाभ का चित्र खडा कर देगा, उसके मन मे यह तुलना होने लगेगी कि इसकी माग को पूरा कर देने मे भलाई है, या अपनी वात पर डटे रहने मे। यदि सामूहिक सत्याग्रह काफी जोरदार है, तो उसे निर्णय कर लेना होगा कि आपकी माग पूरी कर दे। व्यक्तिगत सत्याग्रह अपनी निर्मल, उज्ज्वल निर्धूम ज्योति से वायुमण्डल को प्रदीप्त करता है व सामूहिक की एकत्र आग चारो ओर अपनी लपटे फैलाती हुई एक प्रचण्ड ज्वाला निर्माण करती है, जिसमे वडे-वडे भयकर और विषैले जन्तु भी स्वाहा हो जाते है और सारा वायुमण्डल तपने लगता है। यदि समाज सुसस्कृत है तो व्यक्तिगत सत्याग्रह काफी और शीघ्र परिणामदायी हो सकता है, किन्तु यदि समाज हानि-लाभ की ही भाषा समझता और वोलता है, तो सामूहिक सत्याग्रह ही वहा अधिक और जल्दी परिणाम ला सकता है। सामूहिक सत्याग्रह मे क्रान्तिकारिणी शक्ति है। किन्तु यह न मान लेना चाहिए कि सामूहिक सत्याग्रह के सचालको से भी वही गुण-वल न चाहा जाता हो, जो व्यक्तिगत सत्याग्रह से चाहा जाता है। जवतक व्यक्तिगत सत्याग्रह की परीक्षा मे उत्तीर्ण सयोजक या सचालक न हो तवतक सामूहिक सत्याग्रह चलाया ही नही जा सकता।

सत्याग्रह-युद्ध एक पूर्ण युद्ध-कला है और वह विधिवत् ही होना

चाहिए। उसका पूरा शास्त्र अभी वन नही पाया है और न वन ही सकेगा, क्योकि सत्य नित्य नवीन विकास पाने वाली वस्तु है, इसलिए सत्याग्रह का शास्त्र कभी पूर्ण नही होगा, वह भी नित्य नया विकास पावेगा। फिर भी उसके स्थूल नियम और कसौटिया तो स्थिर होती जायगी, जैसे-जैसे भिन्न-भिन्न प्रयोगो के फलाफल पर विचार होकर निर्णय वधते जायगे। मनुष्य की अपनी अपूर्णता भी सत्याग्रह-शास्त्र को पूर्ण न होने देगी और इसमे कुछ हानि का भी डर न रखना चाहिए। सत्याग्रह मे सत्य की शोध तो जारी रहती ही है अर्थात् एक परिणाम के अनुभव के आधार पर दूसरा प्रयोग किया और उसके परिणाम पर तीसरा। इसी तरह जवतक एक वैज्ञानिक की तरह सत्याग्रही की सत्यशोधक-वृत्ति जागृत और उद्यत है तवतक हानि का कोई डर नही है, क्योकि सत्याग्रह का मूल वल आन्तरिक वृत्ति पर जितना अवलम्बित है उतना वाहरी नियमोनियम पर नही।

८ : सत्याग्रह वैध या अवैध

यद्यपि केवल भारतवर्ष ही नही, सारा जगत् पिछले २० वर्षो से सत्याग्रह के व्यक्तिगत और सामूहिक प्रयोगो से परिचित है फिर भी हमारे देश में तथा वाहर भी एक ऐसा समुदाय है जो सत्याग्रह को 'अवैध' मानता है। इसलिए यहा हम इस विषय पर भी विचार कर लेना चाहते है।

सविनय कानून-भग सत्याग्रह का एक राजनैतिक स्वरूप है और इसी पर आपत्ति उठाई जाती है। वे कहते है कि राज-नियमो के भग करने का किसी को अधिकार नही है। राज-नियम यानी कानून आखिर तो प्रजा के प्रतिनिधियो के ही द्वारा, प्रजा के भले के लिए ही, वनाये जाते है। फिर उनको भग करने वाला प्रजा-द्रोही, प्रजा का मान भग करने वाला, समाज की व्यवस्था को तोडने वाला क्यो न माना जाय? और ऐसे प्रजा-द्रोह को यदि वैध माना जाय तव तो व्यवस्था, शाति, प्रजा-हित सवका खातमा ही समझना चाहिए। सरकार के लिए यह एक जटिल समस्या हो जायगी। यही एक ऐसा वडा काम हो जायगा कि उसको सुलझाने और उसका

मुकावला करने मे ही उसकी सारी या अधिकाश शक्ति लगती रहेगी एव दूसरे जन-हितकारी कामो के लिए उसे अवकाश ही नही रहेगा। अतएव कानून-भग का अधिकार किसी को देना सरकार और समाज का नाश करना है।

सत्याग्रह या सविनय कानून-भग के हिमायती कहते है कि कानून प्राय बहुमत से पास होते है और उस अश मे अल्प-मत पर उनका प्रयोग उनकी इच्छा के विरुद्ध होता है, अतएव यदि वे नियम या कानून या उनके किसी अश को न माने तो उनका यह व्यवहार सर्वथा नीतियुक्त है। फिर यदि नियम या कानून ऐसा हो जो उनकी समझ मे प्रजा के वास्तविक नही, वल्कि झूठे प्रतिनिधियो द्वारा वनाये गए हो, जिनसे सरेदस्त प्रजा का पोषण नही, शोषण होता हो, तो उनका तोडा जाना, उनके खिलाफ वगावत खडी करना, धर्म और पुण्य कार्य है, उनके आगे सिर झुकाना अधर्म और पाप है। यदि ऐसे नियमो के विरोध और भग करने का अधिकार प्रजा और उसके प्रतिनिधियो को न रहे तो अनर्थ होगा। अन्याय और अत्याचार का ठिकाना न रहेगा। मुट्ठी भर लोग धन-वल या प्रभाव-वल से प्रजा के प्रतिनिधियो के आसन पर वैठ कर, प्रजा के हित के नाम पर, प्रजा को चूसते रहेगे और मनमानी करते रहेगे। क्या इसी का नाम व्यवस्था और सरकार है? ऐसी सरकार के विरोध करने का अधिकार प्रजा के पास न रहने से ही एक ओर सशस्त्र वगावत और क्रातिया होती है, एव प्रजा शासको के अत्याचार से त्राहि-त्राहि करती है। भारत को छोड दीजिए, जहा कि विदेशी शासन है, किन्तु उन देशो को ही लीजिए जहा कि स्वदेशी शासन है। वहा भी यह पुकार जोरो से मच रही है कि थोडे से प्रभावशाली और वलशाली व्यक्ति मनमाने तौर पर प्रजा की वागडोर घुमाते है, थोडे लोगो के, धनी, रईस, जमीदारो के, हितो की ही विशेष परवा करते है, और जन-साधारण, किसान-मजदूरो की पूछ और सुनवाई नही होती। यदि सरकार समाज की वनाई हुई होती है, और यदि समाज मे जन-साधारण किसान-मजदूरो की ही सख्या अधिक है, तो फिर कानून ऐसे ही वनने चाहिए जिनसे जनता का

भला हो। ऐसे ही कानून नीतियुक्त हो सकते है। किन्तु यदि इसके विपरीत होता हो तो ऐसे कानून का वल नैतिक नही रह जाता और इसलिए उन्हे तोडना किसी प्रकार अपराध या प्रजाद्रोह नही हो सकता।

दोनो प्रकार की दलीले सुनने के वाद हम स्पष्टत इस परिणाम पर पहुचते है कि केवल अक्षरार्थ करने से पहले पक्ष की वात भले ही एक हद तक ठीक प्रतीत होती हो, किन्तु यदि मूलाधार पर ध्यान रक्खा जाय तो दूसरे पक्ष का ही कथन यथार्थ है। शरीर की अपेक्षा आत्मा का महत्व सदा से ही अधिक रहा है, रहना चाहिए और रहेगा। कानून शरीर है, जन-हित आत्मा है। यदि कानून जन-हित का विरोधी हो तो उसका भग करना सब से वडा जन-हित है। और जिन पर समाज या शासन-व्यवस्था का भार हो उन्हे उचित है कि वे कानून भग करने वालो की वातो को प्रेम और गौर से सुने और उनका समाधान करने का यत्न करे, न कि सत्ता-वल से उन्हे दवावे या कुचले। प्रजा-हित का जितना दावा शासक करते है, कम-से-कम उतना ही दावा वे कानून भग करने वालो का मान लेगे, तो फिर उन्हे उनके दमन करने का प्रयोजन ही न रह जायगा। यदि कानून भग करने वालो की एक वडी जमात वन गई तव तो शासको के लिए, यदि वे सच्चे अर्थ मे शासक है, तो और भी उचित है कि उनकी मागो पर गौर करे और उनकी पूर्ति करे। जो शासक ऐसा नही कर सकते है, समझना चाहिए कि उनकी व्यवस्था का नैतिक आधार खिसक गया है और वह अधिक समय तक नही टिक सकेगी।

९ : सत्य-भंग के कुछ उदाहरण

हमारे आचरण मे सत्य-भग के कुछ ऐसे उदाहरण देखे जाते है जिनका विवेचन सत्य-साधको के लिए उपयोगी होगा। एक मित्र ने एक वार हलकी-सी आपत्ति की—'सत्य-जीवन से हरिजन-सेवा का क्या सवध ?' यह आपत्ति सूचित करती है कि हमने सत्य को अपने सेवा-क्षेत्रो से कितनी दूर मान रखा है। इसलिए और भी आवश्यक है कि हम सत्य के भिन्न-भिन्न पहलुओ और सत्य-साधना मे प्राप्त अनुभवो की चर्चा कर लिया करे।

फर्ज कीजिए, मुझे सत्यनारायण से काम लेना है। मेरे काम का एक स्वरूप ऐसा है जिससे सत्यनारायण का भी लाभ है, या जिसमें उसकी रुचि है। मैं उसका वही रूप सत्यनारायण के सामने रखता हू और यह जताने की कोशिश करता हू कि यह सत्यनारायण ही के लाभ मे है। उसमे मेरा जो स्वतत्र लाभ या हित है वह मैं उसके सामने नही रखता। इसमे मैं यह व्यावहारिक लाभ (?) देखता हू कि ऐसा करने से सत्यनारायण का अहसान मुझ पर न रहेगा, उलटा वह मेरा अहसानमन्द रहेगा। मेरी वुद्धि में यह सत्य का भग है, क्योकि मैंने अपना असली आशय उससे छिपाकर उसे यह समझने का अवसर दिया कि मैं उसपर उपकार कर रहा हू। स्वय उपकृत होने के वदले मैं उसे उपकृत की श्रेणी मे रख देता हू।

अव यह विचार करे कि भला मुझे ऐसा करने की प्रवृत्ति ही क्यो हुई? या तो मैं उसके उपकार का वदला चुकाने मे कजूसी करना चाहता हू, या उसपर उपकार लादकर किसी समय उसे दवाने की इच्छा रखता हू। ये दोनो वृत्तिया सत्य की आरावना से दूर है। यदि ऐसा कोई अशुभ भाव मेरे मन मे नही है, तो फिर मुझे ऐसा द्राविडी प्राणायाम करने की जरूरत ही क्या है? सीवी वात ही क्यो न कह दू, "भाई, मेरा यह काम है, तुम्हारी सहायता की जरूरत है। कर दोगे तो अहसानमन्द होऊगा।" ओर अहसान चुकाने की तत्परता भी रखनी चाहिए। सम्भव है, ऐसा करने से लोग मुझे 'व्यावहारिक' या 'व्यवहार-कुशल' न कहे, पर मैं सत्य का अनुगामी अवश्य कहलाऊगा।

मुझे एक मित्र ने निमन्त्रण दिया कि तुम हमारे काम मे शामिल हो जाओ। मेरी इच्छा नही है कि मैं उसमे शामिल होऊ, या वह काम वनने पावे। मैंने एक ऐसे मित्र का नाम ले दिया कि इन्हे भी शरीक करना चाहिए, जिससे दूसरे लोग पसोपेश मे पड जाते है, या उन्हे ले ले तो दूसरो से उनका झगडा हो जाता है। यह सत्य का भग है। यदि मैं समझता हू कि मुझे उस काम मे शामिल न होना चाहिए, या उस काम का होना उचित और लाभप्रद नही है तो मुझे स्पष्ट इन्कार कर देना चाहिए और दूसरे मित्रो के नाराज

होने की जोखिम उठा लेनी चाहिए। अपनी वला दूसरे के सिर डालना कायरता ही है और जो कायर है वह सत्य-साधक नही वन सकता। सत्य की साधना मे महान् साहस और पुरुषार्थ की आवश्यकता रहती है। जो बडी-वडी जोखिमे उठा सकता है वही सत्य की राह पर चल सकता है।

मै चाहता हू कि आपके साथ काम करू, या आपकी सस्था का सदस्य बनू, किन्तु मै कोशिश यह करता हू कि आप मुझसे कहे, मै आपसे कहना नही पसन्द करता, तो यह भी सत्य का भग है। इसमे मै अपने-आपको अनुचित रूप से वडा समझने का या आपके अहसान से वचने का प्रयत्न करता हू। दोनो वृत्तिया सत्य की उपासना के अनुकूल नही है।

मै देखता हू कि आप मेरे या दूसरे के साथ अन्याय करते है, मुझे या दूसरे को अनुचित रूप से दवाते हैं, परन्तु मै न तो आप से कहता हू कि आपका यह कार्य अनुचित है, न सामने वाले से ही कहता हू कि तुम्हे यह अन्याय सहन न करना चाहिए और खामोश वना रहता हू तो यह भी सत्य का भग है। भयभीत होकर चुप रहना एक वात है और क्षमाशील बनकर चुप रहना दूसरी बात है। जो डर से दव गया है वह खुशामद करने लग जायगा और जो क्षमाशील है वह समय पडने पर उसे फटकारने और शर्मिन्दा करने मे भी कसर न रक्खेगा।

आपकी वात मुझे वुरी लगी है, मै आपसे नाराज हो गया हू, फिर भी ऐसा दिखाता हू मानो कुछ हुआ ही नही है। यह भी सत्य-भग है। कई जगह स्त्रियो को तो उलटी यह शिक्षा दी जाती है कि मन का भाव अन्यथा वताया जाय। कई वार हमारी इच्छा नही होती कि यह मनुष्य यहा रहे या ठहरे, किन्तु उससे रहने और ठहरने का वहुत आग्रह करते हैं। यह भी सत्य के विपरीत है। इससे जीवन सरल वनने के वजाय जटिल वनता है। अपने आपको ज्यो-का-त्यो प्रकाशित करने की वृत्ति रखना सत्याभिमुख होना है, और अपने आपको छिपाने की या अन्यथा दिखाने की कोशिश करना सत्य-विमुख होना है। एक मित्र ने कहा कि किसी चीज को छिपाना और उसको खानगी मानना, दो चीजे है। मेरी समझ से यह शब्दच्छल है। छिपाने

के तो मानी ही है दूसरे को अन्धकार में रखना। प्रकाश और अन्धकार का वैर है। सत्य महा प्रकाश है। 'खानगी' वही चीज हो सकती है, जिसका दूसरे से ताल्लुक नही, जिस पर दूसरे का अधिकार नही। यदि आप ऐसा काम कर रहे है, जिसका मुझ पर असर पडने वाला है, और आप उसे 'खानगी' कहकर छिपा ले तो वह सत्य का भग ही समझना चाहिए।

१० : उपवास और भूख-हड़ताल

सविनय कानून-भग की तरह सत्याग्रह के दो और अश है—उपवास और भूखहडताल। आत्मशुद्धि और प्रायश्चित्त की भावना से जो अनशन किया जाता है उसे उपवास और दूसरे से अपनी न्यायोचित माग को पूरा कराने के उद्देश्य से जो अनशन किया जाता है उसे भूखहडताल कहते है। भारतवासियो के धार्मिक जीवन मे यद्यपि उपवास कोई नई वस्तु नही है, परन्तु फिर भी गाधीजी जिस तरह और जिस स्वरूप मे उसे देश के सामने रख रहे है वह प्रत्येक हिन्दू ही नही, भारतवासी के मनन करने योग्य है। गाधीजी ने अपने जीवन मे कई वार उपवास किये है। उसपर इधर-उधर आपस मे और सार्वजनिक रूप से टीका-टिप्पणिया तो वहुत हुई, परन्तु हम-ने इन उपवासो के महत्व और रहस्य को समझने का, जितना कि चाहिए, यत्न नही किया। यह उदासीनता या उपेक्षा हमारी निर्वलता और निर्जीवता की सूचक है। जीवित मनुष्य वह है जो नये विचार, नये प्रकाश और नवीन धारा के लिए अपना जीवन-द्वार खुला रखता है। विवेक से काम लेना एक वात है और दरवाजा वन्द कर रखना या आगन्तुक की उपेक्षा करना दूसरी वात है। उपेक्षा से विरोध हजार दर्जे अच्छा। विरोध मे जीवन होता है। विरोध से जीवन खिलता है। उपेक्षा और उदासीनता मनुष्य और समाज को अत मे निर्वल, भीरु और निस्सत्व वनाकर छोडते है।

उपवास के दो स्वरूप है—एक आध्यात्मिक, अर्थात् जिसका प्रधान असर कर्त्ता पर होता है और दूसरा व्यावहारिक, जिसका प्रधान असर दूसरो पर होता है। विवाद आध्यात्मिक उपवास के सवन्ध मे इतना नही

खडा होता जितना व्यावहारिक के सम्बन्ध मे। आत्मशुद्धि के लिए उपवास की योग्यता को प्राय सब स्वीकार करते है, किन्तु दूसरो को सुधारने या दूसरो से अपनी माग पूरी कराने के लिए किये गए उपवास अर्थात् भूख-हडताल को लोग या तो वलात्कार कहते है या कायरता। मुडचिरापन कहकर लोग उसका मखौल भी उडाते है। परन्तु यदि गम्भीरता से वे इस पर सोचने लगे तो तुरन्त जान जायगे कि जो मनुष्य किसी उच्च और न्याययुक्त उद्देश्य के लिए रोज थोडा-थोडा घुल-घुलकर अपने प्राण का वलिदान करे वह कायर कैसे कहा जा सकता है? उसी प्रकार जो दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट न देकर स्वय मरणान्त कष्ट उठा लेता है वह अत्याचारी कैसे कहा जा सकता है? यदि मै आपके लिए उपवास करता हू तो मै आपके हृदय को स्पर्श करता हू। आपका दिल तुरन्त आपके दिमाग को जाग्रत करता है और आप सोचने लगते है कि यह उपवास जा है या वेजा? इसमें मेरी जिम्मेदारी कहा तक है? वह किसी एक नतीजे पर पहुचेगा, या तो उपवास-कर्त्ता गलती पर है, या खुद उसका खयाल गलत है। यदि उपवास-कर्त्ता उसकी समझ से गलती पर है तो उसमे यह हिम्मत आवेगी कि वह उसके वलिदान को सहन करे। यदि उसका खयाल गलत है तो उसे उसके सुधारने की प्ररणा होगी और वल मिलेगा। दोनो दशाओ मे वह किसी एक निर्णय पर पहुचेगा और वह उसका अपना निर्णय होगा। इस सारी विधि मे, वतलाइए, वलात्कार कहा है?

फिर जिस मनुष्य ने हिंसक साधनो का परित्याग कर दिया है, उसके पास अपने कार्य-साधन के लिए कोई अन्तिम वल भी तो होना चाहिए न। हिसा मे यदि अन्तिम वल दूसरो को मार डालना है, तो अहिसा में अन्तिम वल अपन आपको मिटा देना है। सो उपवास करते-करते अन्त मे प्राण तक दे देना अर्थात् प्रायोपवेशन करना अहिसक का ब्रह्मास्त्र है। हा, वेशक उसके लिए वहुत योग्यता और सावधानी की जरूरत है। परन्तु यदि किसीने गलत वात पर और विना प्रसग के ऐसे ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर दिया तो घाटे मे खुद वही अधिक रहेगा और अपनी साख एव प्रतिष्ठा खो वैठेगा।

किन्तु कई वार प्रयोग के दोप को हम सिद्धात का दोप मान लेते है। उसमे दवाव की कल्पना कर लेते है। यह भूल है। यहा इसे जरा विस्तार से समझ ले।

यदि भूख-हडताल का 'इशु' (प्रयोजन) गलत नही है, तो फिर भूख-हडताल मूलत दूसरे पर दवाव डालने वाली नही है। अपनी किसी न्यायपूर्ण माग को पूरा करवाने के लिए जव भूख-हडताल की जाती है, तव हम ऊपर कह चुके है कि हडताली जवरदस्ती नही करता है। वह सिर्फ प्रतिपक्षी के हृदय को स्पर्श करके मस्तिष्क को जाग्रत करता है। मस्तिष्क सोचने लगता है कि हडताली की माग पूरी की जाय या नही। इसके लिए उसे माग के औचित्य पर विचार करना पडता है, अपने हानि व लाभ उसके सामने खडे होने लगते है। फिर वह दो मे से एक वात को चुन लेता है। यह हो सकता है कि कही तो वह अपने लाभ को महत्व दे, कही नही। किन्तु जो-कुछ वह निर्णय करता है वह खूव विचार-मन्थन के वाद करता है। जहा इतनी मानसिक क्रियाए होती हो, वहा दवाव की कल्पना कैसे की जा सकती है? दवाव तो तव हो सकता है, जव सोचने और निर्णय करने का अवसर न दिया जाय। 'इशु' यदि गलत है, माग यदि न्यायोचित नही है, तो वह दुराग्रह हो सकता है, किन्तु उसमे दवाव नही हो सकता। यदि आप यह समझते है कि हडताली की माग न्यायोचित है, तो आप उसे स्वीकार कर ले, यदि समझते है कि कोरा हठ है, दुराग्रह है, तो उसे मर जाने दे। दोनो चुनाव आपके सामने है। इसमे से किसी एक के लिए आपको मजवूर नही किया जा सकता है। अव आप यदि माग के न्याय्यान्याय्य को भूलकर हडताली के कष्टो या मरण के भय से किसी वात को मजूर कर लेते है, तो यह आपकी गलती है, आपकी कमजोरी है, न कि भूख-हडताल के सिद्धात का दोप।

यदि आपका निर्णय आपको न्यायपूर्ण मालूम होता है तो आप दृढ रहिये, हडताली को मर जाने दीजिये। इसमे घवराने या डरने की वात ही क्या है? यदि हडताली सत्य और न्याय पर है, तो आखिर तक अविचल रहेगा और उसका सत्य आपको ढीला कर देगा। यदि आप सत्य पर है,

तो वह आगे चलकर ढीला पड जायगा, हडताल को आगे चलाने का उत्साह कम होता चला जायगा। यदि कोई दुराग्रहपूर्वक प्राणत्याग ही कर दे, तो अपने दुराग्रह का फल पा गया। यदि न्यायपूर्ण माग के होते हुए भी उसको प्राण ही छोड देना पडे तो वह सत्य के खातिर मर मिटा। उसका वलिदान आपसे अपनी माग पूरी कराने का वल दूसरो मे उत्पन्न करेगा। मनुष्य आखिर अन्तिम अस्त्र का प्रयोग ही तो कर सकता है, फिर वह अस्त्र चाहे पिस्तौल हो, चाहे अपना प्राणत्याग। सफलता की गारण्टी तो कोई भी नही दे सकता है। यदि दे सकता है तो शस्त्र नही, वल्कि प्राणोत्सर्ग ही दे सकता है।

मै तो जितना ही अधिक विचार करता हू, सत्याग्रही के पास अन्तिम वल के रूप मे, हिसात्मक शस्त्रो की जगह, उपवास और अत में प्रायोपवेशन ही उपयुक्त दिखाई पडते है। शस्त्र-युद्ध मे सेनापति यदि हजारो सशस्त्र सैनिको की फौज लेकर लड सकता है तो नि शस्त्र युद्ध में भी हजारो सत्याग्रही जिस प्रकार जेलो मे जा सकते है, उसी प्रकार अनशन-द्वारा प्रायोपवेशन भी कर सकते है। हा, शस्त्र-युद्ध की तरह अभी इसके नियम-उपनियम नही वने है, किन्तु जैसे-जैसे इसके प्रयोग सफल होते जायगे और हम इस दिशा मे आगे वढते जायगे, तैसे-तैसे विधि-विधानो की रचना अपने आप होती जायगी। आवश्यकता है उत्साह के साथ इनके प्रयोगो को देखने और करने की। मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि सत्याग्रह दुनिया की सुव्यवस्था और शाति के लिए एक अमूल्य ईश्वरी-प्रसाद सिद्ध हुए विना न रहेगा।

११ : भूख-हड़ताल आत्म-हत्या है ?

क्या भूख-हडताल आत्महत्या है ? इसका निर्णय करने के लिए सवसे पहली वात तो यह जाननी चाहिए कि भूख-हडताल अनशन या उपवास का एक अग है। हम ऊपर देख चुके है कि केवल आत्मशुद्धि के लिए जो किया जाता है उसे आमतौर पर उपवास कहते है, और किसी माग को पूरा कराने

के लिए जो अन्न त्याग किया जाता है उसे प्राय भूख-हडताल कहते हैं। अपनी माग को पूरा कराने के लिए मनुष्य के पास दो ही अन्तिम अस्त्र हैं—(१) या तो सामने वाले को मार गिरावे, (२) या खुद मर मिटे। पहला मार्ग सनातन से चला आ रहा है, आज भी जगत् मे उसका दौर-दौरा है, किन्तु दूसरा—कहना चाहिए कि एक तरह से तो नया है—अब नवीन प्रकाश के साथ दुनिया के सामने आ रहा है। किन्तु इसे बाज लोग 'आत्महत्या' के नाम से पुकारते हैं। मेरी राय मे 'हत्या' उसे कहते हैं जिसमे कर्त्ता का कोई उद्देश्य न हो और निरपराध का वध किया जाता हो। यदि निरुद्देश्य दूसरे को मार डाला है तो वह पर-हत्या हुई, यदि निरुद्देश्य ही अपने को मार डाला है तो वह आत्म-हत्या हुई। भूख-हडताल मे तो एक स्पष्ट उद्देश्य है, इसलिए वह आत्महत्या कदापि नही हो सकती। आत्महत्या करने वाला तो अपने जीवन से ऊबकर, जीवन मे कष्टो से घबराकर जीवन को त्यागने के लिए तैयार होता है और इसलिए वह पहले दर्जे का कायर होता है, किन्तु भूख-हडताली को कायर कैसे कह सकते हैं ? वह अपने जीवन से घबराया हुआ नही होता है, वह तो सोच-समझकर, हिसाब लगाकर, जान की बाजी लगाये हुए है। हाँ, यह बात ठीक है कि भूख-हडताल अन्तिम अस्त्र है। यदि अन्य उपायो का अवलम्बन किये बिना ही कोई एकाएक भूख-हडताल कर देता है, तो वह उस अनाडी डाक्टर की तरह है, जो दूसरी दवाओ को आजमाने से पहले इजक्शन से ही शुरूआत करता है, या उस गवार सिपाही की तरह है, जो बात-बात पर तलवार खीच लेता है और गरदन उतार लेता है। निश्चय ही थोडे दिनो मे ऐसे गवार की साख चली जायगी। या तो वह घबराकर बीच-बीच मे भूख-हडताल छोडता जायगा, या मरकर अपनी गलती की सजा आप पा जायगा।

किन्तु इस पर कहा जाता है कि यह भावुकताहीन तार्किकता है और भारत की शिक्षा और परिस्थिति के अनुकूल नही। इसपर मेरा जवाब यह है कि ऐसी भावुकता जो मनुष्य की निर्बलता को बढाती हो, उसे दबकर दूसरो की इच्छा पर चलने के लिए मजबूर करती हो, त्यागने योग्य

हो, और यदि आज भारत मे ऐसी भावुकता वडी मात्रा मे मौजूद है, तो यह भारत के लिए वल और प्रशसा की वात नही है। भावुकता पर विवेक का प्रभुत्व होना चाहिए। कोरी तार्किकता को तो मेरी भी विचारश्रेणी मे स्थान नही है। मै अनुचित भावनाओ की रोक अवश्य चाहता हू और उसके लिए जीवन मे विवेक का प्रावल्य वहुत आवश्यक है।

फिर मेरा यह भी मत है कि मनुष्य को इस प्रकार दवने देना जहा उसकी मनुष्यता को मिटाना है, तहा मै यह भी मानता हू कि मनुष्य इस तरह सदा दवकर रह भी नही सकता। दो-चार वार शुरू मे अनुचित रीति से दव जाने के वाद अपने आप उसके मन मे यह विरोध-सा उत्पन्न होगा कि मै कवतक इसके हठ के सामने झुकता रहू। ऐसा तेज यदि मनुष्य में नही है, या उत्पन्न नही हो सकता, तो फिर उसके लिए कोई आशा ही नही है।

अवतक चूकि भारत के सामने एक शस्त्र का ही मार्ग था, इसलिए इस प्रकार अपनी नजरो के सामने किसी को भूखा मरने देने का नैतिक वल उसमे आज चाहे कम दिखाई पडता हो, किन्तु यदि भूख-हडताल मे दुराग्रह का जोर होता जायगा, तो ऐसी प्रतिकार-भावना भी समाज मे वढे विना न रहेगी और उससे समाज मे वहुत शुद्ध तेज का उदय होगा, जिससे समाज एक ओर विनयशील और दूसरी ओर वहुत तेजस्वी वनेगा।

यह वात नही कि भूख-हडताल का उद्देश्य हृदय को स्पर्श और विचारो को जाग्रत करके ही पूर्ण हो जाता है, वल्कि अपनी माग को मनवाना ही उसका वास्तविक उद्देश्य है। हृदय को स्पर्श और विचारो को जाग्रत करना तो उद्देश्य-सिद्धि की आरम्भिक क्रियाए है। भूख-हडताली तो विचार जाग्रत करने के वाद प्रतिपक्षी से निर्णय भी कराना चाहता है और उसपर अमल भी, किन्तु वह विचार-पूर्वक। यदि कोई मनुष्य भावुकता-वश किसी दुराग्रह का शिकार वनता है, तो यह दोप भूख-हडताल के सिद्धात या भूख-हडताली का नही है, उसकी अपनी अति-भावुकता का है। उसे ऐसी दशा मे विवेक मे काम लेना चाहिए। दवाव तो उसको कहते है जव विना विचार करने का मौका दिये किसी पर धौस जमाकर कोई काम करा लिया

जाय। यदि मै हाथ मे पिस्तौल लेकर कहू कि वोलो, मानते हो या गोली दाग दू ? तो नि सन्देह मै उसे विचार करके निर्णय करने का मौका नही देता हू। किन्तु जव मै भूख-हडताल करता हू तव, जवतक मै मर नही जाता, रोज-व-रोज उसे तथा उसके और मित्रो को वार-वार विचार करने का मौका देता हू। भूख-हडताल का नाम सुनते ही मेरे हृदय को एक धक्का लगता है—मै सोचने लगता हू, मेरा क्या कर्त्तव्य है, इसकी माग जा है या वेजा, इसकी माग पूरी करू या इसे भूखा मरने दू? यह विचार मन्थन अवश्य होता है। इसके वाद जो निर्णय होगा, वह सही हो या गलत, जवरदस्ती कराया गया निर्णय नही है।

फिर दवाव डालना एक चीज है, दवाव पडना दूसरी। मै यह नि स-कोच होकर कहता हू कि भूख-हडताल मे दवाव डालने का उद्देश्य नही होता। जो ऐसे उद्देश्यो से करते हो, वे अधिक दिनो तक हडताल मे टिक भी न सकेगे। इसके विपरीत हर तरह की वुराई, वदनामी तथा जोखिम का मुकाविला करके भी दवाव के वशीभूत किसी को न होना चाहिए। दवाव तो तभी न पडेगा, जव मै पडने दूगा। यदि मै दवाव मे आता हू तो भूल मेरी है, न कि भूख-हडताली की। हा, भूख-हडताली को यदि यह प्रतीत होने लगे कि सामने वाला दवाव से ही उसकी माग को मजूर कर रहा है, तव उसका कर्त्तव्य है कि वह उसे चेतावनी दे और उसकी वुद्धि और विवेक को जागृत करने तथा स्वय निर्णय करने के लिए उत्साहित करे। वह उसे समझावे कि यदि तुम मेरे प्राणो के चले जाने के भय या मोह से मेरी माग कवूल करते हो तो न करो। मेरी मृत्यु को सहने का वल भगवान तुम्हे दे देगा, यदि तुम सच्चाई पर होगे। तुम्हे अपने सत्य की अधिक चिन्ता रखनी चाहिए, वनिस्वत मेरी मृत्यु के। दवाव न पडने देने की इतनी सावधानी के वाद एक भूख-हडताली इससे अधिक और क्या कर सकता है ?

भूख-हडताल चूकि नया रास्ता है, इसलिए आरम्भ मे इसमें भूले होगी, दोनो तरफ के लोग भूल करेगे। किन्तु इसमे हमे डरना न चाहिए, न जल्दी मे गलत प्रयोगो या थोडे वुरे परिणामो को देखकर उसके विरुद्ध ही राय

कायम करना चाहिए। उसकी मूलभूत अच्छाई को हमें न भुला देना चाहिए। शस्त्र-प्रयोग की अपेक्षा स्वय मरने के प्रयोग में खुद हडताली को ही ज्यादा कष्ट भोगना पडता है, इसलिए दुरुपयोग की जोखिम और भी कम है।

अब रह जाता है भूख-हडताल के अधिकार का प्रश्न। मेरी समझ में व्यावहारिक दृष्टि से यही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। खुद या मित्रो द्वारा समझाने-बुझाने के तमाम वैध और न्यायोचित उपायो के काम मे ला चुकने पर ही भूख-हडताल के प्रयोग का अधिकार मनुष्य को है। यदि विपक्षी ने सुलह का द्वार खुला रक्खा हो तो भूख-हडताल कर बैठना अनुचित प्रहार है। इसी प्रकार भूख-हडताल के मध्य में भी यदि सुलह का द्वार खुल जाता हो तो भी भूख-हडताल जारी रखना दुराग्रह हो जायगा। भूख-हडताली का बल 'सत्यबल' है। जो सच्चाई पसन्द है, वह सदा दूसरे की बात को सुनने और समझने के लिए तैयार रहेगा और उसमें से सत्य ग्रहण करेगा। इस वृत्ति का नाम समझौता-वृत्ति है और यह भूख-हडताली में अवश्य होनी चाहिए। इसके अभाव में उसके दुराग्रह में परिणत होने की बहुत आशका है।

१२ : उपवासी के प्रति हमारी दृष्टि

जब कभी कोई उपवास या भूख-हडताल करते है तो लोग अक्सर उनके प्राण बचाने की ज्यादा चिन्ता करने लगते है, उनके उद्देश्य की पूर्ति की उतनी नही। एक बार एक जैन मुनि ने उपवास किया था, तो एक-दो दूसरे जैन मुनियो ने मुझसे उनके प्राण बचाने का अनुरोध किया था। गाधीजी ने जब-जब उपवास किये है, तब भी लोगो को उनके प्राणो की अधिक चिन्ता हुई। यह स्वाभाविक-जैसा तो है, पर इसमें छिपे हमारे मोह को हमे समझ लेना चाहिए नही तो उपवास आदि का मर्म हम ठीक-ठीक न समझ पावेगे। गाधीजी के एक उपवास के अवसर पर मैंने लिखा था—

"'गाधीजी फिर उपवास करेगें'—यह सुनकर किसका दिल न धडक उठा होगा, किसके दिल से यह प्रार्थना न निकली होगी कि भगवान भारत के

इस बूढे तपस्वी की रक्षा करे ? किसे यह चिन्ता न हुई होगी कि इतनी लम्बी और शरीर को चकनाचूर कर देने वाली यात्रा से थके-मादे, अधमरे बूढे शरीर को यह कष्ट कैसे सहन होगा ? हम जबतक पामर मनुष्य है, तबतक यह सब स्वाभाविक है । किन्तु प्रश्न यह उठता है कि हमारी यह घबराहट क्या गाधीजी के योग्य है ? जिन्होने उनके आदर्शो को अपनाया है, उनके सिद्धान्तो को समझने का, उनकी भावनाओ को अपने रक्त मे मिलाने का यत्न किया है, क्या उनका अधीर हो बैठना, विकल-विह्वल हो जाना उचित होगा, गाधीजी को इससे सतोष और प्रसन्नता होगी ?

"इस दृष्टि से जब विचार करते है तो कहना होगा कि प्रायश्चित्त और आत्मशुद्धि के लिए अगीकार किये गए बडे-से-बडे कष्ट और खतरे की कल्पना से न घबराना ही गाधी-तत्व का सच्चा ज्ञान प्रकट करना है। हम उनके शरीर के जोखिम में पड जाने की चिन्ता से विह्वल अवश्य हो जाते हैं, किन्तु यह विचार करना भूल जाते है कि ऐसे उपवासो से उनकी आत्मा को कितनी शान्ति मिलती है, कैसा समाधान होता है, और साथ ही उनके अनुयायियो तथा विरोधियो पर उसका क्या प्रभाव पडता है जिससे कि उनके जीवन-कार्य की प्रगति में भारी सहायता पहुचती है ।

"बार-बार गाधीजी कहते है कि विरोधियो की बातो को सहन करो, उनके प्रति अपनी सहिष्णुता तथा अपने कार्य के प्रति अपनी दृढता के द्वारा उनके हृदयो को बदलो, उनके साथ ज्यादती या बलप्रयोग करोगे तो मुझे प्रायश्चित्त करना होगा, और बावजूद इसके जब लोग उसके विरुद्ध आचरण करते है तो गाधीजी उसका प्रायश्चित्त क्यो न करे ? मै तो समझता हू, ऐसी अवस्था मे यदि गाधीजी अपने अनुयायियो का शासन करने के लिए अपने को दण्डित न करे तो गाधीपन कुछ न रहे, और उनके जीवन-कार्य की शुद्धि, बल, पवित्रता, प्रगति सब नष्ट हो जाय । इसके साथ ही विरोधियो को शात करने, उनके हृदय मे अपने जीवन-कार्य की सत्यता अकित करने का साधन इस आत्म-ताडना से बढकर और क्या हो सकता है ? ऐसी दुर्घटनाओ से यदि गाधीजी अपने लिए यह सार निकालते हो कि अभी मुझ

में कुछ खामी, कुछ कमी, कुछ दोष, कुछ मलिनता भरी हुई है, जिसकी अभिव्यक्ति में लोगों की ऐसी हिंसावृत्ति में पाता हूं, तो उनकी शान्ति और शुद्धि के लिए भी इससे बढ़कर और उपाय क्या हो सकता है? मुझे तो बड़ा दुःख होता है जब हम गांधीजी के ऐसे उपवासों का मर्म न समझकर उन-से आत्मशोधन की स्फूर्ति पाने के बदले उनके शरीर की चिन्ता में डूबे होकर उनका विरोध या वाद-विवाद करने लगते हैं। हमारी इस मनोवृत्ति से गांधीजी को कदापि सन्तोष और आनन्द नहीं हो सकता। वे ऐसे निर्बल अनुयायियों पर कदापि अभिमान का अनुभव नहीं कर सकते। वे तो हमारी इस निर्बलता को भी अपने हृदय की अथाह दयावृत्ति से धोने का ही यत्न करेंगे, किन्तु हमारे आत्मतेज का यह तकाजा है कि हम गांधीजी के लिए गौरव की वस्तु बनें, न कि दया की। जबतक गांधीजी को यह अनुभव होता रहेगा कि लोगों ने मेरे संदेश को ठीक-ठीक नहीं समझा है, मेरे शरीर का उन्हें काफी मोह है, मेरी आत्मा और मेरे जीवन-कार्य की उतनी चिन्ता उन्हें नहीं है, तबतक विश्वास रखिए, आपके विषय में उन्हें आन्तरिक समाधान नहीं हो सकता। मुझे तो निश्चय है कि गांधीजी ऐसे उपवासों से हरगिज नहीं मर सकते, उनका शरीर भी इनसे सहसा क्षीण नहीं हो सकता, किन्तु गांधीजी अवश्य जल्दी क्षीण हो जायंगे, यदि वे यही देखते रहेंगे कि इन लोगों ने मुझे या तो गलत समझा है, या समझा ही नहीं है। मैं जानता हूं कि यह कहना भी एक तरह से गांधीजी को न समझने के ही बराबर है, क्योंकि उनके जीवन या मरण का आधार बाह्य जगत् से उतना नहीं है जितना कि आंतरिक श्रद्धा और आत्म-बल से है। फिर भी बाह्य जगत् की घटनाएं जिस अंश तक किसी पर प्रभाव डाल सकती हैं, उस अंश तक गांधीजी इस बात से अवश्य संतुष्ट होंगे कि लोग उनकी तपश्चर्याओं के महत्व को समझें, उनसे उचित शिक्षा और स्फूर्ति ग्रहण करें, न कि उनकी तरफ से उदासीन रहें या उनके केवल बाह्य रूप से ही प्रभावित होकर उसके प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित करते रहें। गांधीजी के शरीर के प्रति हम जो प्रेम दिखाते हैं, उससे उनके प्रभाव को कुछ समाधान भले ही हो, किन्तु

उनकी आत्मा को तो सच्चा सतोप और आनन्द तभी हो मकता है, जब हम उनकी आत्मिक आराधना के रहस्य को समझे, उसकी तह तक पहुच जावें और ऐसे कष्ट या खतरे के अवसर पर घबरा जाने के बदले उन्हे अपने हृदय की श्रद्धा, साहस, निर्भयता और निश्चिन्तता का सन्देश भेजे।"

यहा जो बात गाधीजी के लिए कही गयी है, वह प्रत्येक सत्याग्रही पर घटित होती है।

२–अहिसा

१ : अहिसा का मूल स्वरूप

सत्य जिस तरह स्वतत्र, निरपेक्ष और स्वयपूर्ण है उस तरह अहिंसा नही। यह सृष्टि सत्य के विभिन्न रूपो के सिवा और कुछ नही है। यह सब सत्य का ही विकास है। यदि सत्य अपने मूल निराकार स्वरूप और भावरूप में रहता तो अहिसा की कोई आवश्यकता ही न रहती, उसका उदय ही न होता। सत्य तो उस तत्व या नियम का नाम है जो अपने आप मे परिपूर्ण है और जिसे रहने या फैलने के लिए किसी दूसरी वस्तु के सहारे की आवश्यकता नही। किन्तु अहिसा निष्क्रिय पक्ष मे किसी को दु ख न पहुचाने और सक्रिय पक्ष मे प्रत्येक के साथ प्रेम करने की भावना या वृत्ति का नाम है। कोई होगा तभी तो उसे दु ख न पहुचाने का या उससे प्रेम करने का भाव पैदा होगा। जब कोई था ही नही, केवल सत्य ही अपने असली रूप मे स्थित था—एक-रूप, एक-रस था—तब अहिसा का उदय कैसे हो सकता था? किन्तु सत्य के विकसित और प्रसारित होते ही, भिन्न-भिन्न नाम-रूप धारण करते ही, उनका पारस्परिक सम्बन्ध कैसा रहे, यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न हुआ और चूकि भिन्न-भिन्न नाम-रूप वास्तव मे एक ही सत्य का विकास है, इसलिए उसमे सम्बन्ध प्रेम, सहयोग और सहिष्णुता का ही हो सकता था—इसी स्वाभाविक भावना का नाम अहिसा रक्खा गया।

इस प्रकार सत्य यद्यपि निरपेक्ष और अहिसा सापेक्ष—दूसरे की

अपेक्षा से स्थित—है तो भी जबतक सृष्टि है तबतक उसका अस्तित्व है। जबतक जगत् है और नाम-रूप है तबतक अहिंसा बनी ही हुई है। अर्थात् जबतक हम है तबतक अहिंसा है। हमारे अस्तित्व और पारस्परिक सम्बन्ध के साथ वह सदा मिली और लगी हुई है।

जब हम मूल, पूर्ण और निरपेक्ष सत्य को समझने का यत्न करते है, तब तो आगे चलकर यह भी मानना होगा कि अहिंसा भाव सत्य का ही एक अग या एक अश है। वह सत्य से बढकर तो हो ही नही सकता, बराबर भी चाहे न हो, अशमात्र ही हो, किन्तु वह सत्य से पृथक् नही है, न हो सकता है। यदि वस्तुमात्र और भावमात्र सत्य का ही विकास है तो अहिंसा को उससे पृथक् कैसे कर सकते है? फिर जगत् मे हम देखते है कि और भावो की अपेक्षा प्रेम-भाव सबसे प्रबल है। आमतौर पर प्रेम जितना आकर्षित और प्रभावित करता है उतना सत्य नही। तब यह क्यो न कहे कि सत्य का आकर्षक रमणीय रूप ही प्रेम या अहिंसा है। जो हो, इतना अवश्य मानना होगा कि सत्य और अहिंसा का नाता अमिट है और केवल सत्य को पाने के लिए ही नही, बल्कि जगत् का अस्तित्व ठीक-ठीक रखने के लिए, समाज को सुख-शातियुक्त बनाने के लिए, वह अनिवार्य है।

यह तो हुई सत्य और अहिंसा के स्थान और परस्पर सबन्ध तथा महत्व की बात। अहिंसा का मूल तो हमने देख लिया, अब उसका स्वरूप देखने का यत्न करे। सत्य जिस प्रकार एक अनिर्वचनीय तत्त्व, सत्य नियम या व्यवस्था है, उसी प्रकार अहिंसा भी वस्तुत अवर्णनीय भाव है। दोनो की प्रतीति और अनुभूति तो हो सकती है, किन्तु परिभाषा नही बनाई जा सकती। परिभाषा शब्दो और उसके बनाने वाले की योग्यता और विकास-स्थिति से मर्यादित रहती है। किसी ने अपने जीवन को पूर्ण अहिंसा और सत्यमय बना भी लिया तो शब्दशक्ति की मर्यादा के बाहर वह नही जा सकता। अपने सम्पर्क से वह अहिसा और सत्य का उदय आपमे कर सकता है, किन्तु वाणी या लेख द्वारा वह उतनी अच्छी तरह आपको नही समझा सकता। यह शब्दो द्वारा जानने की वस्तु है भी नही। किन्तु जहा तक शब्दो की पहुच

है वहा तक उसे समझाने का प्रयत्न भी अधिकारी पुरुषों ने किया है।

अहिंसा की साधारण और आरम्भिक व्याख्या यह हो सकती है—'किसी को भी अपने मन, वचन, कर्म द्वारा दु ख न पहुचाना।' यह साधक की प्रारम्भिक भावना है। इसके बाद की भावना या अवस्था है प्राणिमात्र के प्रति सक्रिय प्रेम की लहर मन मे दौडाना। इससे भी ऊपर की और अन्तिम अवस्था है जगत् के प्रति अभेद-भाव को अनुभव करना। यह सत्य के साक्षात्कार की स्थिति है। यहा अहिंसा और सत्य एक हो जाते है। इस-लिए कहते है कि अहिंसा सत्य के साक्षात्कार का साधन है। जबतक दो का भाव है तबतक अहिंसा साधन-रूप में है। जब दो मिट कर एक हो गए तब अहिंसा लोप हो गई और चारो ओर एक सत्य ही सत्य रह गया।

पहले कहा जा चुका है कि सृष्टि मे दो प्रकार के गुण-धर्म पाये जाते हैं—एक कठोर और दूसरे मृदुल। साहस, तेज, पराक्रम, शौर्य आदि कठोर और दया, क्षमा, सहनशीलता, उदारता आदि मृदुल गुणो के नमूने कहे जा सकते हैं। कठोर गुणो मे सत्य का और मृदुल मे अहिंसा का भाव अधिक समझना चाहिए। सत्य मे प्रखरता और अहिंसा मे शीतलता स्वाभाविक है। ये दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह, पुरुष और प्रकृति की जोडी की तरह, अभिन्न हैं। दुष्टता और क्रूरता जिस प्रकार सत्य की विकृति है उसी प्रकार दब्बूपन, कायरता, अहिंसा की विकृति है।

तब प्रश्न यह उठता है कि एक ओर दुष्टता और क्रूरता तथा दूसरी ओर दब्बूपन और डरपोकपन आया कहा से? और ये भाव उदय भी क्यो हुए? बुद्धि को तो यही उत्तर देना पडता है कि जब सत्य ने ही सारी सृष्टि के रूप मे विकास पाया है तब दुष्टता, कायरता आदि भी सत्य मे से पैदा हुए है और किसी-न-किसी रूप मे वे सत्य के ही साधक या पोषक होते होगे। यह मान भी ले कि इन दुर्गुणो से और दोषो से समष्टि या सृष्टि या सत्य का कोई हेतु सिद्ध होता होगा, तो भी उस व्यक्ति के लिए तो ये उस काल में सुखकारी नही हो सकते। सत्य और समष्टि के राज्य मे, सम्भव है, गुण-दोष की भाषा ही न हो, वहा तो सब कार्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप

से परस्पर पोषक ही होते हो, किन्तु साधारण मनुष्य और साधक के लिए तो गुण गुण है और दोष दोष है। सत्य स्वरूप हो जाने पर, सम्भव है, गुण-दोषो की पहुच के वह परे हो जाय, किन्तु तबतक तो गुण-दोष का विवेक रखकर ही उसे आगे बढना होगा। कहने का भाव यह है कि यदि किसी मे दुष्टता, क्रूरता और कायरता या दब्बूपन है तो उसे यह मानकर सन्तोष न करना चाहिए कि आखिर इनसे सृष्टि का कोई-न-कोई हित ही सिद्ध होता होगा—बल्कि यह मानना चाहिए कि मुझे ये सत्य और अहिंसा की तरफ नही ले जायगे। जहा दुष्टता और कायरता है वहा सत्य और अहिंसा की शुद्ध वृत्ति का अभाव ही समझना श्रेयस्कर है। जो सत्यवादी उद्दण्ड हो और अहिंसावादी डरपोक हो तो दोनो को पथभ्रष्ट ही समझना चाहिए। उद्दण्डता दूसरो को दबाती है और कायरता उद्दण्डता से डरती है। दूसरो से दबना और दूसरो को दबाना दोनो सत्य और अहिंसा की मर्यादा को तोडते है। जो मनुष्य चाहते है कि हमारा जीवन पूर्ण, स्वतत्र और सुखी हो एव हम दूसरे के सुख, स्वाधीनता और विकास मे सहायक हो उन्हे सत्य और अहिंसा की विकृति से बचकर उनकी शुद्ध साधना के सिवा दूसरा मार्ग ही नही है।

यह तो अहिंसा का तात्विक विवेचन हुआ। अब हमे उसके स्थूल रूप, उसके विकास और उसकी मर्यादाओ का भी विचार कर लेना उचित है।

२ : अहिंसा का स्थूल स्वरूप

'हिस' धातु से हिंसा शब्द बना है। इसका अर्थ है—मारना, कष्ट पहुचाना। कष्ट दो तरह से पहुचाया जा सकता है—एक तो प्राण निकाल कर और दूसरे घायल करके। यह तो हुई प्रत्यक्ष हिंसा। अप्रत्यक्ष हिंसा उसे कहते है जिससे शरीर को तो किसी प्रकार कष्ट या आघात न पहुचे, किंतु मन जख्मी हो जाय। इसे मानसिक हिंसा कह सकते है। इसी तरह हिंसक की दृष्टि से भी हिंसा दो प्रकार की हो सकती है—एक तो वह जब हिंसक अपने शरीर या शस्त्र के द्वारा हिंसा करे और दूसरा वह जब अपने मन,

बुद्धि के व्यापारो के द्वारा कष्ट पहुचावे। अहिंसा हिंसा के विपरीत भाव और क्रिया को कहते है। अर्थात् किसी के शरीर और मन को अपने शरीर या मन बुद्धि के द्वारा किसी प्रकार का कष्ट न पहुचाना अहिंसा है।

हिंसा और अहिंसा मन की वृत्तिया है। जबतक कोई भाव मन मे ही रहता है तबतक उससे दूसरे को विशेष लाभ-हानि नही पहुचती, सिर्फ अपने ही को पहुचती है। यदि मेरे मन मे किसी की हत्या करने का विचार आया तो जबतक मैं प्रत्यक्ष हत्या न कर डालूगा तबतक भला-बुरा परिणाम मुझ तक ही मर्यादित रहेगा। इसीलिए समाज या राज्य में कोई अपराध तब माना जाता है जब वह काम या उसका प्रयत्न हो चुकता है। हा, अपराध में अपराधी की भावना भी अवश्य देखी जाती है। यदि कार्य बुरा हो और भावना शुद्ध और ऊची हो तो उसका दोष कम हो जाता है। अर्थात एक दृष्टि से केवल भाव या विचार सामाजिक अपराध नही है तो दूसरी दृष्टि से भाव का महत्व क्रिया के परिणाम को न्यूनाधिक करने मे बहुत है। यद्यपि सामाजिक रूप मे क्रिया और प्रयत्न ही अपराध माना गया है तथापि इस से दूषित विचार या भाव का दोष कम नही हो जाता है। सिर्फ अन्तर इतना ही है कि उस व्यक्ति पर ही उसका विशेष असर होता है, इसलिए समाज-व्यवस्थापको ने उसे सामाजिक दृष्टि से विशेष महत्व नही दिया है। परन्तु इससे भाव और विचार का असली महत्व कम नही हो जाता। भाव से विचार, विचार से प्रयत्न और प्रयत्न से काम बनता है। इसलिए किसी भी कार्य का बीज असल मे भाव ही है। यदि कार्य से बचना हो तो ठेठ भाव तक से बचने की चेष्टा करनी होगी। फिर यदि व्यक्ति के मन मे दूषित भाव भरा हुआ है तो किसी-न-किसी दिन उससे दूषित कार्य अवश्य हो जायगा और समाज को नुकसान पहुच जायगा। केवल दूषित भावो और विचारो का भी बुरा असर पडता है। वह दूसरो मे दूषित भाव और विचार उत्पन्न करता है। इसीलिए बुरे विचारो का समाज मे फैलाना भी बुरा समझा गया है। इसके अलावा समाज के व्यक्ति जितने ही निर्दोष, शुद्ध और उच्च विचार और भाव रखते होगे उतना ही समाज में सुख, स्वातन्त्र्य,

शान्ति अधिक होगी। स्वय व्यक्ति तो उससे वहुत ऊचा हो ही जाता है। इसलिए बुरे भावो तक की रोक व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो दृष्टियो से आवश्यक है।

यहा तक तो हमने हिंसा-अहिंसा के सूक्ष्म और स्थूल रूपो का विचार किया। अब यह प्रश्न उठता है कि हिसा का निषेध क्यो किया जाता है? हिसा एक त्याज्य दोष क्यो माना गया है? यह सिद्ध है कि सृष्टि अच्छे और बुरे भावो का मिश्रण है। सृष्टि मे जब मनुष्य विविध व्यापार करने लगा तो उसे अनुभव होने लगा कि कुछ बाते ऐसी हैं जिससे हानि और दुख होता है, कुछ ऐसी जिनसे लाभ एव सुख होता है। वह लाभ और सुख पहुचाने वाली बातो को अच्छा और हानि तथा दुख पहुचाने वाली बातो को बुरा ठहराता गया। आरभ मे उसकी दृष्टि अपने सुख-दुख और लाभ-हानि तक ही केन्द्रित रही होगी—फिर कुटुम्ब समाज आदि तक उसकी परिधि बढी है। ज्यो-ज्यो यह परिधि बढती गई त्यो-त्यो अच्छी और बुरी समझी जाने वाली बातो मे भी भिन्नता होती गई। शुरू में उसने दूसरो को मार कर या कष्ट पहुचा कर अपना लाभ करने मे बुराई न समझी होगी। उसे यह स्वाभाविक व्यापार मालूम हुआ होगा। पर ज्यो-ज्यो उसकी भावनाओ का विकास हुआ और कुटुम्ब तथा समाज के सुख-दुख उसे अपने ही सुख-दुख से मालूम होने लगे, त्यो-त्यो उसे अपने सुख, स्वाद, लाभ के लिए दूसरे को कष्ट पहुचाना अनुचित प्रतीत होने लगा। उसने यह भी देखा कि स्वेच्छाचार, अत्याचार को यदि बन्द करना है तो 'हिंसा' को बुराई मानना ही पडेगा। इस प्रकार व्यक्तिगत उन्नति और सामाजिक सुव्यवस्था के लिए अहिसा की उत्पत्ति हुई, किन्तु आरम्भ मे यह मनुष्य तक ही सीमित होगी। फिर उन पशु-पक्षियो तक फैली जिनसे मनुष्य-समाज का लाभ होता था। सिर्फ उन्ही मनुष्यो या पशुओ की हिंसा क्षम्य या अपरिहार्य समझी गई जिनसे समाज को प्रत्यक्ष हानि पहुचती है। इस तरह मूलत हिसा अच्छी तो कही भी—किसी भी समाज मे—नही मानी गई है सिर्फ अनिवार्य समझ कर कही-कही उसे मर्यादित रूप मे क्षम्य मान लिया गया है।

परन्तु लाभ या हानि, सुख या दु ख से अर्थात् स्वार्थ से बढ कर भी एक उच्च भावना अहिंसा की जड मे समाई हुई मालूम होती है। मनुष्य ने देखा कि यदि मुझे कोई घायल करता है, मेरे किसी आत्मीय को कोई मार डालता है तो मुझे कितना दु ख होता है। वह नही चाहता कि उसे ऐसा दु ख कोई दे। तो उसने यह भी अनुभव किया कि दूसरे को भी—पशु-पक्षी, कीट-पतग तक को भी—मारने या घायल करने से कष्ट पहुचता है तो उसकी स्वाभाविक सहानुभूति ने उसे अपने पर एक कैद लगाना उचित और आवश्यक बताया। इस सहानुभूति या दया की भावना ने उन मनुष्यो और पशु-पक्षियो को भी न मारना, न कष्ट देना उचित समझा, जो मनुष्य-समाज को हानि भी पहुचाते हो। यदि कष्ट पहुचाना अनिवार्य हो जाय तो ऐसा ध्यान रक्खा जाय कि वह कम-से-कम हो। यहा आकर अहिंसा एक त्रिकालावाधित धर्म हो गया। इस सहानुभूति ने ही मनुष्य को एकात्मता के अनुभव पर पहुचाया। या यो कहे कि सब मे एक ही आत्मा होने के कारण स्वभावत मनुष्य में इस सहानुभूति का भी जन्म हुआ है। सब मे एक आत्मा, एक चेतन-प्रवाह है, यह जगत् का परम सत्य है और इसी के अनुसार जीवन बनाते समय अहिंसा की उत्पत्ति हुई। आगे चल कर यह भाव दृढ हुआ कि सबमें एक ही आत्म-तत्व है तो फिर न कोई किसी का शत्रु है, न कोई किसी को हानि पहुचाते है। सब अपने-अपने कर्मो के अनुसार फल पाते है और अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य करते है। जो हमे हानि पहुचाता है, या हमारा शत्रु बनता है, यह उसकी कुबुद्धि या अज्ञान है, इसलिए वह तो और भी सहानु-भूति या दया का पात्र है। जिन महापुरुषो ने इस ऊची अहिंसावृत्ति की भावना अपने अन्दर की है, उनके सामने बडे-बडे हिंस्र पशुओ ने हिंसा-भाव छोड दिया है। इसमे दो बाते सिद्ध हुई—एक तो एकात्मभाव और दूसरे उसकी साधना के लिए अहिंसा का प्रभाव।

इस प्रकार यद्यपि अहिंसा की उत्पत्ति स्वार्थ-भाव से हुई, परन्तु वह चरम सीमा तक पहुची दया-भाव के योग से। अब प्रश्न यह रहता है कि एक व्यक्ति तो अपने जीवन मे अहिंसा की चरम सीमा तक पहुच सकता है,

परन्तु सारा समाज कैसे पहुच सकता है ? और जबतक सारा समाज न पहुंचे तो किसी-न-किसी रूप मे हिंसा अनिवार्य हो जाती है। मामूली जीवन-व्यापार मे भी कई प्रकार की अनिच्छित हिंसा हो जाती है। तब व्यवहार-शास्त्रियो ने यह व्यवस्था बाधी कि अहिंसा है तो सर्वोच्च-वृत्ति, हिंसा है तो सर्वथा त्याज्य, परन्तु यदि खास-खास स्थितियो में वह अपरिहार्य ही हो जाय तो उसे क्षम्य समझना चाहिए—किन्तु उस दशा मे भी यह शर्त रख दी कि उस हिंसा मे हमारी भावना शुद्ध हो अर्थात् हमारा कोई स्वार्थ उसमे न हो। बल्कि यो कहे कि सकल्प करके यदि कोई हिंसा करनी पडे तो वह उस हिंसा-पात्र के सुख और हित के ही लिए होनी चाहिए। फिर भी यह दोष तो समझा ही जायगा। इसका दोषत्व हलका करने के लिए हमे उचित है कि हम दूसरी बातो मे उसकी विशेष सेवा-सहायता कर दें, जिससे उसको और समाज को हमारी भावना की शुद्धता का परिचय मिले।

इस विवेचन से हम इन परिणामो पर पहुचे—

(१) किसी को किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट न पहुचाना अहिंसा है।

(२) यदि मन मे हिंसा की भावना न हो और मामूली जीवन-व्यापार करते हुए किसी को कष्ट पहुच जाय तो उस हिंसा मे कम दोष समझा जाय। जैसे भोजन करने, खेती करने आदि मे होने वाली हिंसा।

(३) यदि किसी दशा मे सकल्प करके किसी को कष्ट पहुचाना पडे, तो यह केवल उसी के हित और सुख की भावना से करने पर क्षम्य समझा जा सकता है जैसे डाक्टर द्वारा किया जाने वाला आपरेशन। पिछली दोनो अवस्थाओ मे दो शर्तें है—

(अ) हिंसा की भावना न हो, और

(ब) दूसरी बातो मे हिंसा-पात्र की विशेष सेवा-सहायता की जाय।

३ : अहिंसा=शोषणहीनता

हिंसा का सामाजिक रूप है शोषण। यदि समाज से हिंसा को मिटाना है तो पहले हमे अपनी शोषण-वृत्ति पर हमला करना होगा। हम अपनी बुद्धि सत्ता, धन, ज्ञान आदि सभी बलो के द्वारा दूसरो से अपना स्वार्थ साधते है और उनको उसके बदले मे थोडा मिहनताना दे देते है। यह अन्याय है और हिंसा का ही एक रूप है। यह तो हम सब मानते है कि अहिंसा का मार्ग और अहिंसा का बल हिंसा से उत्कृष्ट और उदात्त है। अगर कोई यह कहे कि यह व्यवहार मे कठिन है तो यह उसकी कमजोरी की दलील है। लेकिन अहिंसा का अर्थ इतना ही नही है कि शरीर से किसी को चोट या नुकसान न पहुचावे, बल्कि मन से भी किसी का बुरा सोचना या बदला लेने की भावना रखना हिंसा है, क्योकि शरीर से नुकसान पहुचाये बिना भी हम दूसरो के दिलो पर घातक चोट पहुचा सकते है। इसलिए सच्ची 'अहिंसा' उसके शारीरिक क्रियाओ द्वारा प्रकट होने मे ही नही, बल्कि कर्त्ता के हृदय के वास्तविक उच्च सस्कारो मे होती है। अगर हम इस दुनिया को स्वर्ग बनाना चाहते है, और हैवान नही इन्सान की तरह रहना चाहते है, तो हमे इस गुण का विकास करना ही होगा। अहिंसा के मानी है क्रियात्मक, निष्क्रिय ही नही, प्रेम। दयालुता,क्षमा,सहिष्णुता, नम्रता और ऐसे ही कोमल और मधुर गुणो का समन्वय होना। इन गुणो के बिना समाज मे पूर्ण शान्ति और सुख के साथ रहना और सुख तथा स्वातत्र्य के पवित्र ध्येय की ओर अबाध गति से चलना असम्भव है। इसलिए हरएक व्यक्ति का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह इस उच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए अपने तन-प्राण लगा दे। दूसरे शब्दो मे कहे तो अगर हमे न्याय के आधार पर ससार मे जिन्दगी बितानी है, तो हमे समाज मे से मन, वचन और कर्म-गत शोषण की भावना का उन्मूलन करना चाहिए। शोषण का अर्थ है—जो चीज न्यायत हमारी नही है, उसका अनुचित उपयोग करना। इसलिए अगर हम न्याय और सचाई के साथ जीना चाहते है, तो हमे अपने अन्दर हिंसा का लेश भी नही

रहने देना चाहिए, क्योकि आखिर हम दूसरो का शोषण विना हिसा का सहारा लिये कर ही कब सकते है ? जहा कही समाज मे शोषण विद्यमान है, वहा अवश्य किसी-न-किसी रूप में हिसा विद्यमान होगी। हिन्दुस्तान के देहात का आज सबसे ज्यादा शोषण हो रहा है। कस्बो और शहरो के निवासी चाहे वे राजा-महाराजा हो, रईस-जागीरदार हो, शासक हो, व्यापारी हो, जमीदार हो और चाहे धर्माधिकारी हो, गावो के शोषण मे लगे हुए है। जबतक क्या शारीरिक और क्या मानसिक—हिंसा हमारे समाज से निर्मूल नही हो जाती, तबतक ग्रामो की पुनर्रचना की कोई भी योजना कामयाब नही हो सकती। इसीलिए एक ओर हमे देहातियो को कस्बो तथा नगरो के निवासियो द्वारा होने वाले शोषण का अहिंसात्मक रूप से प्रतिरोध करने की शिक्षा देनी होगी और दूसरी ओर हमें कस्बो और नगरो के निवासियो को अहिंसा का विकास करना यानी दूसरे शब्दो मे केवल समानता, न्याय और सच्चाई के उसूलो पर कायम रहकर जिन्दा रहना और फूलना-फलना सिखाना होगा। उसी दशा मे कस्बो और नगरो के निवासी देख लेगे कि उनको किसी भी प्रकार हिंसा का आश्रय लेने की जरूरत नही है और यह अच्छी तरह महसूस करेगे कि शोषण और हिसा दोनो एक-दूसरे के साथ ही रह सकते है। यह शोषण जितना अच्छी तरह खादी-सिद्धान्त के द्वारा मिट सकता है उतना और किसी तरह नही।

अहिसा की एक कसौटी तो यह है कि उसके फलस्वरूप प्रतिपक्षी की सात्विकता जाग्रत हो। पर साथ ही खादी हमारी अहिंसा-वृत्ति या शोषण-हीनता की एक दूसरी कसौटी है। जिसमे अहिंसा का सचार हो गया है या हो रहा है, वह काते विना और खादी पहने विना रह ही नही सकता, यह महात्माजी का निश्चित मत है। ऊपर-ऊपर देखने से यह बात एकाएक किसी की समझ मे न आवेगी, क्योकि जो खादी को महज एक कपडा और कातने की एक शारीरिक क्रिया मानते है उन्हे इसे समझने मे अवश्य कठिनाई पेश आ सकती है। परन्तु खादी का इतना ही अर्थ करना और समझना खादी के महान् उद्देश्य को न समझने जैसा है। यह निर्विवाद है कि वही

समाज-व्यवस्था और समाज-रचना मानव-जाति के लिए सुख, शान्ति और स्वतन्त्रता देने वाली हो सकती है, जिसमे सब परस्पर प्रेम, सहयोग और न्याय का व्यवहार करे। इन गुणो की वृद्धि के लिए अहिसा-वृत्ति का विकास होना जरूरी है। या यो कहे कि अहिसा का ही दूसरा नाम प्रेम, सहयोग और न्याय की भावना है। खादी मे ये तीनो भावनाए निहित है। खादी के द्वारा परिश्रम का न्यायोचित बटवारा जितना अच्छी तरह हो सकता है, उतना और किसी पद्धति से होता हुआ नही दिखाई देता। इसकी क्रियाओ मे जो जैसा परिश्रम करते है, उसके अनुसार उसका वाजिब मेहनताना स्वाभाविक रूप मे उन्हे मिल जाता है और उसके नफे को सीधा हडपने वाली कोई तीसरी शक्ति नही ठहर सकती। नीचे ठेठ किसान से लेकर ऊपर पहनने वालो तक सभी लोगो के सहयोग की उसमे जरूरत है और सभी का सहयोग वह बढाती है। इसका सारा आधार समाज से मुनाफा, शोषण, स्वार्थ-साधन आदि हिसात्मक वृत्तियो को मिटाने वाली शिक्षा पर है। इसलिए यह शुद्ध अहिसा या प्रेम की निशानी है। इतना सब भाव एक 'खादी' शब्द के अन्दर छिपा हुआ है। अत सत्याग्रही को चाहिए कि इसके प्रचार मे प्राणपन से जुट पडे। खादी खरीद कर पहन लेने से सतोष न माने, खुद कातने वाले बन जाय और जब सचमुच कातने लगेगे और खादी के पूर्वोक्त भाव का मनन करते रहेगे तो वे देखेंगे कि वे समाज से शोषण को मिटा रहे है और आज से अधिक अहिसा विकास वे अपने में पायगे।

४ : शंका-समाधान

परन्तु सत्य ओर अहिसा के इन श्रेष्ठ सिद्धान्तो पर अनेक तर्क-वितर्क और शकाए की जाती है। उन पर भी यहा विचार कर लेना उचित होगा। वे इस प्रकार है—(१) यदि समाज मे हम सत्यवादी और अहिसक बन कर रहे, तो चोर-डाकू हमे लूट न ले जायगे ? (२) अत्याचारी हमे बर-बाद न कर देगे ? (३) दुराचारियो के हाथो समाज और व्यभिचारियो के हाथो बहन-बेटियो की रक्षा कैसे होगी ? (४) दूसरे सशस्त्र समाज या

देश हमे निगल न जायगे ? (५) फिर इनका पालन है भी कितना कठिन ? यह तो योगी-यतियो और साधु-सन्तो के किये ही हो सकता है। झूठ बोले और डर बताये विना तो समाज मे एक मिनट काम नही चल सकता। (६) फिर अवतक इतिहास मे किसी ऐसे समाज या देश का उदाहरण भी तो नही मिलता कि जहा सत्य और अहिसा मनुष्य का दैनिक जीवन वन गया हो। (७) मनुष्य के आदिम काल मे भी तो गण-तन्त्र और प्रजा-तन्त्र थे—पर क्या वहा सत्य और अहिसा का ही साम्राज्य था ? (८) जिन ऋषि-मुनियो ने या विचारको अथवा दार्शनिको न इन तत्वो को खोज निकाला है उन्ही के जमाने मे ऐसे समाज के अस्तित्व का पता नही मिलता—फिर अव इस विज्ञान और वुद्धिवाद के युग मे, इन वातो का राग अलापने से क्या फायदा ? (९) वुद्ध, महावीर और ईसामसीह तो सत्य और अहिसा के महान् प्रचारक और हामी हुए है न ? क्या वे ससार को सत्य और अहिसा-मय वना गये ? वल्कि इसके विपरीत यह देखा जाता है कि वौद्ध और ईसाई आज सवमे वडे हिंसक साधनो को अपनाये हुए है और जैन वुजदिल वने बैठे है! (१०) हिंसा तो जव प्रकृति मे भरी हुई है, जव खुद/ईश्वर प्रकृति का ही एक रूप हिसा-प्रधान है, तव मनुष्य मे से उसे हटाने का प्रयत्न कैसे सफल हो सकता है और इस प्रकार प्रकृति और ईश्वर के विरुद्ध चलने की आवश्यकता भी क्या है ? (११) यदि लेनिन अहिसा का नाम जपता रहता तो क्या आज वोलशेविक क्रान्ति द्वारा वह ससार को चकित कर सकता था ? (१२) क्या अशोक ने अहिसा की दुहाइया देने और ढिढोरा पिटवाने का प्रयत्न नही किया ? तो क्या लोग अहिसक और सज्जन वन गये ? दुर्जनो का अन्त आ गया और वे सुधर गये ? (१३) और यदि एक समाज अथवा राष्ट्र नि शस्त्र रहने या नीतिमान वनने का वीडा भी उठा ले, तो जवतक दूसरे सभी समाज और राष्ट्र इन वातो को न अपनाये तव-तक अकेले के वल पर काम कैसे चल सकता है ? उसकी सिधाई, भलमन-साहत और नि शस्त्रता का लाभ उठाकर दूसरे समाज और राष्ट्र उसे डकार न जायगे ? (१४) क्या युधिष्ठिर तक को प्रसग पडने पर झूठ नही

बोलना पडा ? राम और कृष्ण ने दुष्टो का दलन करने के लिए हथियार नही उठाये ? क्या कृष्ण ने असत्य और कपट का आश्रय नही लिया ? गीता के रचयिता से बढ कर तुम अपने को ज्ञानी और होशियार समझते हो ? (१५) समाज का लाभ मुख्य है। जिस किसी साधन से वह सिद्ध हो, वही हमारे अपनाने लायक है। हम साधन को उद्देश्य से बढकर नही मानना चाहते। उद्देश्य को भूलकर वा समाज-हित को बेचकर हम किसी तरह सत्य और अहिंसा पर चिपके रहना नही चाहते। यह अन्ध-श्रद्धा है और हम इसके कट्टर विरोधी है। (१६) हम बुद्धिवादी और विज्ञानवादी है, जब जैसा मौका देखते है, काम करते है। उन्ही बातो को मानते है, जिनका कारण, हेतु और लाभ समझ मे आ जाये। अन्धे की तरह जिन्दगी भर एक ही दवा पीने के लिए, एक ही सडक पर चलने के लिए हम तैयार नही। (१७) कौन कह सकता है कि कपट का आश्रय लेने वाले या शस्त्र बाधने वाले उपकारी, आदर्शवादी या देशभक्त नही थे ? शिवाजी, प्रताप, क्या देश-सेवक न थे ? लेनिन क्या रूस की जनता का महान् उद्धारक नही साबित हुआ है ? (१८) अत्यन्त सत्य का पालन करने वाला व्यवहार मे भोदू और बुद्धू ठहरता है और अत्यन्त अहिंसा का पालक कायर और निर्वीर्य। दूसरे उसे ठग कर ले जाते है, बेवकूफ बना जाते है, डरा-धमकाकर अपना मतलब साध लेते है और वह सत्य और अहिंसा का पल्ला पकडे रह कर रोता बैठा रहता है। आदि-आदि।

इनका समाधान—

(१) सत्यवादी और अहिंसक बनने का परिणाम तो उलटा यह होगा कि चोर-डाकू भले आदमी बनने की कोशिश करेगे, क्योकि सत्य और अहिंसा का प्रेमी इस बात की खोज करेगा और उसका असली उपाय ढूढ निकालेगा कि समाज मे चोर-डाकू पैदा ही क्यो होते है ? भौतिक आवश्यकताओ का पूरा न होना और मन के अच्छे सस्कारो की कमी ही चोर-डाकुओ की जननी है। अतएव सत्यवादी और अहिंसक या यो कहे कि एक

सत्याग्रही या सच्चा स्वतत्र मनुष्य समाज के उस ढाचे को ही, उस नियम को ही बदल देगा, जिसमे आज, औरो के मुकाबले मे, उनकी भौतिक आवश्यकताए पूर्ण नही होती है। फिर वह सत्-शिक्षा और सत्-सस्कारो के प्रचार मे अपनी शक्ति लगावेगा, जिससे उनका विवेक-बल जाग्रत होगा और वे रफ्ता-रफ्ता हमारे ही सदृश भले आदमी बनकर चोर-डाकू बनना अपने लिए अपमान, शर्म और निन्दा की बात समझेगे। समाज मे आज भी यदि बहुताश लोग चोर-डाकू नही है तो इसका कारण यही है कि उनके लिए भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति और मानसिक विकास के सब दरवाजे खुले है। इसी तरह इन दो बातो की सुविधा होने पर वे भी अपनी बुराई क्यो न छोड देगे ?

पर हा, जबतक उनका सुधार नही हो जाता तबतक उनके उपद्रवो का डर रह सकता है। हमारी अपनी सरकार होते ही ५-१० साल के अन्दर ऐसी स्थिति पैदा की जा सकती है कि सरकार के तथा खानगी प्रयत्नो से उनके खाने-पीने आदि का सुप्रबन्ध हो जाये और उनके मन पर भी इतने सस्कार डाले जा सकते है, जिससे वे इस बुराई को छोड दे। अपनी सरकार होते ही सत्याग्रही का यह कर्तव्य होगा कि एक ओर तो वह सरकार पर प्रभाव डाले कि वह समाज-रचना के विषयो मे आवश्यक सुधार करे और दूसरे स्वत भी अपनी शक्ति उनके मानसिक विकास और आचारिक सुधार मे लगावे। उनके सुधार होने तक यदि सशस्त्र पुलिस और जेल आदि रख भी लिये जाय तो हर्ज नही है। हा, ये होगी कम-से-कम बल प्रयोग करने वाली। पुलिस का काम रक्षा करना और जेल का काम सुधार करना होगा। फिर यदि समाज मे अधिकाश लोग सत्याग्रही वृत्ति के होगे तो अव्वल तो उनके पास इतना धन-दौलत ही न होगा जो चोर-डाकू उन्हे लूटने के लिए उत्साहित हो, दूसरे जिनके पास होगा भी और वे लूटे भी जायगे तो उनकी अहिसा-वृत्ति उनसे बदला लेने की कोशिश न करेगी। या तो वे खुद ही आगे होकर, यह समझ कर कि ये पेट के लिए बुराई करते है, अपने पास से उनको आवश्यक सामग्री दे देगे, या उनके बल-

पूर्वक ले जाने पर वे उन्हे सजा दिलाना न चाहेगे, उलटा उनके सुधार और सेवा का उद्योग करेगे, जिसका कुदरती असर यह होगा कि वे शर्मिन्दा होगे, अपनी बुराई पर पछतावेगे और उसे छोडने का उद्योग करेगे।

फिर अहिंसको के मुकाबले मे हिंसको को ही उनसे तथा अत्याचारियो से हानि पहुचने का अधिक डर रहेगा, क्योकि वे अपनी प्रतिहिंसा के द्वारा उनके बुरे और हिंसक भावो को बढाते और दृढ करते रहते है। इसके विपरीत अहिंसक उनकी बुराई और हिंसा का बदला भलाई और प्रेम तथा सेवा के द्वारा चुकावेगा, जिससे ये उसके मित्र बनेगे और अपना सुधार करेगे। इसका एक यह भी सुफल होगा कि अहिंसक लोगो की वृत्ति का सुफल देखकर हिंसक भी अहिंसक बनने का प्रयत्न करेगे, जिससे चोर-डाकुओ एव अत्याचारियो की जड और भी खोखली हो जायेगी। जब हम जेल को सुधार-गृह बनाकर, जगह-जगह और खास कर ऐसे ही उपद्रवी लोगो मे पाठशालाए खोलकर, मौखिक उपदेश, साहित्य और अखबार तथा अपने सदाचरण के उदाहरण के द्वारा एव समाज के ढाचे मे परिवर्तन करके सारा वातावरण ही बदल देगे तो फिर चोर, डाकुओ और अत्याचारियो के उपद्रवो की शका रह ही कैसे सकती है? आज तो हम उनके रोगो का असली इलाज कर नही रहे है—अपनी स्वार्थी और हिंसक प्रवृत्तियो द्वारा उलटा उनको बढावा ही दे रहे है और फिर उनका डर बताकर अपने को सज्जन और सत्याग्रही बनाने से हिचकते है। यह उलटी गगा नही तो क्या है?

(२), (३), (४) चोरो और डाकुओ के बाद अत्याचारियो मे उन्ही लोगो की गणना हो सकती है जो या तो समाज मे किसी तरह, जोरो-जब्र से सत्ता को हथियाना चाहते है, या किसी की बहन-बेटी पर बलात्कार करना चाहते है। सत्ताभिलाषी स्वदेश के कुछ व्यक्ति या समूह तथा पडौस के विदेशी लोग या राष्ट्र दोनो हो सकते है। स्वदेश के लोग दो प्रकार के होगे जो सत्ता को हथियाना चाहेगे—एक तो वे जो समाज और सरकार में अपनी पूछ कम हो जाने के कारण या सत्ता छिन जाने के कारण उससे

असन्तुष्ट होगे और दूसरे वे जो तत्कालीन सत्ता या सरकार को काफी अच्छा न समझते होगे। पहले प्रकार के लोग स्वदेशी राष्ट्रो से साठ-गाठ करके भी उपद्रव मचा सकते है और पडौसी राष्ट्रो को आक्रमण के लिए बुला सकते है। परन्तु अव्वल तो इतने बडे बलशाली और प्रभुताशाली ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेने वाले लोग और उनकी बनी सरकार[१] इतनी कमजोर, अकुशल और अप्रिय न होगी कि स्वदेश के उपद्रवी लोगो का इलाज शान्तिपूर्वक न कर सके और यदि थोडे समय के लिए उसे बल प्रयोग की आवश्यकता हुई भी तो वह उससे पीछे न हटेगी। वह उन लोगो के भी सुख-सुविधा, सन्तोष आदि का इतना ध्यान रक्खेगी और उनके अन्दर ऐसा सस्कार डालने का प्रयत्न करेगी जिससे उनके असन्तोष की जड ही कट जाय। पडौसी राष्ट्रो से वह सन्धि कर लेगी, उन्हे निर्भयता का आश्वासन देकर उनसे मित्रभाव रक्खेगी और समय पडने पर बन्धुभाव से उनकी सहायता भी करेगी। उनकी विपत्तियो मे वह मित्र का काम देगी, तो फिर वे व्यर्थ ही क्यो हमपर आक्रमण करने लगेगे ? फिर आज-कल यो भी अपने-अपने देश मे स्वतत्र और सन्तुष्ट रहने की मनोवृत्ति प्रत्येक राष्ट्र मे प्रबल हो रही है। ऐसी दशा मे यह आशका रखना व्यर्थ है, और इतना करते हुए भी जबतक उनसे ऐसी किसी प्रकार के हमले की सभावना है तबतक राष्ट्रीय रक्षक सेना भी, अपवाद के तौर पर, रक्खी जा सकती है। सत्याग्रही सरकार तो एक विशेष लक्ष्य को लेकर, अपने आदर्शो की प्रचारिका बनकर स्थापित होगी। अतएव उसका प्रयत्न तो केवल पडौसी राष्ट्रो को ही नही, बल्कि सारे भू-मण्डल को अपने प्रचार के प्रभाव मे लाना होगा। और चूकि उसका मूलाधार हिंसा, प्रतिहिंसा, लूट आदि न होगे, इसलिए दूसरे राष्ट्र उसके प्रति सिवा मित्रभाव के दूसरा भाव रख ही न सकेगे।

---

१ ससार के इतिहास में सामाजिक और राष्ट्रीय रूप म सत्य और अहिंसा का प्रयोग पहली बार भारतवर्ष में हो रहा है, इसलिए प्रधानतः उसीको ध्यान में रखकर इन अध्यायों की रचना की गई है। —लेखक

अव रह गई दुराचारियो और वहन-वेटियो पर वलात्कार करनेवालो की वात। सो अव्वल तो सत्याग्रही अर्थात् सज्जन समाज मे यो ही नीति और सदाचार का वोलवाला होगा, जिससे ऐसे दुष्टो का दुराचार और वलात्कार का हौसला वहुत कम हो जायगा। और आज भी वलात्कार के उदाहरण तो इने-गिने ही होते है। छिपे या प्रकट दुराचार का कारण तो है गुलामी और सन्नीति-प्रचार की कमी। सो अपनी सरकार होते ही गुलामी तो चली ही जायगी और नीति तथा सदाचार के प्रचार और उदाहरण से इन बुराइयो को निर्मूल करना कठिन न होगा। यदि वातावरण और लोक-मत इन वुराइयो के खिलाफ रहा और सरकार ने समाज मे सदाचार को सर्वप्रथम स्थान दिया तो कोई कारण नही कि ये वुराइया समाज मे रहने पावे ।

अक्सर यह भी पूछा जाता है कि वलात्कारियो और अत्याचारियो से सावका पडने पर झूठ वोलकर या वल-प्रयोग करके काम चलाये विना कैसे रह सकते है ? यदि झूठ वोलने मे किसी की जान वचती हो, एक छोटी या थोडी हिंसा करने से वडी और अधिक हिंसा से समाज वच जाता हो, तो उसका अवलम्बन क्यो न किया जाय ? सो अव्वल तो ऐसे वलात्कारियो और अत्याचारियो के उदाहरण समाज मे इने गिने होते है। मैंने अपने कितने ही मित्रो से यह सवाल पूछा है कि आपके सारे जीवन मे कितने ऐसे प्रसग आये है, जव एक अत्याचारी तलवार या पिस्तौल लेकर आपके सामने खडा हो गया है और आपको झूठ वोलकर जान वचानी पडी हो, या कोई वलात्कारी आपकी आखो के सामने तलवार के वल किसी स्त्री पर वलात्कार करने पर उतारू हुआ हो और आपके सामने झूठ वोलने या उसे मार डालने की समस्या पैदा हुई हो ? प्रत्येक पाठक यदि इस प्रश्न का उत्तर दे तो वह सहज ही इस नतीजे पर पहुच जायगा कि ऐसी दुर्घटनाए आज भी समाज मे इक्की-दुक्की, अपवाद-रूप ही, होती है । चोर-डाकू, दुराचारी और वलात्कारी का दिल खुद ही इतना कमजोर होता है कि किसी की आहट पाते ही, जरा भी भय की आशका होते ही, उसके पैर छूटने लगते है। ऐसी

दशा में अपवाद-रूप उदाहरणो को इतना महत्व देकर समाज-व्यवस्था के मूलभूत नियमो और सिद्धान्तो का महत्व कम करना, या उनको गौण-रूप देना किसी प्रकार उचित नही है। दूसरे यदि मनुष्य सचमुच सत्याग्रही, या पूरे अर्थ में सज्जन है, तो उसकी उपस्थिति का नैतिक प्रभाव, जो भी उनके साथ या सामने हो, उसपर पड़े बिना नही रह सकता। यदि कही इने-गिने अवसर जीवन मे ऐसे आते भी है कि मनुष्य सत्य और अहिंसा का पालन करते हुए बड़े धर्म-संकट में पडता है, तो उसे सजग और दृढ रहकर अपने नियम पर डटे रहना चाहिए। वास्तविक सत्य और अहिंसा का प्रभाव तो कभी विफल हो ही नही सकता, किन्तु यदि मान भी ले कि इनका अव-लबन करने से ऐसे समय में कुछ हानि, किसीकी गिरफ्तारी, वध, सतीत्व-हरण आदि न भी बच सके, तो वह उतना बुरा नही है, जितना झूठ या हिंसा का आश्रय लेकर ऐसे किसी प्रसग पर तात्कालिक लाभ या बचाव कर लेना। मनुष्य के किसी भी कार्य का असर अकेले उसी पर नही होता। उसकी जिम्मेवारी जितनी अधिक होती है उतना ही उसका असर बढता जाता है। उसे सदा इस बात का ध्यान रखना पडता है कि मुझसे कोई काम ऐसा न बन पडे, जिसकी मिसाल लेकर दूसरे भी वैसा ही करने लगें। यदि एक सत्य या अहिंसावादी, आनबान के और परीक्षा के ऐसे अवसरो पर ही, अपने नियम से डिगने लगे तो उसकी सच्चाई और दृढता ही क्या रही? यो तो आम तौर पर हर आदमी, जबतक कोई भारी दिक्कत नही आती, या कोई धर्म-सकट नही उपस्थित होता, तबतक नियमो का पालन करता ही है। आजमाइश का मौका तो उसके लिए ऐसे अपवादो और असमजसताओ के समय ही होता है और उन्ही में यदि वह कच्चा उतरा तो फिर वह बेपेंदी का लोटा ही ठहरेगा। जहा खतरे का या दृढता का अवसर है वहा यदि वह दुम दबाने लगा, या डगमगाने लगा, तो फिर उसकी सच्चाई पर कौन विश्वास करेगा? यदि वह सचमुच सत्य और अहिंसा का कायल है, तो ऐसे प्रसगो पर अव्वल तो आततायियो को समझाने और उनके दिल तथा धर्म को जाग्रत करने—अपील करने—का अवसर थोड़ा-बहुत जरूर रहता

है। यदि इसमें वह विफल हुआ, या इसके लिए अवसर नही है, तो वह वजाय इसके कि खामोश देखता हुआ या भागकर अथवा छिपकर आततायी का मनोरथ पूरा होने दे, उसके और मजलूम के वीच में पड जायगा और अपनी जान मे जान है तवतक उसे अत्याचार या वलात्कार न करने देगा। एक वलात्कारी की क्या हिम्मत कि वह उसके प्राण लेकर भी वलात्कार पर आमादा रहे ? चोर-डाकुओ को उनकी इच्छित चीजे या तो खुद आगे होकर दी जा सकती है, या उनकी रक्षा मे अपने प्राणो की आहुति दी जा सकती है। यदि हम सचमुच प्राणो को हथेली पर लिए फिरते हैं तो हमारे इस वलिदान का नैतिक असर या तो उसी समय या कुछ समय वाद खुद उन्ही आततायियो पर और उनके दूसरे लोगो पर भी पडे विना न रहेगा। समाज के सामने भी हम नियम-पालन, निर्भयता और वलिदान की मिसाल पेश करेगे, जिसका नैतिक मूल्य उसके लिए भी वहुतेरा होगा। आततायियो की आत्मा जाग्रत होगी, समाज मे निर्भयता और वलिदान के लिए दृढता आवेगी। यदि झूठ वोलकर ऐसी अवस्था मे काम चलाया जाय तो मेरी राय में वह सिवा कायरता के और कुछ नही है। ऐसे अवसर पर भाग जाना और झूठ वोलना वरावर है। भाग जाना शारीरिक क्रिया है और झूठ वोलना मानसिक—इसलिए वह अधिक वुरा है। भाग जाने या झूठ व्रोलनेवाले की अपेक्षा तो आततायी को मार डालने वाला ज्यादा वहादुर है—लेकिन विना हाथ उठाये, उनके अज्ञान ओर आवेग पर दया खाकर, अपनी आहुति दे देने वाला सब तरह श्रेष्ठ, वीर, आदरणीय और अनुकरणीय होता है। अहिंसक मे एक नवर की वहादुरी होती है। वह खतरे से नही घवराता, दूसरे की रक्षा, सहायता के लिए जीवन का कुछ मूल्य नही समझता, मृत्यु उसके सामने एक भय नही, वल्कि एक सखी होती है और जिसे मृत्यु का अथवा और सकटो एव आपत्तियो का भय नही है उसके लिए अत्याचारियो और वलात्कारियो के सामने कायरता दिखाने का मौका और प्रश्न ही क्या है ?

(५) यह वडे आश्चर्य की वात है कि जो व्रात बहुत सीधी, सरल,

सुसाध्य और स्वाभाविक है वह कठिन समझी जाय। क्या सच बोलने और सच कहने से ज्यादा आसान झूठ बोलना और उसे निवाहना है ? एक झूठ को छिपाने या मजबूत बनाने के लिए आदमी को और कितना झूठ बोलना पडता है, कितनी उलझनो और परेशानियो मे पडना पडता है और अन्त में पोल खुलने पर उसे कितना बदनाम होना पडता है, अपनी सारी साख खो देनी पडती है। क्या इससे कठिन और हानिकारक सच का बोलना और करना है ? क्या किसी के साथ प्रेम करना, दया दिखाना, माफ कर देना ज्यादा मुश्किल है, बनिस्वत उससे घृणा या द्वेष करने या मार-पीट करने और मार डालने के ? जरा दोनो क्रियाओ के परिणामो पर तो गौर कीजिए। हमारे मन पर प्रेम, सचाई, क्षमा, सहयोग, उदारता, उपकार के सस्कार अधिक होते है या असत्य और हिसा, घृणा, द्वेष आदि दुर्विकारो के ? खुद अपने कुटुम्ब के तथा समाज के और पशु-पक्षी के भी जीवन को हम बारीकी से देखेगे तो हमको पता चलेगा कि पहले प्रकार के सस्कार अधिक है और इसीलिए यह समाज एव ससार टिका हुआ है तो फिर मनुष्य के लिए अधिक सरल, सुसाध्य और स्वाभाविक बात क्या होनी चाहिए—सत्य और अहिसा का पालन या असत्य और हिसा का ? जिसके परिणामो का स्वागत करने के लिए लोग उत्सुक रहते है वह, या जिसका विरोध और प्रतिरोध करने पर तुले रहते है वह ?

भला कोई बतावे तो कि योगी-यति कहे जाने वालो और सासारिक पुरुष कहे जाने वालो के जीवन-नियमो मे फर्क क्या है ? क्या सासारिक मनुष्य पूर्ण स्वतत्रता का उपासक नही है ? यदि है तो वह सत्य और अहिसा की अवहेलना कैसे कर सकता है ? योगी-यति या साधु-सन्त तो हम उन लोगो को कहते है, जिनकी रग-रग मे ये दोनो बाते भर गई है। ऐसी दशा मे तो जिन लोगो को सच्चा स्वतत्र, पूरा मनुष्य हमे कहना चाहिए और जिनके जीवित आदर्शो को देख-देख हमे अपना जीवन स्वतत्र और सुखी बनाना चाहिए, उनकी हम मखौल उडाकर स्वतत्रता के पाये को ही ढीला कर डालना चाहते है। जो मन, कर्म और वचन से जीवन के अच्छे

नियमो का पालन करता है वही योगी यति और साधु-सन्त है । किसी गृहस्थ या सासारिक समझे जाने वाले व्यक्ति के लिए मन-कर्म-वचन से सच्चा होना क्यो मुश्किल, मुजिर और बुरा होना चाहिए, यह समझ मे नही आता । झूठ बोल देने, या मारपीट कर देने से थोडे से समय के लिए काम बनता हुआ भले ही दिखाई दे, पर आगे चलकर और अन्त को उसकी साख उठे बिना एव उसपर प्रतिहिसा का आक्रमण हुए बिना न रहेगा, जिसकी हानि सत्य ओर अहिसा का पालन करने मे दिखाई देने वाली कठिनाइयो से कही बढकर होगी । सत्य और अहिंसा का पालन करने के लिए तो सिर्फ स्वतत्रता के प्यार की, हृदय को सच्चा और सरस बनाने की आवश्यकता है । क्या यह बुरी और कठिन बात है ? मनुष्य का यह सबसे बडा भ्रम है कि झूठ बोले बिना ससार मे एक मिनट काम नही चलता । जैसे हम होगे वैसा ही समाज बनायगे । यदि आज समाज गिरा हुआ है, पिछडा हुआ है, उसमे झूठ, पाखण्ड और हिंसा का बोल-बाला है और यदि हम सच्चे मनुष्य और स्वतत्रता के प्यासे है, तो हमारे लिए अधिक आवश्यक है कि हम दृढता और उत्साह से इन नियमो का पालन और प्रचार करके समाज को सुधारे । गदे, गिरे और पिछडे समाज मे यदि ये बाते कठिन, हानिकर और भयकर प्रतीत होती है, तो स्वच्छ, उठे ओर आगे बढे समाज मे क्यो होने लगी ? और यदि अच्छी, हितकर बाते कठिन हो, महगी भी हो, तो भी वे प्राप्त करने और रखने योग्य है तथा बुरी बाते यदि आसान और सस्ती भी हो तो भी छोडने और फेक देने योग्य है । अच्छी बाते शुरू मे कठिन होने पर भी आगे चलकर आसान हो जाती है । और बुरी बाते शुरू मे आसान होने पर भी अन्त मे उलझन और परेशानी मे डाल देती है—यह किसे अनुभव नही होता है ? ससार मे शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो, जिसने सत्य के बजाय झूठ को और प्रेम के बजाय द्वेष को अपने जीवन का धर्म माना हो और जो सदा-सर्वदा झूठ ही बोलकर, गालिया ही देकर या मारपीट कर ही जीवन-यापन करता हो । यदि यह ठीक है, और झूठ या भय-प्रयोग अर्थात् हिंसा मनुष्य की कमजोरी

के साथ थोडी रियायत-मात्र है, केवल अपवाद है, तो फिर यह कहना कहां तक ठीक है कि झूठ ओर धमकी के विना ससार का काम चल ही नही सकता। आज जो झूठ और भय-प्रयोग दिखाई दे रहा है या उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है उसका कारण यही है कि हम अपनी कमजोरियो से विल्कुल ऊपर उठने का सतत प्रयत्न नही करते है, रियायतो से लाभ उठाने और सुविधाए भोगने का आदी हमने अपने को वना रक्खा है, अपनी वर्तमान नर-पशुता को ही हमने मनुष्यता समझ रक्खा है। मनुष्य ने अभी तक सामूहिक रूप से सच्ची मनुष्यता या सामाजिकता के पूरे दर्शन नही किये है, और जिस हद तक किये है, उनका पालन करने मे वह सदा ही एक-से उत्साह से अग्रसर नही रहा है। इस पर यह कहा जा सकता है कि यह सृष्टि तो ऐसी ही चली आ रही है, और चलती रहेगी—मनुष्य और समाज को पूर्ण और आदर्श वनाने की उछल-कूद चार दिन की चादनी से अधिक नही रह सकती तो इसका उत्तर यह है कि फिर मनुष्य मे वुद्धि और पुरुषार्थ नामक जो महान् गुण और शक्तिया हम देखते है उनका क्या उपयोग ? यह तो काहिली और अकर्मण्यता की दलील प्रतीत होती है।

(६) इतिहास मे ऐसे व्यक्तियो के तो उदाहरण जरूर मिलते है, जिनकी मानवी उच्चता, श्रेष्ठता और भव्यता को लोग मान रहे है। वहुत दूर के ऋषि-मुनियो को जाने दीजिये—ऐतिहासिक काल के वुद्ध, महावीर, ईसा, सेट फ्रासिस आफ एसिसि, तुकाराम, रूसो, टाल्सटाय, थोरो और वर्तमान काल के रोमा रोला तथा महात्मा गाधी के ही नाम इसके लिए काफी है। इतिहास मे यदि किसी अहिंसा और सत्य के पुजारी देश या समाज का उदाहरण नही मिलता तो क्या इससे यह सिद्ध हो सकता है कि इतिहास का वनना अव खतम हो चुका ? क्या हम लोग कोई नया इतिहास नही रच सकते ? मेरा तो खयाल है कि भारतवर्ष इस समय एक नये और भव्य इतिहास की नीव डाल रहा है। कुछ साल पहले जिस अहिंसा का मजाक उडाया जाता था और अहिंसा की दुहाई देनेवाला जो गाधी पागल और हवाई किले वनाने वाला समझा जाता था उसी अहिंसा के वल और

सगठन की प्रशसा आज सारे जगत् मे हो रही है और वही गाधी आज महान् जागृति का नेता बन रहा है—हालाकि अभी तो यह शुरूआत-मात्र है। जब हम अपनी आखो के सामने अहिंसा और सत्य के बल को फैलते और अपना चमत्कार बताते हुए देख रहे है तब इतिहास के खण्डहरो को खोदने की क्या जरूरत है ?

(७) आदिम-कालीन गणतत्रो और प्रजातत्रो के टूटकर उनकी जगह बडे-बडे एकतत्री साम्राज्यो के बनने का कारण यह है कि उनमे अहिंसा और सत्य का प्रचार नही था। जो-कुछ था वह यही कि छोटी-छोटी जातिया अपनी-अपनी पचायते बनाकर अपना मुखिया चुन लेती थी और अपना काम-काज चला लिया करती थी। अपने मुखिया के अतिरिक्त और किसी का शासन वे न मानती थी। उनकी स्वतत्रता का अर्थ था—पचायत के अधीन रहना। उनमे अपनी इच्छा के खिलाफ दूसरे से न दबने का तो भाव था, पर जातीयता या सामाजिकता को अक्षुण्ण रखने के लिए परम आवश्यक सत्य और अहिंसा की कमी थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का न्याय प्रचलित था। लोग आपस मे लडते-झगडते थे, और न्याय के लिए पचायतो मे उन्हे आना पडता था। नीति और सभ्यता उनमे थी तो, पर वह ज्ञान-पूर्वक उतनी नही थी, जितनी परम्परागत थी। फिर भी उस समय की और अब की नीति और सभ्यता की परिभाषा मे भी कितना अन्तर है ! उन गणतत्रो का टूट जाना और उनकी जगह महान् साम्राज्यो का स्थापित होना उलटा इसी बात को सिद्ध करता है कि उनमे सत्य और अहिंसा की कितनी आवश्यकता थी।

(८) भारतीय ऋषि-मुनियो के समय मे सत्य और अहिंसा को सामाजिक रूप प्राप्त करने का अवसर इसलिए नही मिला कि उस समय मे समाज के पूर्ण परिणत रूप की कल्पना के इतने स्पष्ट दर्शन नही थे। उनके काल मे यद्यपि नीति का प्रचार था, राजा या मुखिया लोग भी जनता का हित-साधन करते थे, फिर भी शस्त्र, सेना आदि सामाजिक आवश्यकताए समझी जाती थी। और यह निर्विवाद है कि जबतक समाज से झूठ और

तलवार का पूर्ण वहिष्कार नही हो जाता, तवतक वह स्वाधीन किसी भी दशा मे नही हो सकता।

मेरी समझ मे नही आता कि विज्ञान और वुद्धिवाद सत्य और अहिंसा के विरोधक कैसे हो सकते हैं ? सत्य का शोध तो विज्ञान का और सत्य का निर्णय वुद्धि का मुख्य कार्य ही ठहरा। विज्ञान और वुद्धिवाद का अर्थ यदि उपयोगितावाद लिया जाय तो सत्य और अहिंसा समाज के लिए महान् उपयोगी और कल्याणकारी सावित हुए विना न रहेंगे—और अपवादरूप परिस्थितियो को साधारण स्थिति से भी अधिक महत्व देना न तो विज्ञान के अनुकूल होगा, न वुद्धिवाद के। वैद्य रोगी की हालत देखकर दवा, पथ्य, अनुपान वतलाता है, पर वुखार मे हैजे की दवा नही देता, और हृदयरोग को दूर करने के लिए धडकन वन्द करने वाली दवा नही देता। सत्य और अहिंसा सामाजिक रोगो की छोटी-छोटी औषधि नही है, वल्कि समाज की नीव है, जिनको हिलाकर समाज की रक्षा करना और उसे स्वाधीन वनाने का खयाल तक करना व्यर्थ है।

(६) वुद्ध, महावीर ओर ईसा ने जरूर सत्य और अहिंसा के जवरदस्त उपदेशो द्वारा मनुष्य-जाति को वहुत आगे वढाया है। इतिहास मानव-विकास के अवलोकन-कर्त्ता इस वात मे किसी प्रकार इन्कार नही कर सकते। अपने पैदा होने के समय की अपेक्षा उन्होने मानव-समाज को उन्नति के पथ मे अग्रसर होने के लिए वहुत जोर का धक्का दिया हे। पीछे उनके अनुयायियो ने यद्यपि उनकी सत्‌शिक्षाओ का दुरुपयोग किया है, जिसके फलस्वरूप वे नीचे गिर गये है, पर उनकी शिक्षाओ और प्रेरणाओ से आज भी समाज लाभ उठा रहा है। वे साहित्य और समाज मे फैल गई है। यदि इतिहास मे से वुद्ध, महावीर, ईसा को और मानव-जीवन मे से उनकी सत्‌शिक्षाओ को निकाल दीजिए तो तुरन्त मालूम हो जायगा कि जगत् और मानव-जीवन कितना दरिद्र और दु खी रह गया होता। मनुष्य मे अभी तक जो कमजोरिया, फिसल पडने और दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति वची हुई है उनका यह परिणाम है। अतएव इससे यह नतीजा नही निकला कि वुद्ध आदि अपने कार्य मे

विफल हुए, वल्कि यह कि मनुष्य को अभी दृढता और नि स्वार्थता की माधना वहुत करना वाकी है। उमे इसमे सचेप्ट रहने की जरूरत है।

(१०) प्रकृति मे यदि हिमा दीख पडती है और ईश्वर भी प्रमगोपात्त हिसा करता है तो इसमे यह नतीजा हर्गिज नही निकलता कि मनुष्य भी हिसा अवश्य करे। देखना चाहिए कि प्रकृति आर ईश्वर ने मनुष्य को किम उद्देश्य से वनाया है। यदि उन्होने उमके अन्दर स्वाधीनता के भाव पैदा किये है, साय ही मामाजिकता भी कूट कर भर दी है एव पुरुपार्थ और वुद्धि नामक दो शक्तिया उमे दी है फिर, मरमता और स्नेह मे भी उमे परिप्लुत किया है, तो फिर वह इन गुणो और शक्तियो का उपयोग क्यो न करेगा ? प्रकृति ओर ईश्वर ने तो मृष्टि रच दी और उनके रहने और मिटने के नियम वना दिये। उमकी मृष्टि मे अवतक मनुष्य से वढकर किमी जीव का पता नही लगा है। अतएव वह अपने से हीन जीवो का अनुकरण नही कर मकता। वह प्रकृति और ईश्वर की रचना मे श्रेष्ठता, उच्चता, भव्यता का नमूना है और उसे यह सिद्ध करना होगा। फिर प्रकृति और ईश्वर से वढकर या उनके समान तो मनुष्य है नही, जो हर वात मे इनकी वरावरी का दावा करे। यदि वह इनकी रचना है तो वह हर वात मे इनके समान हो भी कैसे मकता है ? यदि वह इनमे वडा और श्रेप्ठ है तो इनके हीन गुणो का अनुकरण उसे क्यो करना चाहिए ? इसके अलावा प्रकृति और ईश्वर की हिसा मे कल्याण छिपा हुआ रहता है, मनुष्य की हिमा मे स्वार्थ। इमलिए भी वह उनका अनुकरण नही कर सकता।

(११) लेनिन का उदाहरण यहा मौजू नही है। मेरा कहना यह नही है कि हिंसा 'शार्ट कट' का काम नही देती है, या मनुष्य-समाज म अवतक उनके उपयोग का आदर नही चला आ रहा हे। मेरा मतलव तो यह हे कि यदि हमे ममाज-रचना मे पूर्ण स्वतत्रता का आदर्श प्रिय है, यदि हम मनुष्य-समाज को एक कुटुम्व के रूप मे देखने के लिए उत्सुक है और यदि हमे कीडो-मकोडो की तरह जीवन विताने वाले अपने करोडो भाई-वहनो को मनुष्यता के मच्चे गुणो से लाभान्वित करना है, तो हमे सत्य और अहिसा

का अवलम्बन किये विना गुजर नही है। लेनिन ने जो क्रान्ति की है और जिस तरह की समाज-रचना करनी चाही है वह अभी पूर्णता को कहा पहुची है? पूर्ण समाज की कल्पना मे तो उसे भी अहिंसा को अटल स्थान देना पडा है और प्रत्येक विचारशील मनुष्य इसी नतीजे पर पहुचे विना न रहेगा। यदि रूस मे उसे हिंसा का अवलम्बन शुरूआत मे या थोडे समय के लिए करना पडा तो एक तो यह उसके प्रभाव के कारण था, और दूसरे वहा वालो को अहिंसा के बल और परिणाम पर इतना भरोसा नही था, जितना अब हम भारतवासियो को होता जा रहा है। भारत की स्थिति जुदा है। हमने वह चीज पहले ही पा ली है, जिसके लिए रूस को अभी और ठहरना होगा। तो हम यहा क्यो अपनी स्थिति के प्रतिकूल हिंसा का नाम लेकर खुश हो और अपने उद्देश्य के प्रतिकूल चलने मे सुख और सन्तोष माने?

(१२) इसका उत्तर न ९ मे आ जाता है। इतना और कह देने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि यदि बुद्ध, महावीर, ईसा-मसीह, अशोक आदि ने सत्य, प्रेम, दया, अहिंसा आदि का उपदेश और प्रचार जन-समाज मे न किया होता और उनका असर लोगो पर न हुआ होता या न रहा होता तो आज महात्माजी के वर्तमान अहिंसा-सग्राम को न भारत मे इतना सहयोग मिला होता और न ससार मे उसकी इतनी कदर हुई होती।

(१३) यह दलील तो वैसी ही है, जैसी यह कि जबतक सारा समाज ऐसा न करे तबतक मै अकेला क्यो करू? इस दलील मे यदि कुछ सार ही होता तो मनुष्य-समाज का अबतक इतना विकास ही न हुआ होता। एक आदमी उठकर पहले एक चीज करके दिखाता है तब दूसरे उसे अपनाते है। पहले आदमी को अवश्य जोखिम उठानी पडती है। भारत इसके लिए तैयार हो रहा है। फिर अहिंसा और सत्य अर्थात् प्रामाणिकता के पक्ष मे वह अकेला ही नही है। तमाम समाजवादी और कुटुम्बवादी समुदाय, तमाम आदर्शवादी लोग उसमे साथ है। सचाई और अहिंसा का मतलब बेवकूफी नही है, न बुजदिली ही है। जो सदा सजग रहता है, वही सत्य और अहिंसा का प्रेमी बन सकता है। भारत गुलाम इसलिए नही बना कि वह

सत्य और अहिसापरायण था, वल्कि इसलिए कि उसमे फूट और स्वार्थ-साधना प्रवल थी। इसलिए दूसरे राष्ट्रो के डकार जाने का भय व्यर्थ है।

(१४) युधिष्ठिर ने यदि सारे जीवन मे एक प्रसग पर 'नरो वा कुजरो वा' अर्द्ध सत्य कहा तो उससे कम अनर्थ ससार मे नही हुआ है। उससे लाभ तो सिर्फ इतना ही हुआ कि अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य का वध हो गया, किन्तु हानि यह हुई कि आज लाखो लोग धर्मराज की इतनी-सी झूठ का सहारा लेकर वडे-वडे मिथ्याचार करते है और फिर भी अपने को निर्दोष समझते है। खुद युधिष्ठिर को नरक मे से होकर स्वर्ग जाना पडा था और उनका एक अगूठा गल गया था। यद्यपि महाभारतकार ने इतनी-सी झूठ को भी क्षमा नही किया, तथापि जन-समाज मे वह आज भी वडी-वडी झूठो का आश्रय वनी हुई है। युधिष्ठिर की इस च्युति मे सत्य की असभवता नही प्रतीत होती, वल्कि खुद उनकी कमजोरी ही प्रकट होती है। इसी तरह कृष्ण ने यदि युद्धो मे कपट का आश्रय लिया है या राम आदि ने दुश्मनो का सहार किया है तो इसमे कपट और हिसा की अनिवार्यता नही सिद्ध होती, वल्कि राम ओर कृष्ण-कालीन समाज की विकासावस्था पर प्रकाश पडता है। इससे तो एक ही नतीजा निकलता है कि उनके समय मे युद्ध या राजनीति मे थोडा वहुत कपट शस्त्र-वल जायज समझा जाता था। पर आज दुनिया मे ऐसे विचारशील ओर क्रियाशील पुरुष भी पैदा हो गये है, जिन्होने सारे समाज और राष्ट्र के लिए कपट, झूठ और हिसा के अनिवार्य न रहने की कल्पना कर ली है ओर जिन्होने इस दिशा मे काम करके दिखाया है। इनके थोडे से कार्य का भी फल ससार को आश्चर्य मे डाल रहा है। अतएव ठहर कर हमे इन प्रयोगो के पूर्ण फल की राह देखनी चाहिए। इतिहास या ऐतिहासिक पुरुष हमारा साथ न दे तो हमे घवराना या निराश न होना चाहिए।

(१५) यह दलील तो तव ठीक हो सकती है, जव सत्य और अहिसा

(१५) यह दलील तो तव ठीक हो सकती है, जव सत्य और अहिसा
प्रत्येक धर्म आर सम्प्रदाय, प्रत्येक समाज-व्यवस्थापक न सत्य आर आहसा—सचाई ओर प्रेम—को सर्वोपरि नियम माना है ? हा, राजनीति मे युद्ध के

समय शत्रु के मुकाबिले मे अपवाद-रूप कपट या हिंसा का मार्ग बड़ों ने खुला अवश्य रखा है, पर साथ ही उन्होंने इस बात की भी चिन्ता रक्खी है कि—'सत्यान्नास्ति परो धर्मः' 'सत्यमेव जयते नानृतम्' 'अहिंसा परमो धर्मः' इन अटल और समाज के नींवरूप नियमो का महत्व किसी तरह कम न होने पावे। जिन महान् पुरुषो और नेताओ ने सत्य और अहिंसा की इतनी महिमा गाई है, या तो वे बेवकूफ थे, अन्धे थे, झूठे थे, या सासारिक और सामाजिक लाभालाभ के अनुभवी थे। यदि आज भी हम अपने गार्हस्थ्य और समाज-सचालन की जड़ो को टटोले तो उनमे सत्य और अहिंसा ही अद्भुत और व्यापक रूप मे कार्य करते हुए दिखाई देगे। अतएव जिन नियमो पर समाज का स्थायी कल्याण और अस्तित्व अवलम्बित है उन्हे यदि समाज के धुरीण लोग इतनी उच्चता और महत्ता दे तो इसमे कौन आश्चर्य है? जरा कोई एक दिन भर तो झूठ-ही-झूठ बोल कर, दगा-फरेब ही करके और मार-काट तथा गाली-गुफ्ता ही कर के देख ले। एक ही दिन मे वह अनुभव कर लेगा कि उसकी जिन्दगी कितनी मुश्किल हो गई है। जो लोग व्यवहार मे झूठ और हिंसा का आश्रय ले के थोडा-बहुत काम चला लेते है, वे थोडे लाभो के लालच मे बडे लाभो को खो देते है, वे छोटे व्यापारी है, टटपूंजिये है। ससार मे साख और ईमानदारी की इतनी महिमा क्यो है? और झूठे और प्रपची आदमियो से भले आदमी क्यो दूर रहना पसन्द करते है? अतएव जो यह विचार रखते है कि सत्य और अहिंसा आदि सिद्धातो पर अटल रहने से समाज का घात होगा, या यह समझते है कि दीखने वाले समाज के लाभ के लिए झूठ और हिंसा का सहारा बुरा नही है—वे भ्रम मे चक्कर काट रहे है। वे मुहरो को खोकर कोयलो को तिजोरियो मे बन्द रखने की चेष्टा करते है। मनुष्य और समाज का सारा व्यवहार चारित्र्यशील पर चलता है। जो मनुष्य हाथ का सच्चा, बात का सच्चा और लगोट का सच्चा होता है, वह समाज मे सच्चरित्र कहलाता है। इन सच्चाइयो को खोकर कोई अपना हित साधना चाहे तो उसे जिस डाल पर बैठे है उसी को काटने वाला न कहे तो और क्या कहेगे? और यही नियम एक कुटुम्ब तथा समाज

या राष्ट्र पर भी भलीभाति घटित होता है। समाज का हित और उद्देश्य आखिर क्या है ? पूर्ण तेजस्विता, पूर्ण स्वाधीनता, यही न ? तो अब बताइए, कि ईमानदारी और स्नेह-सहानुभूति को खोकर कोई कैसे अपने समाज को तेजस्वी और स्वाधीन-वृत्ति बनाये रखने की आशा कर सकता है ? यदि निमोनिया को जल्दी ठीक करने के लिए मैने ऐसी दवा खा ली, जिससे उलटा फेफडा ही बेकार हो गया, तो मुझे समझदार और शरीर का हितचिन्तक कौन कहेगा ? कामेच्छा की पूर्ति के सीधे रास्तो को छोड कर कोई मनुष्य वैश्या-सस्था की उपयोगिता और आवश्यकता का प्रचार करने लगे तो उसे जितना अक्लमन्द कहा जायगा उससे कम अक्लमन्द वह शख्स न होगा, जो झूठ-कपट और मार-काट को समाज के लिए अनिवार्य बतावेगा। मनुष्य के समाज-सुधार के आजतक के प्रयत्नो के होते हुए भी यदि कुछ बुराइया उसमे शेष रह गई है तो उससे यह नतीजा नही निकलता कि अबतक के उसके प्रयत्न बेकार हुए है, बल्कि यह स्फूर्ति मिलनी चाहिए कि अभी और पूरे बल से उद्योग करने की आवश्यकता है।

(१६) समाज मे दो प्रवृत्ति के लोग पाये जाते है—एक तो वे जो 'आज' पर ही दृष्टि रखते है, और दूसरे वे जो 'कल' पर भी नजर रखते है। पहले लोग अपने को 'व्यावहारिक', बुद्धिवादी या विज्ञानवादी कह कर दूसरे को 'आदर्शवादी' या सिद्धान्तवादी कहते है। इधर दूसरे दल के लोग पहले वर्ग वालो को अ-दूरदर्शी और घाटे का सौदा करने वाले कहते है। जमीन पर खडे रहने वाले की अपेक्षा चोटी पर खडे रहने वाले को दूर-दूर की चीजे और दृश्य दिखाई पडते है। पर जमीन पर खडे रहनेवाले को उसकी बाते हवाई मालूम होती है। इधर चोटी वाला उसके अविश्वास पर झल्लाता है। दोनो की कठिनाइया वाजिब है। आदर्शवादी और सिद्धान्तवादी अपने आदर्श और सिद्धान्त पर इसलिए अटल बने रहना चाहता है कि उसे उनसे गिरने की हानिया स्पष्ट आती हुई दिखाई देती है। व्यवहारवादी, बुद्धिवादी या विज्ञानवादी, इसलिए चकराता है कि उसे तात्कालिक लाभ जाता हुआ दिखाई देता है। वह उसे बटोर रखने के लिए उत्सुक होता है, तहा दूसरा

वडे लाभ को खोकर उसे प्राप्त करने के लिए नही ललचाता। उसकी उदासीनता और अटलता पहले तो मूर्खता मालूम होती है, और पहले की यह उत्सुकता दूसरे को खोखलापन दिखाई देता। सिद्धान्तवादी और आदर्शवादी को दूर के परिणाम स्पष्ट देख पडते है, इसलिए वह राह के छोटे-वडे प्रलोभनो और कठिनाइयो से विचलित न होता हुआ तीर की तरह चला जाता है—इस दृढता, निश्चय, को पहले लोग भ्रम मे 'अन्ध-श्रद्धा' कहते है और अपनी अदूरदर्शिता तथा अस्थिरता को 'वुद्धिमानी'। बहुत परिश्रम करने पर भी मेरी समझ मे यह वात नही आती कि वुद्धि और विज्ञान कैसे हमें समाज-कल्याण के लिए झूठ-कपट और मार-काट के नतीजे पर पहुचा सकते है? हा, यह वात जरूर है कि नियम या सिद्धान्त महज दूर से पूजा करने या व्याख्यान देने की चीज नही है। वे जीवन मे उतारने, आचरण करने और मजा लेने की चीजे है। आप जीवन मे उनका आनन्द लूटिए और कठिनाइयो, विपत्तियो, विघ्न-वाधाओ, आधी-तूफानो के अवसर पर अलग रहिए, फिर देखिए आपकी वुद्धि को कितना भोजन, उत्साह, वल और कितना तेज एव उल्लास मिलता है! कठिनाइयो के अवसरो पर दुवक जाने वाली आपकी 'वुद्धिमत्ता' पर आपको अपने आप झेप आने लगेगी—'जैसी हवा देखो वैसा काम करो', इस नियम का खोखलापन और दिवालियापन आपको समझाने के लिए किसी दलील की जरूरत न रहेगी।

(१७) जव यह कहा जाता है कि झूठ वुरा है, कपट वुरा है, हिंसा और शस्त्र-वल मनुष्य-जाति के लिए अपेक्षाकृत कल्याणकारी नही सावित हुआ है, यदि और सुधार भी कर दिये गए, पर झूठ, कपट या शस्त्र को समाज मे स्थान रहने दिया गया तो मनुष्य शोषक और पशु ही वना रहेगा, तव यह अर्थ नही होता है कि जिन महान् पुरुषो ने अपने देश, जाति या धर्म की भलाई के लिए कभी-कभी झूठ-कपट का आश्रय लिया हो या शस्त्र-वल से काम लेना पडा हो तो वे देश-सेवक और उपकारक न थे। उनके लिए तो, आज के विचारो की रोशनी मे, अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि यदि वे विल्कुल शुद्ध और निर्दोष साधनो से काम लेते तो और अधिक

एव स्थायी उपकार कर पाते। किंतु पूर्वोक्त कथन का यह अर्थ अवश्य है कि यदि सहज प्रणाली को तो बदल दिया, पर मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने का प्रयत्न नही किया, उसके हाथ मे एक ओर तलवार रहने दी गई और दूसरी ओर झूठ-कपट का रास्ता खुला रहा, तो तलवार और शोषण को अमर ही समझिए और तबतक स्वतन्त्रता के नाम की कोरी माला जपते रहिए, स्वतन्त्रता के नाम पर स्वतन्त्रता का बिगडा हुआ कोई रूप आप पावेगे और फिर गुलामी के गड्ढे मे गिर पडेगे।

(१८) जहा सत्य और अहिसा मे सक्रिय प्रेम है वहा बुद्धूपन ठहर ही नही सकता। उसे धोखा देने वाला खुद भी धोखे मे रहता है और धोखा खाता है। सत्य और अहिसा के पालन करने वाले को कदम-कदम पर विचार करना पडता है। सत्य का निर्णय करने के लिए उसे अपनी बुद्धि खूब दौडानी पडती है और उसे निष्पक्ष एव निर्मल रखना पडता है। सत्य के अनुयायी को यह ध्यान रखना पडता है कि मेरे कहने का भाव दूसरे ने गलत तो नही समझ लिया है। इसलिए उसे अपनी बात मे यथार्थता का पूरा ध्यान रखना पडता है। कितनी ही बाते न कहने लायक होती है—कितनी ही का कहना जरूरी हो जाता है। इसका उसे हमेशा विचार करना पडता है। अहिसावादी होने के कारण उसे सदा अपनी बातो और व्यवहारो मे इस बात का ध्यान रखना पडता है कि दूसरे को अकारण ही दुख तो नही पहुच गया। भरसक बिना किसी को दुख पहुचाये वह अपने उद्देश्य मे सफलता पाना चाहता है—इससे उसे बात-बात मे विचार और विवेक से काम लेना पडता है। सत्य का प्रेमी होने के कारण वह सजग रहने का प्रयत्न करता है। ऐसी दशा मे कोई कैसे मान सकता है कि सत्य और अहिसा का अनुयायी बुद्धू होता है और लोग उसे ठग लेते है? हा, वह उच्च, उदार-हृदय, क्षमाशील, विश्वासशील, होता है इसलिए उससे भिन्न प्रकृति के लोग उसे बुद्धू भले ही समझ ले, पर जिन्हे सत्य और अहिसा के महत्व का कुछ भी ज्ञान और अनुभव है, वे ऐसा कदापि नही कह सकते। जहा बुद्धूपन होगा, वहा सत्य और अहिसा का अभाव ही होगा, अस्तित्व नही।

: ४ :

स्वतंत्रता—नीति के प्रकाश में

१ : धर्म और नीति

भारतीय स्वतन्त्रता की साधना मे धर्म, नीति, ईश्वर, विवाहप्रथा, ये ऐसे विषय है जिन पर अक्सर चर्चा होती रहती है और एक ऐसा समूह देश मे है जो इनका मखौल उडाता है और इन्हे जीवन के विकास के लिए अनावश्यक या हानिकारक मानता है। अतएव यह आवश्यक है कि हम इन विषयो पर भी अपना दिमाग साफ कर ले और अपने विचार सुलझा ले। नीति के प्रकाश मे हम स्वतन्त्रता के स्वरूप को देखे और समझे। हम यह भी जान ले कि धर्म, ईश्वर, विवाह, इनका नीति से, समाज-विकास से, क्या सम्बन्ध है और समाज के उत्कर्ष मे इनका कितना स्थान है। धर्म के नाम से चिढ उठने वाले भाइयो को जब यह बताया जाता है कि सत्य, अहिंसा, पवित्रता, अस्तेय, अपरिग्रह, भूतदया, आदि धर्म के मुख्य नियम या अग है तो वे या तो यह कह देते है कि ये आध्यात्मिक बाते है या उन्हे नीति-नियम बताकर धर्म से उनका नाता तोड देते है। अतएव हम देखे कि धर्म और नीति मे क्या सम्बन्ध है और वे एक ही है या अलग-अलग।

नीति शब्द 'नय्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है ले जाना। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना। इससे यह भले प्रकार जाना जाता है कि नीति का काम है ले जाना, प्रेरणा करना, सकेत करना, और धर्म का कार्य है धारणा करना, स्थिर करना, पुष्टि करना। नीति जिस काम का आरम्भ करती है धर्म उसका पोषण करता है। नीति पहली सीढी

और धर्म दूसरी सीढी है। नीति पहली आवश्यकता और धर्म दूसरी या अन्तिम।[1]

एक मनुष्य का दूसरे से जब सम्बन्ध आता है और वे परस्पर व्यवहार के नियम बनाते है तब उनका नाम है नीति। पर जब हम व्यक्ति, समाज के धारण, पोषण और विकास के नियम बनाते है तब उनका नाम है धर्म। नीति को हम व्यवहार-नियम और धर्म को जीवन-नियम कह सकते है। इस अर्थ मे नीति धर्म का एक अग हुई। व्यवहार-नियम जीवन-नियम के प्रतिकूल या विघातक नही बन सकते। इसलिए नीति धर्म के प्रतिकूल आचरण नही कर सकती। वह धर्म की सहायक है, विरोधक और बाधक नही। धर्म के जितने नियम है, उन्हे हम स्थूल रूप मे नीति कह सकते है। उनका बाह्याग नीति है और जब बाह्य और अन्तर, स्थूल और सूक्ष्म, दोनो रूपो और प्रभावो का ध्यान किया जाता है तब वे धर्म कहलाते है। उदाहरण के लिए चोरी न करना नीति भी है और धर्म भी है। केवल किसी की भौतिक वस्तु को चुराना नीति की भाषा मे चोरी हुई, परन्तु मन मे चोरी का विचार भी आने देना, मन से चोरी कर लेना, या आवश्यकता से अधिक धन का सग्रह करना धर्म की भाषा मे चोरी हुई। नीति का विकास और विस्तार धर्म है। नीति यदि माडलिक है तो धर्म चक्रवर्ती है। नीति यदि अश है तो धर्म सम्पूर्ण है। नीति के बिना धर्म लगडा है और धर्म बिना नीति विधवा है। नीति प्रेरक है और धर्म स्थापक। नीति मे गति है जीवन है, धर्म मे स्थिरता है, शान्ति है।

विचार के लिए जीवन भिन्न-भिन्न भागो मे बट जाता है—सामाजिक, राजकीय, आर्थिक आदि। इसी कारण नीति और धर्म में भी अग-प्रत्यग फूट निकले। केवल लोक-व्यवहार के नियम समाज-नीति, राज-काज के नियम राजनीति और अर्थ-व्यवस्था के नियम अर्थ-नीति कहलाये। ध्यान रखना

---

१ देखिये परिशिष्ट ५ व ६—'हिन्दू-धर्म की रूप-रेखा' और 'हिन्दू-धर्म का विराट रूप।'

चाहिए कि ये सब नीतियां परस्पर पोषक ही हो सकती है और होनी चाहिए। किसके मुकाबले मे किसे तरजीह दी जाय यह प्रश्न जरूर उठता है। पर यह निर्विवाद है कि इन सबका सम्मिलित परिणाम होना चाहिए व्यवहार की सुव्यवस्था, जीवन का उत्कर्ष, जीवन का नियमन। राज-काज और अर्थ-साधन ये समाज-व्यवस्था और सामाजिक सगठन के सयोजक है। इसलिए सामाजिक जीवन मे राज-सत्ता या राजनीति को अथवा अर्थ-बल को इतनी प्रधानता कदापि न मिलनी चाहिए कि जिससे वे समाज को अपाहिज और पगु बना डाले। नीति ऐसी अव्यवस्था को रोकती है और धर्म उसे बल प्रदान करता है। नीति मे जहा केवल सद्व्यवहार का बोध होता है वहा धर्म मे निरपेक्षता का भी भाव आता है। नीति बहुत अशो तक सापेक्ष्य है, अर्थात् दूसरे मे सदृश व्यवहार की आशा रखती है, परन्तु धर्म केवल अपने ही कर्त्तव्य पर दृष्टि रखता है। दूसरा अपने कर्त्तव्य का पालन न करता हो, उसके लिए निश्चित नियम के अनुसार न चलता हो, तब भी धार्मिक मनुष्य अपने कर्त्तव्य से मुह न मोडेगा, अपनी ओर मे नियम का भग न होने देगा। नीति का आधार न्याय-भाव है और धर्म का कर्त्तव्य-भाव या सेवा-भाव। सेवा-भाव का अर्थ है अपने हित को गौण समझकर दूसरे के हित को प्रधान समझना ओर उसकी पूर्ति मे अपनी शक्ति लगाना। न्याय समान व्यवहार की आकाक्षा रखता है और कर्त्तव्य निरपेक्ष होता है। नीति जीवन-विकास की प्रथमावस्था है और धर्म अतिम अथवा परिपक्व।

अब हम देख सकते है कि नीति और धर्म एक-दूसरे से जुदा नही हो सकते। जीवन से तो दोनो किसी प्रकार पृथक् हो ही नही सकते। नीतिमान को हम सदाचारी कहते है, और धार्मिक उसे कहते है, जो निरपेक्ष भाव से धर्म के नियमो का पालन करता है। जब हम बिना किसी अपेक्षा के, फलाफल की चिन्ता को छोडकर, अपने कर्त्तव्य का पालन करते है तब उस भावना या स्पिरिट का नाम है धार्मिक वृत्ति। यह धार्मिक वृत्ति ही श्रद्धा की जननी है। यह विश्वास कि मेरा भाव और आचरण अच्छा है तो इसका फल अच्छा ही होगा, श्रद्धा है। धार्मिक जीवन के बिना यह दृढ-विश्वास मनुष्य मे

पैदा नही हो सकता। यही कारण है, जो धार्मिक मनुष्य अक्सर कट्टर होते है। कभी-कभी उनकी कट्टरता हास्यास्पद हो जाती है, यह बात सही है, परन्तु यह तो उनकी वृत्ति का दोष नही, विवेक की कमी है।

यह विवेचन हमे इस नतीजे पर पहुचाता है कि नीति और धर्म के बिना मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन बालू पर खडा हुआ महल है। नीति और धर्म का मखोल उडाकर हम अपने कितने अज्ञान और अविवेक का परिचय देते है, यह भी इससे भली भाति प्रकट हो जाता है। जब कि व्यवहार-नियम के बिना समाज-व्यवस्था असभव है, जब कि निरपेक्षता के बिना और उन नियमो के सूक्ष्म और व्यापक पालन के बिना—अर्थात् धर्माचरण के बिना—समाज की स्वार्थ-साधुना या शोपण वृत्ति अतएव जन-साधारण का पीडन मिट नही सकता तो नीति और धर्म की अवहेलना और दिल्लगी करके हम अपना और समाज का कौन-सा हित-साधन कर रहे है, यह समझ मे नही आता। हमे चाहिए कि हम हर बात को शान्ति और गहराई के साथ सोचे और फिर उसका विरोध या खण्डन करे, अन्यथा हम समाज और स्वतत्रता के सेवक बनने के बदले घातक सिद्ध होगे।

२ जीवन और धर्म

यूरोप के जीवन मे जो स्थान कानून का है, अमेरिका की नस-नस में जो महत्व विधान (Constitution) का है, उससे कही व्यापक और गहरा असर धर्म का भारतवर्ष के जीवन के अग-अग मे पाया जाता है। यह ठीक है कि इसकी व्यापकता ने एकागी और स्वार्थसाधु लोगो से बडे-बडे अनर्थ कराये है, काफी भ्रम और पाखण्ड को फैलाने का अवसर दिया है, जिसके फलस्वरूप एक ओर धर्म का शुद्ध तेज छिप-सा गया है और उसके बाह्य एव बिगडे हुए रूप को देख कर कुछ लोग उसी से घृणा करने लगे है। इसमे धर्म का कोई दोष नही है। मनुष्य के अन्दर अच्छी-से-अच्छी चीज का भी अपने स्वार्थ के लिए दुरुपयोग करने की जो प्रवृत्ति अबतक चली आ रही है वही इसकी जिम्मेदार है। समाज और

राष्ट्र के प्रवन्ध-सचालन और सगठन के लिए अवतक अच्छे-से-अच्छे नियम और विधि-विधानो का आविर्भाव हुआ है। परन्तु मनुप्य की स्वार्थ-साधुता या शोषणवृत्ति ने उनको बिगाड कर ही छोडा है। ऐसी दशा मे जानकार और जिम्मेदार मनुष्य का यही काम है कि वह वाहरी आवरणो और वुराइयो के अन्दर से चीज की असलियत को समझे, उसके प्रकाश को फैलावे ओर मनुष्य की दुरुपयोग करने की कुप्रवृत्ति को दूर करने का हार्दिक प्रयत्न करे।

धर्म वास्तव मे उन नियमो या विधानो के सग्रह का नाम है, जिनके वल पर मनुष्य और समाज की लौकिक और आत्मिक उन्नति, पोषण और रक्षण होता रहे। इन नियमो मे सत्य और अहिसा का सर्वोच्च स्थान है। मनुष्य और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध-मात्र को जो कही-कही धर्म बताया गया है, अथवा वाहरी क्रिया-काडो को जो धर्म का सर्वस्व मान लिया गया है, वह एकागी लोगो की धारणा का फल है। पारलौकिक, आध्यात्मिक वा ईश्वर-सम्वन्धी विषय धर्म का एक अग मात्र है, धर्म का सर्वस्व नही। भारतीय प्राचीन धर्म-ग्रन्थो मे धर्म के दो विभाग माने गये है। मोक्ष-धर्म और व्यवहार या ससार-धर्म। पारलोकिक, आध्यात्मिक या ईश्वर-सम्वन्वी विभाग को मोक्ष-धर्म और समाज-व्यवस्था समाजोन्नति-सम्वन्धी सासारिक विभाग को ससार-धर्म कहा गया है। लोग जो धर्म के नाम से चिढ उठते है उनका कारण यह है कि मोक्ष-धर्म और खास कर उसकी ऊपरी वातो पर इतना जोर दिया गया कि जिसमे वह अनेकाश मे ढोग रह गया और दूसरी ओर सामाजिक और राष्ट्रीय धर्म की इतनी उपेक्षा की गई कि जिस-से दोनो अगो की समतौलता और सामजस्य विगड गया। व्यावहारिक अथवा सासारिक ओर आत्मिक या पारलौकिक जीवन मनुष्य का एक-दूसरे से इतना मिला हुआ है, इतना एक-दूसरे पर अवलम्वित है, कि किसी एक की उपेक्षा दूसरे का सत्यानाश है। मोक्ष-धर्म और उसके वाह्य अगो पर जोर देने का परिणाम यह हुआ कि लोग प्रत्यक्ष जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाली वातो से उदासीन हो गये, पुरुपार्थी जीवन कोरा भाग्य-

वादी जीवन वन गया और भारत आज अपने तमाम अच्छे सस्कारो के होते हुए भी गुलाम बना हुआ है। इसी तरह अब यदि केवल लौकिक, सामाजिक, व्यावहारिक या ससारी बातो को ही महत्त्व देकर जीवन के अत्यत महत्वपूर्ण आत्मिक अग की उपेक्षा की तो इसका परिणाम और भी भयकर होने की सम्भावना है। बुनियाद या जड की तरफ ही हमेशा देखने वाला और मकान के खम्भो, दीवारो, छतो की या पेड की डालियो और फल-फूलो की उपेक्षा करने वाला किसी दिन मकान को गिरा हुआ और पेड को निरुपयोगी पायेगा और बुनियाद या जड से ध्यान हटाकर फलफूल और खम्भे दीवारो मे अटक रहने वाला जिस तरह किसी दिन यकायक अपने मकान और पेड को गिरा और सूखा पावेगा उसी तरह जीवन के दो मे से किसी भी विभाग की उपेक्षा करने वाला सदा घाटे में ही रहेगा।

जो लोग यह समझते है कि जीवन का आत्मिक भाग फिजूल है या हानिकर है, वे भूल करते है। जीवन का व्यावहारिक या सासारिक भाग वह है, जिससे बाहरी परिणाम जल्दी और स्पष्ट दिखाई पडता हो। आत्मिक भाग वह है, जिसमे उसके सूक्ष्म कारण और बीज छिपे हुए हो। जिस प्रकार जड को पकड कर बैठ जाने और फल-फूल की तरफ ध्यान न देने वाला एकागी और अव्यावहारिक है, उसी प्रकार फल पर ही चिपक रहने वाला भी एकदेशीय और अदूरदर्शी है। स्थूल और सूक्ष्म दोनो रूपो पर दृष्टि रखने वाले मनुष्य का ही जीवन वास्तव मे उपयोगी और सफल कहा जा सकता है।

आजकल धर्म को कोसना एक फैशन बन गया है। पर धर्म को कोसना मनुष्य-जीवन की बुनियाद को ढहाना है। धर्म का अर्थ है मनुष्य जीवन का नियामक या व्यवस्थापक। क्या आप नही चाहते कि आपके जीवन मे कुछ नियम हो—ऐसे नियम हो जिनसे आपका और समाज का जीवन बने और सुधरे? यदि चाहते हैं तो फिर उन नियमो के सग्रह या अधिष्ठान अर्थात् धर्म से क्यो घबराते हैं? ऊपर कहा ही जा चुका है कि सत्य और अहिंसा धर्म के मुख्य अग है, दो पाव है। मनुष्य-जीवन मे इन

दोनो की उपयोगिता और अनिवार्यता पहले सिद्ध की जा चुकी है। यदि आप अपनी रक्षा और विकास चाहते हो तो आपको सत्य को अपनाना ही होगा, यदि आप दूसरे की रक्षा और उन्नति चाहते हो, तो आपको अहिंसा की आराधना करनी होगी। सत्य की साधना के विना आपकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण नही रह सकती। एक व्यक्तिगत और दूसरा समाजगत धर्म है। इसीलिए 'सत्यान्नास्ति परोधर्म' और 'अहिंसा परमोधर्म' कहा है।

धार्मिक जीवन के मानी है नैतिक जीवन। नैतिक जीवन के मानी है सज्जन, सुव्यवस्थित, जीवन। सज्जन-जीवन के मानी है मानवी जीवन। ऐसी दशा मे यदि आप धर्म से इन्कार करते है तो गोया आप मानवता को नही चाहते है। धर्म एक कानून है, जो मानवता का पूर्ण विकास करता है। धर्म मनुष्यता का पथ-प्रदर्शक है। धर्म वह सडक है, जिस पर मानव-विकास दौडता हुआ चलता है। जिससे मनुष्य-समाज की रक्षा ओर उन्नति होती है, वह धर्म है।

तो फिर कई लोग धर्म के नाम से चिढते क्यो है? इसलिए कि एक तो उन्होने मजहव को धर्म समझ लिया है, फिर धर्म के असली रहस्य को समझने की चेष्टा नही की है और अज्ञ तथा अल्पज्ञो मे धर्म के नाम पर जो अण्ट-सण्ट वाते प्रचलित है उन्ही आडम्वरो को धर्म मान लिया है। वास्तव मे हम हिन्दुओ के यहा तो सार्वजनिक धर्म के ये लक्षण वताये गये है

> अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
> एत सामासिकं धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥१॥
> अहिंसा सत्यमस्तेयमकाम-क्रोध-लोभता ।
> भूतप्रियहितेह च धर्मोऽय सार्ववर्णिकः ॥२॥

अर्थात्—हिंसा न करना, सत्य का पालन करना, पवित्रता की रक्षा करना, इन्द्रियो को वश मे रखना, यह चारो वर्णो का धर्म सक्षेप मे मनु ने कहा है ॥१॥ और

हिंसा न करना, सत्याचरण करना, चोरी न करना, विषयेच्छा न

करना, गुस्सा न रखना, लोभ न करना, बल्कि संसार के प्राणिमात्र का प्रिय और हित करना यह सब वर्णों का धर्म है ॥२॥

इससे पता लगेगा, इसमे कोई बात ऐसी नही है जो गर्हित हो, या जन-समाज के लिए हानिकर हो, बल्कि बहुत अनुभव के बाद समाज की सुव्यवस्था और उन्नति के लिए इन नियमो की रचना की गई है। अतएव धर्म की अवहेलना करना, उसे मिटाने की चेष्टा करना, एक तो अपना अज्ञान प्रकट करना है और दूसरे मनुष्य की प्रगति की ही जड काटना है।

मजहब या सम्प्रदाय धर्म से भिन्न चीज है। मजहब असल मे दो बातो को प्रकट करता है (१) एक तो मनुष्य का ईश्वर के साथ सबध और (२) विशिष्ट मत-प्रवर्त्तक द्वारा प्रचलित साम्प्रदायिक रीति-नीतिया। जिस मत-प्रवर्त्तक ने ईश्वर-सबधी जैसी कल्पना की है वैसा ही सबध उसके अनुयायियो का ईश्वर से रहा है, और कुछ बाह्याचार ऐसे बना दिये है जो मनुष्य की बुद्धि को सर्वथा सन्तुष्ट नही कर सकते। इसी तरह कुछ साम्प्रदायिक रीति-नीतिया भी चल पडी है। उसका मूल स्वरूप चाहे कुछ तथ्य रखता भी हो, पर उसके बाह्य स्वरूप ने इतना बिगाड पैदा कर दिया है कि अब वे एक पाखण्ड और आडम्बर-मात्र रह गई है। पर इन्हे कोई भी समझदार अपना धर्म या धर्म का आवश्यक अग नही कहेगा। इनमें समयानुसार सदा परिवर्तन और सशोधन होता आया है, किन्तु धर्म का मुख्य अग, धर्म का मूल स्वरूप सदा एक-सा रहा है और रहेगा। जिन नियमो के आधार पर सारी सृष्टि चल रही है, सारे समाज का सगठन हुआ है, धर्म का सबन्ध तो सिर्फ उन्ही से है। उनके अतिरिक्त जितनी बाते धर्म के नाम से प्रचलित हो गई है वे सब सशोधनीय, परिवर्तनीय और त्याज्य है।

इतने विवेचन से हमने जान लिया कि धर्म का जीवन मे उतना ही स्थान है जितना कि शरीर-रचना मे हृदय को है। यदि हम धर्म के शुद्ध और उज्ज्वल रूप को देखेगे तो उस पर मुग्ध और कुरबान हुए बिना न रहेगे।

३ : ईश्वर-विचार

धर्म-विचार मे ईश्वर का जिक्र अवश्य आता है। वैसे—ईश्वर के सम्वन्ध मे लोगो की भिन्न-भिन्न धारणाए है। कोई उसे एक वस्तु मानते है और कोई तत्व। सर्व-साधारण अवतारो और देवी-देवताओ के रूप मे उसे मानते है। जगली जातिया जीव-जन्तु, पेड और पशु को ईश्वर समझती है। कई लोग भूत-प्रेत को ईश्वर का रूप मानते है। कितने ही मूर्ति को, गुरु को, ईश्वर समझते है। आमतौर पर लोग ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, जगसचालक, सर्वशक्तिमान्, मगलमय, पतितपावन मानते है। वे समझते है, ईश्वर कही आसमान मे वैठा हुआ राज्य कर रहा है। वह सारे ब्रह्माण्ड का महाराजा है, उसके अनेक दास-दासिया है, अनेक रानिया-पटरानिया है, उसका दरबार है, न्याय और पुलिस-विभाग है, पुण्यात्मा को वह स्वर्ग देता है, पापी को नरक मे पहुचाता है। अपनी-अपनी समझ और पहुच के अनुसार लोगो ने ईश्वर को तरह-तरह से मान रक्खा है। फलत जितने विचार उतने ईश्वर हो गये है। हरेक अपने ईश्वर को वडा और अच्छा समझता है और दूसरे के ईश्वर को छोटा और मामूली। गवार लोग अपने-अपने ईश्वर का पक्ष लेकर लड भी पडते है। हिन्दू-मुसलमान भी तो अपने-अपने ईश्वर के लिए घटा-घडियाल और नमाज के सवाल पर आपस मे खून-खरावी कर वैठते है। ईसाइयो और मुसलमानो के धर्मयुद्ध ईश्वर ही के नाम पर तो हुए है। वौद्धो, जैनो और ब्राह्मणो मे भी ईश्वर ही के लिए लडाइया हुई है। ऐसी दशा मे एक विचारशील मनुष्य के मन मे यह प्रश्न उठता है कि आखिर यह ईश्वर है क्या चीज ? यह है भी या नही ? है तो इसका असली रूप क्या है ? इस प्रश्न पर विचार करने वाले दुनिया के तत्वदर्शी तीन भागो मे वट गये है (१) आस्तिक (२) नास्तिक और (३) अज्ञेयवादी। आस्तिक वे जो मानते है कि ईश्वर नामक कोई चीज है, नास्तिक वे जो कहते है कि ईश्वर-वीश्वर सव ढोग है, अज्ञेयवादी वे जो कहते है, भाई, कुछ समझ मे नही आता, वह है या नही। आस्तिको मे तीन प्रकार के लोग है—

(१) वे जो ईश्वर को वस्तुरूप—शक्तिरूप—मानते है ।

(२) वे जो व्यक्तिरूप मानते है ।

(३) वे जो तत्वरूप मानते है ।

शक्ति और तत्वरूप मे ईश्वर निर्गुण-निराकार माना जाता है और व्यक्ति रूप मे सगुण-साकार मानकर उसकी पूजा-अर्चा की जाती है ।

मुझे तो ऐसा लगता है कि हम ईश्वर को एक आदर्श माने । आखिर ईश्वर की कल्पना या अनुभव करने वाला है तो मनुष्य ही । आरम्भ मे चमत्कार-जनक और भयकारक वस्तु को वह ईश्वर मानने लगा, अपनी रक्षा के लिए उसकी प्रार्थना करने लगा । बाद को वह उसे मगलदायक और पतित-पावन समझने लगा और अपने भले के लिए उसकी स्तुति करने लगा । जब उसकी खोज और अनुभव और आगे बढा और प्रत्येक भिन्न रूप रखनेवाली वस्तु में भी एक चीज उसे समान-रूप मे (Common) दिखाई देने लगी तब उसे उसने एक तत्वरूप माना । मनुष्य-जाति के विचार और अनुभव मे जैसे-जैसे फर्क पडता गया, वैसे-वैसे ईश्वर के रूप मे और सत्ता मे भी अन्तर होता गया । आगे बढना, ऊचा उठना और सुख पाना, ये तीन इच्छाए मनुष्य-मात्र मे सामान्य रूप मे दिखाई पडती है । उसे एक ऐसे आदर्श की आवश्यकता प्रतीत हुई, जो इन इच्छाओ की पूर्ति मे सहायक हो । उसने तमाम शक्तियो, अच्छाइयो और पवित्रताओ का एक समुच्चय बनाया और उसको अपना ईश्वर, आराध्य देव, अन्तिम लक्ष्य मान लिया ।

यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपूर्ण अधकचरा पैदा हुआ है । वह पूर्णता की ओर जाना चाहता है । वह गुण और दोष से युक्त है । दोषो को दूर करके वह गुणमय बन जाना चाहता है । जब गुणमय बन जाता है और उस स्थिति में स्थिर रहता है, तब वह अपने अन्दर निर्गुणत्व का अनुभव करने लगता है । वह जगत् के वास्तविक सत्य और तथ्य को पा लेता है । इसीलिए कहते है कि सत्य ही परमेश्वर है । सत्य या ईश्वर एक आदर्श है । दूसरे शब्दो मे तमाम अच्छाइयो और सच्चाइयो का समूह ईश्वर है । या यो कहे कि ईश्वर वह वस्तु है जिसमे ससार की तमाम अच्छाइयो, अच्छी शक्तियो और अच्छे

गुणो का समावेश है। ईश्वर वह आदर्श है, जहा से तमाम अच्छी और सच्ची बातो का आरभ और अत होता है। वहा से अच्छी और सच्ची बाते एव अच्छाइयो और सच्चाइयो का उद्‌गम और स्फुरण होता है। जो आदर्श मनुष्य को बुराइयो से हटा कर अच्छाइयो की तरफ, असत्य की ओर से हटा-कर सत्य की ओर खीचता है, वह ईश्वर है। आदर्श एक चुम्बक होता है। मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए आदर्श बनाना पडता है। कई ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष आज भी भिन्न-भिन्न बातो और गुणो मे हमारे लिए आदर्श है। आदर्श वह वस्तु है जिसके अनुसार मनुष्य अपने को बनाना चाहता है। मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार अपने को बनाने की कोशिश करता है। रुचि सबकी भिन्न-भिन्न होती है, इसीलिए आदर्श भी सबके भिन्न-भिन्न होते है। परन्तु कोई मनुष्य इस बात से इन्कार नही कर सकता कि उसे अच्छा बनने की, सच्चा बनने की चाह नही है। सबकी इसमे रुचि पाई जाती है। इसलिए अच्छाई और सच्चाई का आदर्श, ईश्वर, सबकी रुचि की वस्तु हुआ। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, ये ईश्वर की किसी-न-किसी अच्छाई और सच्चाई के प्रतिनिधि है। इसलिए लोग इनमे आंशिक ईश्वरत्व का अनुभव करते है।

मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओ के अनुसार तीन बडे गुणो और शक्तियो का आरोप ईश्वर मे किया (१) सर्वशक्तिमत्ता, (२) मगलमयता और (३) पतित-पावनता। मनुष्य शक्ति का उपासक है। वह चाहता है कि तमाम शक्तियो का सम्मेलन उसमे हो। कर्त्तव्य पथ मे चलने के लिए उसके पास अतुल बल और साहस हो। इसलिए उसने ईश्वर को सर्वशक्तिमान् माना और उससे बल पाने की चेष्टा करने लगा। मनुष्य चाहता है कि वह दु खो, कष्टो, यातनाओ, विघ्नो और सकटो से मुक्त रहे अथवा इनसे घबरा न जाय। अतएव उसने ईश्वर को मगलमय माना और सदा मगल चाहने लगा। इसी प्रकार जब वह दुष्कर्म कर बैठता है तब उससे मुक्त होने या ऊचा उठने के लिए किसी भावना का सहारा चाहता है। इसी ने ईश्वर की पतित-पावनता को जन्म दिया। इसके द्वारा वह यह स्फूर्ति पाता है

कि ईश्वर गिरे हुओ को उठाता है, दुखियो को अपनाता है, सताये हुओ को उबारता है। इससे उसे अपने उद्धार का आश्वासन मिलता है। अपनी कमजोरियो को दूर करने मे उत्साह मिलता है।

किन्तु इस पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए इतने परावलम्बन की क्या आवश्यकता है? मनुष्य स्वय अपनी बुद्धि से अच्छे और बुरे का निर्णय कर के अच्छाई को क्यो न ग्रहण करता रहे? तत्त्वत यह बात ठीक भी समझी जाय तो कुछ गिने-चुने लोगो का काम तो बिना किसी आलम्बन के चल जाय, किन्तु सर्वसाधारण तो अज्ञ या अल्पज्ञ होते है। साधारण लौकिक या व्यावहारिक कार्यों के लिए भी उन्हे दूसरो का सहारा लेना पडता है तब अपने जीवन को बनाने या सुधारने के जैसे कठिन और असमसाध्य काम के लिए क्यो न उन्हे एक अच्छे आदर्श के आकर्षण और पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता रखनी चाहिए?

रुचि और भावना के अनुसार आदर्श मे भिन्नता हो सकती है और इसीलिए हम ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूपो को देखते है। ईश्वर को मानना बुरा नही है, बुरा है उसकी असलियत को, अपने लक्ष्य को भूल जाना। ईश्वर हमारे कल्याण, उत्कर्ष, विकास, सुधार या पूर्णत्व के लिए बना है, न कि अपनी ऊपरी पूजा-अर्चा मे ही लोगो का सारा समय और बहुतेरी शक्ति का अपव्यय कराने के लिए। ईश्वर का ध्यान, पूजा, उपासना हमारे कल्याण के साधन है, खुद साध्य नही है। साध्य है—ईश्वरत्व को प्राप्त करना, सत्य या पूर्णत्व को पहुचना। इसे हमे कदापि न भुलाना चाहिए।

क्या कोई मनुष्य इस बात से इन्कार करेगा कि वह व्यक्ति और समाज का हित, विकास, या पूर्णता चाहता है? यदि यह प्रत्येक मनुष्य को अभीष्ट है, तो फिर पूर्णता के आदर्श या प्रतिनिधि को अनावश्यक अथवा बुरा कैसे कहा जा सकता है? मनुष्य के स्वार्थ या अज्ञान ने यदि उस आदर्श मे मलिनता उत्पन्न कर दी है, उसे बिगाड दिया है, तो बुद्धिमान और समाज-हितेच्छु का काम है कि असली आदर्श उसके सामने रक्खे, उसकी

असलियत उसे वताता रहे। यह न होना चाहिए कि मक्खी को मारने गये तो नाक भी काट डाली।

आशा है, हमारे शकाशील और विज्ञानवादी पाठक ईश्वर के इस रूप पर, इसकी उपयोगिता और व्यावहारिकता पर विचार करने की कृपा करेगे। असलियत को खोजने की धुन मे उन्हे असलियत को ही न खो वैठना चाहिए। मनुष्य सूक्ष्म अर्थ मे पूर्ण स्वावलम्बी कदापि नही हो सकता। वह परस्पराश्रयी है, क्योकि वह समाजशील है। जव एक व्यक्ति का काम दूसरे व्यक्ति के सहारे के विना नही चलता और हम परस्पर सहयोग को बुरा नही समझते है तव किसी आदर्श का सहारा क्यो अवाछनीय समझा जाना चाहिए।

४ : विवाह

एक मत ऐसा चलता हुआ देख पडता है कि स्त्री-पुरुषो के वन्धन मे वधने की आवश्यकता ही नही। यह इच्छा-तृप्ति का विषय है—जैसे मौका पड जाय, इच्छा तृप्त कर ली जाय। कुछ लोग ऐसा भी मानते है कि यह एक प्रकार का पतन है। आदर्श अवस्था तो स्त्री-पुरुषो का एकमात्र ब्रह्मचर्य-मय जीवन ही है। ऐसी हालत मे यह आवश्यक है कि विवाह के रहस्य को हम अच्छी तरह समझ ले।

विवाह के मूल पर जव मै विचार करता हू, तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि आरम्भ मे विवाह शारीरिक सुख अथवा इन्द्रियाराधन के लिए शुरू हुआ। यह तो सवको मानना ही होगा कि स्त्री और पुरुष मे एक अवस्था के वाद एक कोमल विकार उत्पन्न होने लगता है, जो दोनो को एक-दूसरे की ओर खीचता है। एक अवस्था के वाद यह विकार लुप्त हो जाता है। मेरा ख्याल है कि आदिम काल मे स्त्री-पुरुष इस विकार की तृप्ति स्वतन्त्र रूप से कर लिया करते थे—विवाह-वन्धन मे पडे विना ही वे परस्पर अपनी भूख वुझा लिया करते थे। पर जव कौटुम्विक और सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ, तव मनुष्य को ऐसे सम्वन्धो का भी नियम वना देना पडा, अथवा यो

कहिए कि जब उसने इन उच्छृखलताओ के दुष्परिणामो को देखा, तब उसकी एक सीमा बाधना उचित समझा और वही से कौटुम्बिक जीवन की शुरूआत हुई। एक स्त्री का अनेक पुरुषो से और एक पुरुष का अनेक स्त्रियो से सम्पर्क होते रहने से गुप्त रोग फैलने लगे होगे। सन्तान-पालन और सतति-स्नेह का प्रश्न उठा होगा। विरासत की समस्या खडी हुई होगी। तब उन्हे विवाह-व्यवस्था करना लाजिमी हो गया। विवाह का उद्देश्य है, एक स्त्री का एक पुरुष के साथ सबध रखना। इसके विपरीत अवस्था का नाम हुआ व्यभिचार। उन्हे ऐसे उपनियम भी बनाने पडे, जिनमे कारणवश एक पुरुष का एकाधिक स्त्री से अथवा एक स्त्री का एकाधिक पुरुष से सबध करना जायज समझा गया। विवाह-सस्कार होने के पहले स्त्री-पुरुष का परस्पर शारीरिक सबध हो जाना व्यभिचार कहलाया। इसी प्रकार विवाहित स्त्री-पुरुष का दूसरे स्त्री-पुरुष से ऐसा सबध रखना भी व्यभिचार हुआ।

फिर जब मनुष्य ने देखा कि यह सीमा बाध देने पर भी लोग विषयभोग मे मस्त रहने लगे, तब उसने यह तजवीज की कि विवाह इद्रियतृप्ति के लिए नही, सतति उत्पन्न करने के लिए है। स्त्री-पुरुष तभी सम्भोग करे, जब उन्हे सतति की इच्छा हो। फिर जैसे-जैसे मनुष्य-जाति का अनुभव बढता गया, विचार-दृष्टि विशाल होती गई, वैसे-वैसे उसके जीवन का आदर्श भी ऊचा उठता गया। अब मनुष्य की विचार-शीलता इस अवस्था को पहुची है कि विवाह न शारीरिक सुख के लिए है, न सतति उत्पन्न करने के लिए है, वह तो आत्मोन्नति के लिए है। सुख, तृप्ति और सतति उसका परिणाम भले ही हो, वह उद्देश्य नही। इस उद्देश्य से जो गिर गया वह शारीरिक सुख, इद्रिय-तृप्ति और सतति पाकर रह गया, आगे न बढ सका। अब तो श्रेष्ठ विवाह वह कहलाता है, जो दोनो को अपने जीवन-कार्य को पूरा करने मे सहायक हो। योग्य वर-वधू वे कहलाते है, जो विकार के अधीन होकर नही, बल्कि समान उद्देश्य और समान गुणो से प्रेरित होकर विवाह करते है। ऐसे विवाहो के रास्ते मे जाति, धर्म, मत, धन, ये बाधक नही हो सकते।

जाति, धर्म, मत आदि का विचार विवाह के सम्वन्ध मे करना कोई आत्मिक आवश्यकता नही है। यह तो कौटुम्विक या सामाजिक सुविधा का प्रश्न है जो कि आत्मिक आवश्यकता के मुकावले मे वहुत गौण वस्तु है। जो विवाह इन्द्रिय-तृप्ति ओर कौटुम्विक सुविधाओ के लिए किये जाते है, वे कनिष्ठ है, और उनके विषय मे इन सव वातो का लिहाज रखना अनिवार्य हो जाता है।

फिर भी व्यभिचार से, विवाह-सस्कार से पहले स्त्री-पुरुषो के ऐसे सम्वन्ध हो जाने अथवा विवाहोपरात ऐसे अनुचित सम्वन्ध करने से तो यह कनिष्ठ प्रकार का विवाह श्रेष्ठ ही है। व्यभिचार की स्वतन्त्रता सामाजिक और नैतिक अपराध इसलिए है कि अव मनुष्य-जाति उन्नति की जिस सीढी पर पहुच चुकी है उससे वह उसे पीछे हटाती है—आजतक के उसके श्रम, अनुभव और कमाई पर पानी फेरती है। मनुष्य-जाति अपनी इस अपार हानि को कदापि सहन नही कर सकती। अपनी इसी सस्कृति की रक्षा के निमित्त मनुष्य के विवाह को यहा तक नियमित करना पडा कि स्वपत्नी से भी नियम-विपरीत सम्भोग करने को व्यभिचार ठहरा दिया। अव तो विचारको की यह धारणा होने लगी है कि आत्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो विवाह किये जाते है उनमे स्त्री-पुरुष यदि सयम न रख सके तो वह भी एक प्रकार का व्यभिचार ही है।

५ : विवाह-संस्कार

विवाह-सस्कार हम हिन्दुओ का वहुत प्राचीन सस्कार है, सोलह सस्कारो मे एक है। गृहस्थाश्रम का फाटक है। जो कन्या या युवक गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना चाहता है, उसके लिए विवाह-सस्कार आवश्यक है। जो कन्या या युवक ब्रह्मचर्य-पूर्वक सारा जीवन व्यतीत करना चाहते है उनके लिए यह आवश्यक नही है। विवाह के मुख्य उद्देश्य मेरी समझ के अनुसार तीन है—

१ कुदरती इच्छा की पूर्ति।

२ धर्म का पालन ।

३ समाज का कल्याण ।

अव हम क्रम से इन पर विचार करे—

कुदरती इच्छा की पूर्ति

एक अवस्था से लेकर एक अवस्था तक स्त्री और पुरुप दोनो के मन मे विवाह करने की इच्छा पैदा होती है और रहती है। उस अवस्था मे कुदरत चाहती है कि स्त्री-पुरुप एक साथ रहकर जीवन व्यतीत करे। समाज-शास्त्रियो ने यह अवस्था लडकी के लिए १५-२० से लेकर ४०-४५ तक और लडके के लिए २५-३० से लेकर ५०-५५ तक वताई है। हमारे प्रचीन आचार्यो ने भी २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के वाद ही गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने का नियम वताया है। कन्या की अवस्था जव २० के आस-पास और ब्रह्मचारी की २५ के आस-पास हो तव उनके माता-पिता को उचित है कि उनकी इच्छा को जानकर, सम-गुण-शील वर-वधू को देखकर विवाह-सस्कार कर दे।[1] यदि वे ब्रह्मचर्यपूर्वक ही रहना चाहे तो उन्हे रहने दे, जवरदस्ती विवाह-पाश मे न वाधे। जिसकी इच्छा हो वह विवाह कर ले, जिसकी इच्छा हो वह ब्रह्मचारी वन कर रहे—यह नियम सव से अच्छा है। इस नियम का पालन करने से ही कुदरत की इच्छा की पूर्ति हो सकती है, विवाह का पहला उद्देश्य पूर्ण हो सकता है।

धर्म का पालन

धर्म का अर्थ है लौकिक और पारलौकिक उन्नति का साधन। दूसरे शब्दो मे कहे तो शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति का साधन। या यो कहे कि धर्म वह मार्ग है जिसके द्वारा मनुष्य खुद सुख प्राप्त करता हुआ औरो को सुखी वनाता है। तीनो अर्थो की भाषा यद्यपि जुदी-जुदी है तथापि मूल भाव एक ही है—स्वार्थ और परमार्थ दोनो की साधना। स्वार्थ व्यक्तिगत होता है और परमार्थ समाज-गत। मनुष्य जव अपने अकेले का

---

१ देखिये परिशिष्ट न० ७ 'नवदम्पती के लिए'।

विचार करता है तब वह स्वार्थी होता है। जब वह औरो का भी विचार करता है तब परमार्थी होता है। वैवाहिक जीवन स्वार्थ और परमार्थ दोनो के लिए है। हम लोगो मे यह प्राचीन धारणा भी चली आती है कि गृहस्याश्रम मे मनुष्य प्रपच और परमार्थ दोनो को साध सकता है। अर्थात् विवाह तभी सफल माना जा सकता है जब कि विवाहित दम्पती के द्वारा इस धर्म का पालन होता हो। उनके द्वारा खुद अपने को, कुटुम्ब को और सारे समाज को लाभ और सुख पहुचता हो। इसलिए हिन्दुओ मे विवाह-बधन धर्म-बधन माना जाता है। हिन्दू वर-वधू विवाह सस्कार के द्वारा केवल अपने शरीर को ही एक-दूसरे के अर्पण नही करते है,वल्कि अपने मन और आत्मा को भी एक कर देते है। यही कारण है कि हमारे यहा दो मे से एक का वियोग हो जाने पर भी दोनो का सम्बन्ध नही टूटता। सतति विवाह का हेतु नही, फल है। हेतु है धर्म-पालन। गृहस्थ का धर्म क्या है? स्वय सुखी रहना और दूसरो को सुखी बनाना। गृहस्थ स्वय सुखी किस तरह रह सकता है?

(१) अपने शरीर को नीरोग रखकर। अर्थात् गृहस्थाश्रम मे भी ब्रह्मचर्य की ओर विशेष ध्यान देते हुए, स्वच्छता और आरोग्य के नियमो का पालन करते हुए।

(२) अपने मन को शान्त और प्रसन्न रखते हुए, उच्च, उदार स्नेह-पूर्ण और सुसस्कृत बनाते हुए।

(३) आत्मा को उन्नत बनाते हुए। अर्थात् सबको आत्मस्वरूप देखते हुए, सत्यनिष्ठा, निर्भयता, नम्रता, दया आदि सद्‌गुणो का परिचय देते हुए। यदि एक ही शब्द मे कहे तो शरीर, मन और आत्मा तीनो को एकसूत्र मे बाधते हुए अर्थात जो हमारी आत्मा को कल्याणकारक प्रतीत हो, वही हमारे मन को प्रिय हो और उसी के साधने मे शरीर कृतकार्य हो। जैसे यदि किसी दु खी या रोगी को देखकर हमारी आत्मा मे यह प्रेरणा हुई कि चलो, इसकी कुछ सेवा करे, किसी तरह इसके दु ख दूर करने का प्रयत्न करे, तो तुरन्त हमारा मन इस विचार से प्रसन्न होना चाहिए। और हमारे शरीर को उसके लिए दौड जाना चाहिए, बल्कि मै तो यह भी कहूगा

कि हमारी आत्मा का यह धर्म ही होना चाहिए कि रोगी या दु खी को देख-कर उसकी सेवा करने की प्रेरणा हुए विना न रहे। जिस प्रकार पानी की धारा जवतक अपने रास्ते के गड्ढे को भर नही देती तवतक आगे नही वढती, उसी तरह हमारा यह स्वभाव-धर्म हो जाना चाहिए कि जव-तक समाज के दु खी-दर्दो की सेवा हम से न हो, हमारा कदम आगे न वढ सके। यही धर्म-पालन की चरम-सीमा है, यही गृहस्थाश्रम का धर्म है। ईमानदारी से धर्म-पूर्वक स्वोपार्जित धन, नियम-पूर्वक प्राप्त सुसतति, सद्-गुणो से आकर्पित इष्ट-मित्र ये भी सुख को वढा सकते है। पर सुख के साधन नही है—ये तो सुख की शोभा है, सोने मे सुगन्ध है।

समाज का कल्याण

अव यह सवाल रहा कि दूसरे को सुखी किस तरह वना सकते है? दूसरी भापा मे, समाज का कल्याण किस तरह कर सकते है? मनुष्य जव-तक अकेला है, विवाह नही किया है, तवतक वह अपने को अकेला समझ सकता है। व्यक्तिगत कर्तव्यो का ही विचार कर सकता है। पर एक से दो होते ही, दूसरे का साथ करते ही, विवाह होते ही, वह समाजी हो जाता है। कुटुम्व समाज का एक छोटा रूप है। या यो कहे कि समाज कुटुम्व का एक वडा रूप है। विवाह होते ही अपने हित के ख्याल के साथ-साथ और कुटु-म्वियो के हित का ख्याल ही नही, जिम्मेदारी भी हमे महसूस करनी चाहिए। तो सवाल यह है कि विवाहित दम्पती कुटुम्व या समाज की सेवा या कल्याण किस तरह करे? इसका सरल और सीधा उत्तर यही है कि कुटुम्व या समाज मे जो खामिया हो, जो तकलीफे हो, उनको दूर कर के। जैसे अगर कोई वुरी रीति या चाल पड गई हो तो उसे हटाना, खुद उसका पालन न करना ओर औरो को भी समझाना। अगर कोई विधवा या विद्यार्थी या अनाथ भोजन-पान की या और किसी तरह की तकलीफ पा रहे हो तो उसे दूर करना, उनके साथ हमदर्दी वताना, उन्हे तसल्ली देना, उनके घर जाना, या उन्हे अपने घर लाना। कोई वुरा काम कर रहा हो तो उसे समझाना, वुरे

काम से हटाने का यत्न करना, पढने-पढाने और ज्ञान वढाने के साधन न हो तो उनका प्रचार करना। सफाई और तन्दुरुस्ती की जरूरत और फायदे समझाना। इत्यादि-इत्यादि।

पर विवाह-सस्कार का वर्तमान रूप हमारे यहा इससे भिन्न है। केवल यही नही कि हम मे से बहुतेरे विवाह के उद्देश्यो को नही जानते, वल्कि सस्कार की विधि भी बहुत विगड गई है। विवाह-सस्कार मुख्यत एक धर्म-विधि है। पर आजकल उसका धार्मिक रूप एक कवायद मात्र रह गई है और सामाजिक रूप या लोकाचार इतना वेडौल हो गया है कि जिसकी हद नही। विवाह के वाद वर-वधू सामाजिक जीवन मे प्रवेश करते है। इस-लिए धर्म-सस्कार के साथ वहुतेरी सामाजिक रीतिया—लोकाचार—जोड कर हमने उसे एक जल्सा वना दिया है। धार्मिक दृष्टि से विवाह-सस्कार मे केवल दो ही विधिया है। पाणिग्रहण और सप्तपदी। पाणिग्रहण के द्वारा दम्पती के सम्वन्ध की शुरुआत होती है और सप्तपदी के द्वारा वह प्रेमवन्धन दृढ किया जाता है। इसके अतिरिक्त जितनी विधिया है वे सव अनावश्यक या कम आवश्यक है। वडे-वडे भोज, भारी लेन-देन, वहुतेरा दहेज, वागवाडी, मायरा, आतिशवाजी, नाच आदि सामाजिक विधिया केवल लोकाचार है। सामाजिक विधिया समाज की आवश्यकता के अनुसार समाज के धुरीण लोग डालते है। समाज की अवस्था निरन्तर वदलती रहती है। वह हमेशा सारासार का विचार करता रहता है और अच्छी वातो का ग्रहण तथा वुरी वातो का त्याग करता है। और इसी से उसका कार्य-क्रम वदलता रहता है। वह समाज के हित की वात समाज मे दाखिल करता है और अहित की वात को निकाल डालता है या उसका विरोध करता है। समाज के चाल-ढाल मे यह अन्तर, यह परिवर्तन हम वरावर देखते है। इसी के वल पर समाज जीवित रहता है और आगे वढता है। यही समाज के जीवन का लक्षण है। चदेरी की पगडिया गई, टोपिया आई। इटालियन और फैल्ट टोपिया जा रही है, और खादी-टोपी आ रही है। अगरखा चला गया, कोट आ गया। जूतिया गई, वूट आये और अव चप्पल आ रहे है।

ब्राह्मणो की त्रिकाल-सन्ध्या गई, एककाल सन्ध्या भी बहुत जगह न रही। अब भी ब्राह्मण ईश्वरोपासना करते है, पर बाहरी स्वरूप बदलता जा रहा है। सोला गया, धोतिया रह गई। छुआछूत का विचार कम होता जा रहा है। ब्राह्मणो के षट्कर्म गये, भिक्षावृत्ति आई। अब सेवा-वृत्ति ने उस का स्थान ले लिया। हम जरा ही गौर करेगे तो मालूम होगा कि हमारा जीवन क्षण-क्षण मे बदल रहा है। हमारे समाज की भीतरी और बाहरी अनेक बातो मे रूपान्तर हो रहा है। विवेकपूर्वक जो रूपान्तर किया जाता है उससे समाज को लाभ होता है, समाज की उन्नति होती है। आखे मूद-कर जो अनुकरण किया जाता है उससे समाज की अधोगति होती है। अतएव सामाजिक रीति-नीति मे देश-काल-पात्र को देखकर विवेक-पूर्वक परि-वर्तन करना समाज के धुरीणो का कर्तव्य है। यह पाप नही, पुण्य कार्य है। जिन चालो से धर्म-संस्कार का कोई सम्बन्ध नही, जिनमे अकारण धन-व्यय होता है, सो भी ऐसे जमाने मे जब कि आमदनी के साधन दिन-दिन कम होते जा रहे है, जिनसे समाज मे दुराचार की वृद्धि होती है, उनका मिटाना समाज के धुरीणो ओर हित-चिन्तको का परम कर्तव्य है। पिछले जमाने मे, जब कि आमदनी काफी थी और इस कारण लोगो को उन रिवाजो मे आज की तरह बुराई नही दिखाई देती थी, उनके कारण विवाह की शोभा बढती थी। आज तो 'शोभा' के बजाय वे भार-भूत और बरबादी-रूप मालूम होते है। मै श्रीमन्तो की बात नही करता, मुझ जैसे गरीबो की बात करता हू। श्रीमन्त तो हमारे समाज मे बहुत थोडे है, गरीबो की ही सख्या ज्यादा है। श्रीमन्तो को उचित ह कि वे गरीबो का खयाल रक्खे। गरीबो को उचित है कि वे श्रीमन्तो का अनुकरण न करे। धन की बात छोड दे तो भी गालिया, गाना, नाच, परदा, बहुतेरे गहने देना आदि विवाह-विधि के साथ जुडी हुई रूढिया तथा बाल-विवाह, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि भयकर कुरीतिया तो श्रीमन्तो के यहा भी न होनी चाहिए। क्या धनी, क्या निर्धन, सब को इन से हानि पहुचती है। अपने जीते-जी शादी देख लेने के मोह से छोटे बालक-बालिकाओ की शादी कर लेना, शक्ति से बाहर कर्ज

करके हैसियत से ज्यादा खर्च कर डालना, कन्या-विक्रय करना—इन क्रमश, अधार्मिक, अनुचित और जगली कुरीतियो को मिटाना धनी-गरीब, सब के लिए उचित है। बिना लडके-लडकी की सलाह लिए अपनी मरजी से शादी कर देना भी बुरी प्रथा है। इससे कितने ही दम्पतियो की ससार-यात्रा यम-यातना के समान हो जाती है। हमे मोह और मनोवेग को रोक कर बुद्धि, विचार और विवेक से काम लेने की परम आवश्यकता है। हममे से सैकडा ७५ तो जरूर मेरी तरह इन बातो मे सुधार चाहते होगे, पर उनमे से कितने ही वृद्ध गुरुजनो के सकोच से सुधार नही कर पाते। उनकी इच्छा तो है, पर वे लाचार रहते है।

वृद्धजनो के लिए पुरानी बातो पर, फिर वे आज चाहे हानिकारक भी हो गई हो, चिपके रहना स्वाभाविक है, क्योकि वे आजन्म उन्ही को अच्छा समझते आये है और जिसे वे अच्छा समझते है उसपर वे दृढ है और रहना चाहते है, यह उनका गुण हमे ग्रहण करना चाहिए। हमे भी उचित है कि जिन बातो को हम ठीक समझते है उनपर दृढ रहे। बुजुर्गो की सेवा करना, नम्रतापूर्वक उनसे व्यवहार करना हमारा धर्म है। उसी प्रकार हमे जो बात ठीक जचे, जो हमे अपना कर्त्तव्य दिखाई दे, उसका पालन करना, उस पर दृढ रहना भी हमारा धर्म है। यदि हम ऐसा न करेगे तो अपने बुजुर्गो के योग्य अपने को न साबित करेगे। हमारा कर्त्तव्य है कि जो बात हमे उचित और लाभदायक मालूम होती है स्वय उसके अनुसार अपना आचरण रखकर उसकी उपयोगिता उन्हे साबित कर दे। या तो उन्हे समझा-बुझाकर या अपने प्रत्यक्ष आचरण के द्वारा ही हम उन्हे उनकी उपयोगिता का कायल कर सकते है। यदि हम दो मे से एक भी न करे तो इसमे उनका क्या दोष? वे तो स्वय अपने उदाहरण के द्वारा यह पाठ पढा रहे है कि जिसको तुम अच्छा समझते हो वह करो, उसपर दृढ रहो, जैसा कि हम रहते है। हमे विश्वास रखना चाहिए कि हमारे बडे-बूढे इतने विचारवान और विवेकी जरूर है कि वे मौके को देखकर सम्हल जायगे और खुद आगे रहकर उन दोषो को दूर कर देगे।

६ : 'पत्नीव्रत'-धर्म

यदि विवाह-सम्बन्ध समाज के विकास के लिए आवश्यक है तो वर्तमान समय मे, जबकि पति बहुत स्वेच्छाचारी हो गया है, यह आवश्यक है कि पत्नी के प्रति उसके कर्तव्य का स्मरण उसे दिलाया जाय और इस धर्म के भग का उससे प्रायश्चित्त कराया जाय।

आशा है, 'पत्नीव्रत' धर्म के नाम से हमारी बहने खुश होगी—खासकर वे बहने, जिनकी यह शिकायत है कि प्राचीन काल के पुरुषो ने स्त्रियो को हर तरह दबा रक्खा। और वे पुरुष, सम्भव है, लेखक को कोसे, जिन्हे स्त्रियो को अपनी दासी समझने की आदत पडी हुई है। यह बात कि किस ने किसको दबा रक्खा है, एक ओर रख दें, तो भी यह निर्विवाद सिद्ध और स्पष्ट है कि आज स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध पर और उनके मौजूदा पारस्परिक व्यवहार पर नये सिरे मे विचार करने की आवश्यकता उपस्थित हो गई है। स्त्री और पुरुष दो परस्पर-पूरक शक्तिया है और उनका पृथक्-पृथक् तथा सम्मिलित बल और गुण व्यक्ति और समाज के हित और सुख में लगना अपेक्षित है। यदि दोनो के गुणो और शक्तियो का समान विकास न होगा, तो उनका पूरा और उचित उपयोग न हो सकेगा। पक्षी का एक पख यदि कच्चा या कमजोर हो, तो वह अच्छी तरह उड नही सकता। गाडी का एक पहिया यदि छोटा या टूटा हो, तो वह चल नही सकती। हिन्दू समाज मे आज पुरुष कई बातो मे स्त्रियो से ऊचा उठा हुआ, आगे बढा हुआ, स्वतत्र और बलशाली है। धर्म-मन्दिरो मे उसी का जय-जयकार है, साहित्य-कला में उसी का आदर-सत्कार है, शिक्षा-दीक्षा मे भी वही अगुआ है। स्त्रियो को न तो पढने की स्वतत्रता और सुविधा और न घर मे बाहर निकलने की। परदा और घूघट तो नाग-पाश की तरह उन्हे जकडे हुए है। चूल्हा-चौका, धोना-रोना, बाल-बच्चे यह हिन्दू स्त्री का सारा जीवन है। इस विषमता को दूर किये बिना हिन्दू-समाज का कल्याण नही। देश और काल के ज्ञानी पुरुषो को चाहिए कि वे स्त्रियो के विकास मे अपना कदम तेजी

से आगे वढावे। जहा तक लब्ध-प्रतिष्ठ, वलवान और प्रभावशाली व्यक्ति के दुर्गुणो से सम्वन्ध है, हिन्दू पुरुष हिन्दू स्त्री से वढ-चढकर है और जहा तक अन्तर्जगत् के गुण ओर सौंदर्य से सम्वन्ध है, वहा तक स्त्रिया पुरुषो से वहुत आगे है। पुरुषो का लौकिक जीवन अधिक आकर्षक है, उपयोगी है, व्यक्तिगत जीवन अधिक दोष-युक्त, नीरस और कलुषित है। अपने सामाजिक प्रभुत्व से वह समाज को चाहे लाभ पहुचा सकता हो, पर व्यक्तिगत विकास मे वह पीछे पड गया है। विपक्ष मे स्त्रियो के उच्च गुणो का उपयोग देश और समाज को कम होता है, परन्तु व्यक्तिगत जीवन मे वे उनको वहुत ऊचा उठा देते है। अपनी वुद्धि-चातुरी से पुरुष सामाजिक जगत् में कितना ही ऊचा उठ जाता हो, व्यक्तिगत जीवन उसका भोग-विलास, रोग-शोक, भय-चिन्ता मे समाप्त हो जाता है। स्त्रियो की गति समाज और देश के व्यवहार जगत् मे न होने के कारण, उनमे सामाजिकता का अभाव पाया जाता है। अतएव अव पुरुषो के जीवन को अधिक व्यक्तिगत और पवित्र वनाने की आवश्यकता है और स्त्रियो के जीवन को सामाजिक कामो मे अधिक लगाने की। पुरुषो और स्त्रियो के जीवन मे इस प्रकार सामजस्य जवतक न होगा तवतक न उन्हे सुख मिल सकता है, न समाज को।

यह तो हुआ स्त्री-पुरुषो के जीवन का सामान्य प्रश्न। अव रहा उनके पारस्परिक सम्वन्ध का प्रश्न। मेरी यह धारणा है कि स्त्री, पुरुष की अपेक्षा अधिक वफादार है। पुरुष एक तो सामाजिक प्रभुता के कारण और दूसरे अनेक भले-वुरे लोगो और वस्तुओ के सम्पर्क के कारण अधिक वेवफा हो गया है। स्त्रिया व्यक्तिगत और गृह-जीवन के कारण स्वभावत स्वरक्षणशील अतएव वफादार रह पाई है। पर अव हमारी सामाजिक अवस्था मे ऐसा उथल-पुथल हो रहा है कि पुरुषो का जीवन अधिक उच्च, सात्विक और श्रेष्ठ एव वफ़ादार वने विना समाज का पाव आगे न वढ सकेगा। अवतक पुरुषो ने स्त्रियो के कर्त्तव्यो पर वहुत जोर दिया है। उनकी वफादारी, पातिव्रत हमारे यहा पवित्रता की पराकाष्ठा मानी गई है। अव ऐसा समय आ गया है कि पुरुष अपने कर्त्तव्यो की ओर ज्यादा ध्यान दे।

व्यभिचारी, दुराचारी, आक्रामक, अत्याचारी पुरुष के मुह में अब पतिव्रत धर्म की बात शोभा नही देती। हमारी माताओ और बहनो ने इस अग्नि-परीक्षा मे तप कर अपने को शुद्ध सुवर्ण सिद्ध कर दिया है। अब पुरुष की बारी है। अब उसकी परीक्षा का युग आ रहा है। अब उसे अपने लिए पत्नीव्रत-धर्म की रचना करनी चाहिए। अब स्मृतियो मे, कथा-वार्ताओ मे, पत्नीव्रत-धर्म की विधि और उपदेश होना चाहिए। पत्नीव्रत-धर्म के मानी है पत्नी के प्रति वफादारी। स्त्री अबतक जैसे पति को परमेश्वर मान कर एकनिष्ठा मे उसे अपना आराध्य देव मानती आई है उसी प्रकार पत्नी को गृहदेवी मान कर हमे उसका आदर करना चाहिए, उसके विकास मे हर प्रकार सहायता करनी चाहिए और सप्तपदी के समय जो प्रतिज्ञाए पुरुष ने उसके साथ की है, उनका पालन एकनिष्ठा-पूर्वक होना चाहिए।

इस प्रकार स्त्री-जीवन को समाजशील बनाये बिना और पुरुष-जीवन को पत्नीव्रत-धर्म की दीक्षा दिये बिना, हिन्दू-समाज का उद्धार कठिन है। हर्ष की बात है कि एक ओर पुरुष अपनी इस त्रुटि को समझने लग गया है और दूसरी ओर स्त्रियो ने भी अपनी आवाज उठाई है। इसका फल दोनो के लिए अच्छा होगा, इसमे सन्देह नही।

७ : सन्तति-निग्रह

'विवेकभ्रष्टाना भवति विनिपात शतमुख'

जब मौसम बदलता है तब कितने ही लोग अक्सर बीमार हो जाते है। जब कैदी एकाएक जेल से छूट जाते है तो कितने ही मारे खुशी के सुध-बुध भूल जाते है। जब बहुत दिनो के सोये हुए मुसाफिर एकाएक जग पडते है तब बहुतेरे दीवाने से हो जाते है। जब रोगी एकाएक आराम पाने लगता है तब अक्सर बदपरहेजी कर बैठता है। बहुत-कुछ यही हालत हमारे देश के अति-उत्साही युवको की हो रही है। सदियो से गुलामी की नीद मे सोये वे जागृति का अनुभव और स्वतत्रता के प्रतिबिम्ब का दर्शन करके मानो बौखला गये है। बहुत दिनो का प्यासा जिस तरह पेट फूलने तक पानी

पी लेना चाहता है उसी तरह वे स्वतन्त्रता की कल्पना-मात्र से इतने बौराये जा रहे है कि नीति, सुरुचि और शिष्टता तक की मर्यादा का पालन करना नही चाहते, बल्कि यह कहे तो अत्युक्ति न होगी कि वे नियम को ही एक बन्धन मानते हुए दिखाई देते हैं। शायद वे निरकुशता को स्वतन्त्रता मान बैठे हैं। क्या साहित्य, क्या समाज, क्या राजनीति, तीनो क्षेत्रो मे इस उच्छृखलता के दर्शन हो रहे हैं। यह विकार का लक्षण है। इससे समाज का लाभ तो शायद ही हो, उलटा व्यतिक्रम का अन्देशा रहता है। स्वतन्त्रता की धुन मे मस्त हमारे कई नवयुवक इन दिनो सतति के सम्बन्ध में भी उच्छृखल बन जाना पसन्द करते हैं। अतएव यही समय है जब चेतावनी देने की, 'ठहरो और सोचो' कहने की जरूरत होती है।

'सन्तान-वृद्धि-निग्रह' के मोह मे कन्याओ, स्त्रियो और बच्चो के हाथ मे पडने वाले पत्रो तक मे सुरुचि तक का सहार करते हुए 'सन्तति निग्रह' का प्रचार हो रहा है। उसपर ध्यान जाने से ये विचार मन में उठ रहे हैं। कुछ हिन्दी-पत्रो की गतिविधि पर सूक्ष्म रूप से ध्यान देने से मेरा यह मत होता जाता है कि अश्लीलता, अशिष्टता, कुरुचि, कुत्सा की उनकी कसौटी सर्वसाधारण भारतीय समाज की कसौटी से भिन्न है और उन्होंने बुद्धि-पूर्वक ही अपनी यह रीति-नीति रक्खी है। नही मालूम इसमें वे समाज का क्या कल्याण देखते है।

यूरोप मे एक समाज ऐसा है कि जिसका यह मत है कि ज्ञान के प्रचार से, फिर वह अच्छी बात का हो या बुरी या अनुचित या अश्लील मानी जाने वाली बात का हो, कभी हानि नही होती। वे उससे उलटा लाभ समझते हैं। वे कहते है, हम जन-समाज के सामने सब तरह की ज्ञान-सामग्री उपस्थित करते है, वह विवेक-पूर्वक उसमे से अच्छी और हितकर सामग्री चुन ले और उसे अपना ले। इससे उसकी सारासार-विवेकशक्ति जाग्रत होगी। वह स्वतन्त्र और स्वावलबी होगा और इसलिए वे अश्लील और गुह्य बातो का प्रचार करने के लिए अपने को स्वतन्त्र मानते हैं, अपना अधिकार समझते हैं। इसी समाज के मत का अनुसरण हमारे देश के कुछ उत्साही

युवक कर रहे है। वे स्वय विवेक-पूर्वक चुनकर ज्ञान-सामग्री समाज को देना नही चाहते, वल्कि चुनाव का और विवेक के प्रयोग का भार जन-समाज पर रखना चाहते है। कह नही सकते कि इस चित्तवृत्ति के मूल में समाज की विवेक-शक्ति को जाग्रत और पुष्ट करने की भावना मुख्यत काम रही है या मनमोहक विलास-मधुर सामग्री का उपभोग करने और कराने की युवक-जनसुलभ कमजोरी। विचार-स्वातत्र्य और कार्य-स्वातत्र्य ही नही, वल्कि प्रचार-स्वातत्र्य के उदाराशय के भ्रम मे कही उनसे स्वेच्छाचार, काम-लिप्सा और विषय-भोग को तो उत्तेजना नही मिल रही है? हा, अधिकार तो मनुष्य 'नगा नाचने' का भी रखता है, पर वह किसी भी सभ्य समाज मे 'नगा नाचने' के लिए स्वतत्र नही है, और दूसरे, यदि वह नाचने लगे तो समाज को उससे जवाव तलव करने का भी अधिकार प्राप्त है। जन-समाज प्राय सरल हृदय होता है। वह भोले-भाले शिशु की तरह है। वह सहवास, सस्कार और शिक्षा-दीक्षा से विवेक प्राप्त करता है। वह शिक्षक या साथी या मार्गदर्शक निस्सन्देह हितचिन्तक नही है, जो अपने विवेक को अपनी जेव मे रखकर उसकी बुद्धि को निरकुश छोड देता है। कोई भी अनुभवी शिक्षाशास्त्री और समाज-शास्त्री इस रीति का अनुमोदन न करेगा। प्रत्येक शिक्षा-शास्त्री और समाज-शास्त्री ने निर्दोष और पवित्र वायुमडल मे ही मनुष्य की उच्च मनोवृत्तियो के अर्थात् मनुष्यता के विकास की कल्पना की है। मनुष्य निसर्गत स्वतत्र है, पर निरकुश नही, प्रकृति का साम्राज्य इतना सुव्यवस्थित है कि उसमे निरकुशता के लिए जरा भी जगह नही है। प्रकृति के राज्य मे पशु-पक्षी भी अपने समाज के अन्दर निरकुश नही है। जहा कोई निरकुश हुआ नही कि प्रकृति ने अपना राज्य-दण्ड उठाया नही। फिर उस शिक्षक या साथी से समाज को लाभ ही क्या जो अपने विवेक का लाभ उसे न पहुचाता हो। अन्न और ककर दोनो वस्तुये वालक को सामने लाकर रख देने और चुनाव की सारी पसन्दगी उसपर छोड देनेवाले शिक्षक के विवेक की कोई प्रशसा करेगा? सन्तान-वृद्धि को रोकने के लिए ब्रह्मचर्य और कृत्रिम साधन इन दो

मैं ने कृत्रिम साधनों की सिफारिश करने वाले और ब्रह्मचर्य को सर्वसाधारण के लिए असुलभ बताने वाले शिक्षक या डाक्टर की स्तुति कितनी की जाय ? वे तो और एक कदम आगे बढ़ जाते हैं—चुनाव की पसंदगी भी जन-साधारण पर नहीं छोड़ते, उलटा स्पष्टतः अपने प्रिय (और मेरी दृष्टि में हानिकर) साधन की सिफारिश भी करते हैं और सर्वसाधारण के लाभार्थ उसकी विधि भी बता देते हैं ।

स्वतन्त्रता और निरंकुशता या उच्छृंखलता दो जुदा चीजें हैं । स्वतन्त्रता का मूलाधार है संयम, निरंकुशता का मूलाधार है स्वेच्छाचार । संयम के द्वारा मनुष्य स्वयं तो स्वतंत्र होता ही है, पर वह औरों को भी स्वतन्त्र रहने देता है । स्वेच्छाचार का अर्थ है औरों की न्यायोचित स्वतन्त्रता का अपहरण । यदि हमें औरों की स्वतन्त्रता भी उतनी प्यारी हो जितनी कि खुद अपनी तो हमें संयम का व्यवहार किये बिना चारा नहीं । जो खुद तो स्वतन्त्र रहना चाहता है, पर दूसरे की स्वतन्त्रता की परवा नहीं करता, वह स्वतन्त्रता का प्रेमी नहीं, स्वेच्छाचार का प्रेमी है, स्वार्थान्ध है । ब्रह्मचर्य संयम का पहरा है और विवेक संयम का नेता है । अतएव विवेकहीन ज्ञान-प्रचार अज्ञान-प्रचार का दूसरा नाम है । गन्दी बातों का प्रचार स्वेच्छाचार ही है । स्वेच्छाचार समाज का अपराध है । स्वेच्छाचार और असंयम एक ही वस्तु के दो रूप हैं । मनुष्य संयम करने के लिए चारों ओर से बाध्य है । प्रकृति का तो धर्म ही है । स्वेच्छाचार या असंयम प्रकृति का नहीं, विकृति का धर्म है । प्रत्येक मनोवेग को प्रकृति का धर्म मानकर उसे उच्छृंखल छोड़ देना पागलपन या उन्मत्तता को प्रकृति का धर्म बताना है । ऐसा समाज मनुष्यों का समाज न होगा, राक्षसों का समाज होगा, दीवानों का समाज होगा । मनुष्य स्वयं भी संयम के लिए प्रेरित होता है और जबतक उसे स्वयं ऐसी प्रेरणा नहीं होती, तबतक समाज उससे संयम का पालन कराता है—नीति और सदाचार के नियमों की रचना करके और उनका पालन कराके । इस प्रकार मनुष्य प्रकृति स्वयं-प्रेरणा और समाज तीनों के द्वारा संयम करने के लिए बाध्य है । मनुष्य की सबसे अच्छी परिभाषा

यही हो सकती है—सयम का पुतला। मनुष्य-समाज और पशु-समाज में अन्तर डालने वाली यदि कोई बात है तो यही कि मनुष्य-समाज में नीति-सदाचार, विवेक की सुव्यवस्था है, पशु-समाज मे नही। यदि हो तो उसका ज्ञान हमे नही। नीति-सदाचार मनुष्य के गहरे सामाजिक और आत्मिक अनुभव के फल है। उनकी उपेक्षा करना लडकपन है। उनकी हसी उडाना, स्वय अपने को गालिया देना है। फिर किसी वैज्ञानिक विषय की वैज्ञानिक ढग पर, उसके जिज्ञासुओ के सामने विज्ञानशालाओं में चर्चा करना एक बात है और सर्वसाधारण के सामने, लडके-लडकियो के सामने, उनका प्रदर्शन करना, प्रचार करना, विधि-विधान बताना हद दर्जे का स्वेच्छाचार है। सुव्यवस्थित और शिष्ट समाज इसे सहन नही कर सकता। अतएव जबतक समाज को आप इस बात का यकीन नही करा सकते कि सुरुचि, अश्लीलता, शिष्टता-सम्बन्धी आपकी कसौटी ही ठीक है तबतक आपका यह कृत्य निरकुश ही माना जायगा। समाज के 'मौन' को 'सम्मति-लक्षण' मानना तो भारी गलती है। नही, उसकी सज्जनता और सहनशीलता का उसे दण्ड देना है।

यूरोप की कितनी ही बाते अनुकरण योग्य है, पर हर नई बात नही। हमे अपने विवेक से पूरा-पूरा काम लेना चाहिए। यूरोप अभी बच्चा है—भारत बूढा है। आज भारत चाहे पराजित हो, गुलाम हो, पतित हो, पर अब भी यूरोप को वह समाज-शास्त्र और धर्म-शास्त्र की शिक्षा दे सकता है। उसके ज्ञान और अनुभव की सच्ची कदर तब होगी जब यूरोप प्रौढावस्था मे पदार्पण करेगा। इसलिए यूरोप की किसी भी नई चीज का स्वागत करने के पहले हमे यह देखना चाहिए कि हमारे यहा इसके लिए क्या विधि-विधान है। यदि कुछ भी न होगे, या यूरोप से अच्छे न होगे तभी हम देश, काल, पात्र का पूरा विचार करके उसको अपनावे। कोई चीज महज इसीलिए अनुकरणीय नही हो सकती कि वह नई है, या यूरोप की बनी है। गुण-दोष की छान-बीन होने के बाद ही अनुकरण होना चाहिए। ब्रह्मचर्य की महत्ता सिद्ध करने की आवश्यकता नही। सयम के गुण स्पष्ट है। दिल को कडा

करके थोडा-सा अनुभव कर देखिए। हाथ कगन को आरसी क्या ? हमारा मन अपने वस मे नही रहता, इसलिए ब्रह्मचर्य को कोसना अपनी निर्वलता की नुमाइश दिखाना है। इन्द्रिय-निग्रह मे कौडी का खर्च नही, कृत्रिम साधनो को खरीदने के लिए डाक्टरो की दूकानो पर जाकर रुपया बर्बाद करने की जरूरत नही। थोडा मन को वस मे रखने की जरूरत है। आश्चर्य और खेद इस बात पर होता है कि लोग कृत्रिम साधनो को ब्रह्मचर्य से ज्यादा सरल और सुसाध्य बताते है। यदि हमे सचमुच अपनी सन्तति के ही कल्याण की इच्छा है, जिसका कि दावा कृत्रिम साधनो के हामी करते है, अपनी काम-लिप्सा को तृप्त करने की इच्छा नही, तो हम अनुभव करेगे कि कृत्रिम साधनो की अपेक्षा ब्रह्मचर्य ही स्वाभाविक, सस्ता, स्वास्थ्य-सौन्दर्य-वर्धक और स्थायी साधन है। यह मानकर कि ब्रह्मचर्य सर्वसाधारण के लिए कुछ मुश्किल है कृत्रिम साधनो की सिफारिश करना ऐसा ही है जैसा कि हमारी सरकार का फौज के लिए वेश्याओ की तजवीज करना या घर मे शराब बनाना बुरा है, इसलिए शराब की भट्टी खोल कर वहा पीने भेजना। कृत्रिम साधनो के उपयोग की सिफारिश करना लोगो को कायरता की शिक्षा देना है—एक ओर ब्रह्मचर्य के पालन की आवश्यकता न रहने देकर और दूसरी ओर सन्तान के पालन-पोषण के भार से मुक्त करके। विषय-भोग की उन्मत्तता तो वे अपने अन्दर कायम रखना चाहते है, पर उसकी जिम्मेवारियो से दुम दबाना चाहते है। यह हद दर्जे की कायरता है। या तो सयम का पालन करके पुरुषार्थ का परिचय दीजिये या सन्तान का भार वहन करके पुरुषार्थी बनिए। ब्रह्मचर्य पालन के लिए सिर्फ सादा जीवन, सत्सगति, शुद्ध विचार की आवश्यकता है। उन्हे यह सब मजूर नही। अपने क्षणिक शारीरिक सुख के लिए, अपनी कल्पित कमजोरी की बदौलत, सारे मानव-वश के कुछ मृदुल और सात्विक गुणो के विनाश का बीज बोना, इस स्वार्थान्धता का, इस अज्ञान का कुछ ठिकाना है। उन्होने सोचा है कि इस अनियन्त्रित कामलिप्सा और उसकी निरन्तर पूर्ति से स्वय उनके शरीर, मन और बुद्धि

पर तथा उनकी सन्तान की मनोदशा और प्रवृत्तियो पर क्या असर होगा ? यूरोप के मनोवैज्ञानिको का कहना है कि ऐसे अप्राकृतिक साधनो के प्रयोग की वदौलत वहा एक भिन्न और विपरीत प्रकृति का नया वर्ग ही निर्माण हो रहा है। गृहस्थ-जीवन की हस्ती जवतक दुनिया मे मिट नही जाती तवतक कृत्रिम उपायो मे सन्तान-वृद्धि-निग्रह का प्रचार करना गृह-जीवन को नीरस और अमगल वनाने का प्रयत्न करना है। पता है, आपके गुरु यूरोप मे अव केवल कम सन्तति नही, विल्कुल ही सन्तति न होने देने की इच्छा अकुरित हो रही है ? क्यो ? वे नही चाहते कि सन्तति की वदौलत उनके शारीरिक और आर्थिक सुख में वाधा पडे ! अनियत्रित प्रजोत्पादन के हक में कोई भी विचार-शील पुरुष राय न देगा। पर उसका स्वाभाविक साधन ब्रह्मचर्य है, सयम है, न कि ये कृत्रिम साधन। उनसे अभीष्ट-सिद्धि के साथ ही मनुष्य के वल-वीर्य की और उच्च व्यक्तिगत तथा सामाजिक गुणो की वृद्धि होगी, तहा कृत्रिम साधनो से व्यक्तिगत, शारीरिक सुखेच्छा-मूलक स्वार्थ-भाव और हीन तथा विपरीत मनोवृत्तियो की वृद्धि होगी। नीति और सदाचार सामाजिक सुव्यवस्था की वुनियाद है। अतएव क्या विज्ञान, क्या कानून, क्या कला सव नीति और सदाचार के पोषक होने चाहिए। पर समाज में कुछ विपरीत मनोवृत्ति वाले लोग भी देखे जाते है जो इन साधनो का उपयोग नीति-सदाचार के घात और निरकुशता तथा स्वेच्छाचार की वृद्धि के लिए किया करते हैं। हो सकता है कि उनका प्रेरक हेतु जन-कल्याण ही हो, पर इसमे कोई शक नही कि उनकी कार्य-विधि मे विचार, अनुभव और ज्ञान की जगह जोश, आतुरता और अविचार हुआ करता है। विचार-हीन उत्साह को वन्दर की लीला ही समझिए।

इसलिए उन सज्जनो से मेरी प्रार्थना है कि दया करके देश के युवको को इस कायरता और स्वार्थान्धता के उलटे रास्ते पर न ले जाइए। यदि आप देश-हितैषी है तो उन्हे पुरुषार्थ की, ब्रह्मचर्य की ही शिक्षा दीजिए। उन्हीके प्रचार की तजवीजे सोचिए। ईश्वर के लिए अपनी कमजोरियो का शिकार उन्हे न वनाइए। मनुष्य क्या नही कर सकता? जो मनुष्य सारे पृथिवी-मडल

को हिला सकता है, हम देखते है कि वह हिला रहा है, वह ब्रह्मचर्य का पालन नही कर सकता, सयमपूर्वक गृहस्थ-जीवन नही व्यतीत कर सकता, ऐसी बाते शिक्षित मनुष्यो के, तिस पर भी भारतवासी के, मुह से शोभा नही देती। जो बात जरा मुश्किल मालम होती है उसके लिए फौरन अविचार-मूलक आसान तजवीज खोजना, मानो पुरषार्थ-हीन बनाने का कार्यक्रम तैयार करना है। कोशिश करने की जरूरत अगर है तो मुश्किलो को आसान बनाने की, ऊपर चढने की तदबीर करने की, न कि मुश्किलो से दुम दबाने, आसानी का नुसखा दिखाने की या नीचे गिरने और फिसलने की तरकीब बताने की। ब्रह्मचर्य को एकबारगी गालिया न दे बैठिए। जरा अपने बुजुर्गो के अनुभवो को भी पढ देखिए। उन्होने जीवन के हर अग मे ब्रह्मचर्य और सयम की जरूरत बताई है। गृहस्थ-जीवन को भी उन्होने मनुष्य की कुछ कमजोरियो के लिए, जिन्हे वह अबतक दूर नही कर पाया है, एक रियायत के तौर पर माना है। उनके सामाजिक ज्ञान और अनुभव को बिना देखे ही, बिना आजमाये ही धता न बताइए। मै यह नही कहता कि बडे-बूढो के या किसी के भी गुलाम बनो। पर मै यह जरूर कहता हू कि जो अपने मनोवेगो के आगे विचार और अनुभव की सीख पर ध्यान नही देता वह इस उक्ति को अपने पर चरितार्थ करेगा —

सुहृदा हितकामाना न श्रृणोति हि यो वच. ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धि· काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति ।।

हम जरूर स्वतन्त्रता के हामी हो, पुजारी हो, अविवेक के नही। हम जरूर ज्ञान के लिए लालायित रहे, पर अश्लील बातो के नही—बुरी बातो के नही। बुरी बातो को मिटाना मुश्किल है, इसलिए उनको सुलभ और इष्ट बनाना सुनीति नही है।

८ : कालेजों में नीति-हीनता

आएदिन ऐसी बाते कानो पर आया करती है कि कालेजो का वातावरण नीति और सदाचारहीन होता जा रहा है। लडकियो, विद्यार्थियो और

अध्यापकों तक के चरित्र-दोष और पतन की कहानियां हृदय को रुलाती हैं। देहात में मध्य-भारत के एक कालेज में गये हुए विद्यार्थी का पत्र मेरे हाथ में है। उसी के शब्दों में उसका आशय इस प्रकार है

विद्या का धर्म है आत्मिक उन्नति और आत्मिक उन्नति का फल उदारता, त्याग, सदिच्छा, सहानुभूति, न्यायपरता और दयाशीलता है। जो शिक्षा हमें निर्बलों को सताने पर तैयार करे, जो हमें धरती और धन का गुलाम बनावे, जो हमें भोगविलास में डुबावे, जो हमें दूसरों का रक्त पीकर मोटा होने का इच्छुक बनाये, वह शिक्षा नहीं, भ्रष्टता है। इन बातों को ध्यान में रखकर जब मैं कालेजों और स्कूलों के वर्तमान शिक्षण पर विचार करता हूं तो मुझे इनके द्वारा इस कथन के अन्तिम भाग के ही फल का विश्वास हो गया है। आज का भारतीय शिक्षण गुलामी और विलासिता से भरा हुआ है। इसमें आत्मोन्नति, त्याग और देश-सेवा के भाव देखना प्याज में से सार ढूंढने के बराबर है? स्वयं मेरा अनुभव है कि लड़के क्लास रूम में सिगरेट पीते और रंडीबाजी की बातें करते हैं। इन कार्यों को देखकर व सुनकर मैं खून के आंसू बहाता हूं। मुझे इस शिक्षण से विरक्ति हो रही है। मैं नहीं समझता कि ऐसे आचरणवाले भविष्य में क्या करेंगे? मेरे विचार में मनुष्य अपने विचारों की पवित्रता से बन सकता है, न कि अधिक विद्या पढ़ने से। "

वर्तमान शिक्षा-पद्धति का दोष अब सभी मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं, इसलिए इसकी चर्चा करना फिजूल है। कांग्रेसी सरकार तो अपने सिद्धांतों से इसे जड़मूल से सुधारने पर तुली हुई मालूम होती है। पर हमें भी कुछ करने की जरूरत है। नीति और सदाचार मनुष्य-जीवन का पाया है। यह निर्विवाद है। पश्चिमी शिक्षा और संस्कारों ने इस पाये को जरूर ढीला किया है, लेकिन हम हिन्दुस्तानी अपनी इस भूल को शीघ्र ही समझ लेंगे--इसमें मुझे जरा भी शंका नहीं है। जबतक शिक्षा-प्रणाली में ही सुधार न हो तबतक कालेजों का वातावरण तो शुद्ध और नीतियुक्त रखने की जरूरत है ही। यह बहुत कुछ अवलम्बित है आचार्यों और अध्यापकों

के शील और चारित्र्य पर । इस विषय मे उदासीनता या ढिलाई का परिणाम बुरा ही हो सकता है। खुद विद्यार्थियो को भी इस बारे में चुप न बैठना चाहिए। अपने सहपाठियो को जाग्रत रखना चाहिए। और लोकमत को इतना प्रबल बनाने का यत्न करना चाहिए कि जिससे नीति और सदाचार-हीनता के कीटाणु जन्म न लेने पावे। यदि जन्म पा गये तो शुद्ध हवा मे वे उसी क्षण मर जाय। शिक्षणालयो मे विद्यार्थी अपना जीवन बनाने जाते है, वही यदि उनके जीवन बिगडने लगे तो इससे बढकर अनर्थ क्या हो सकता है ? रक्षक ही भक्षक बन गया तो फिर खैर कहा ?

९ : पतन से बचने के उपाय

यो भी और खासकर देश-सेवा के क्षेत्रो मे कार्यकर्त्ता स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के सम्पर्क मे आये और रहे बिना नही रह सकते। ऐसी दशा मे वे पतन की ओर न चले जावे इसके लिए क्या उपाय हो सकते है ? इस विषय की भी चर्चा यहा कर ले तो अच्छा होगा।

मेरे अपने विचार मे तो मनुष्य पाप की तरफ तभी ढुलकता है जब उसकी ैतिक भावना ही कमजोर हो या होने लगी हो। समाज के कल्याण के जो नियम होते है, उन्हे नीति कहते है। वफादारी, वचन-पालन समाज के लिए बहुत उपयोगी उच्च नियम है। ये सत्य-पालन के ही दूसरे नाम है। एक-दूसरे के प्रति सच्चा रहने का नाम वफादारी है। इसी तरह चोरी पाप है, क्योकि उससे समाज की व्यवस्था मे गडबडी होती है। जिन नियमो के भग से समाज की हानि होती है, उन्हीके भग से भग करने वाले व्यक्तियो का भी चित्त अधिक दूषित होता है और वे कुमार्ग मे दृढ होते है। इससे नीति-भग का नैतिक दोष व्यक्ति और समाज दोनो के लिए अहितकर है।

किसी की बहू-बेटी को कुदृष्टि से देखना, उसके साथ व्यभिचार करना, चोरी और बेवफाई होने से दुहरा ेष है। चोरी तो हुई उस बहन के पति या मा-बाप की, और बेवफाई हुई अपनी धर्मपत्नी के प्रति। जो दम्पति व्यभिचार में प्रवृत्त होते है वे एक-दूसरे के प्रति सचाई का घात करते है।

इस पर आजकल के नव-मतवादी यह दलील देते हैं कि पारस्परिक सच्चाई का अर्थ तो है दोनों का मन मिल जाना। यदि किन्हीं दो स्त्री पुरुष का मन मिला हुआ है तो उनका परस्पर संयोग व्यभिचार नहीं है। उसके विपरीत जिनका मन अन्दर से फट गया है और केवल विवाह-बन्धन में जकड़े होने के कारण संयोग में प्रवृत्त होते हैं वह वास्तव में व्यभिचार है।

मेरा जवाब यह है कि व्यभिचार दो तरह का होता है, व्यक्तिगत और सामाजिक। पूर्वोक्त दोनों उदाहरण व्यभिचार में ही आते हैं। पहले में प्रधानत सामाजिक व्यभिचार है और दूसरे में प्रधानत व्यक्तिगत। केवल मन का मिल जाना ही संभोग के लिए या दम्पति बनने के लिए काफी नहीं है। यदि कुमार-कुमारी हैं तो उनके माता-पिता अभिभावक, या समाज की स्वीकृति की आवश्यकता है, यदि दम्पति हैं तो अपने विधियुक्त साथी से पहले सम्बन्ध-विच्छेद करना जरूरी है। दोनों उदाहरणों की इन शर्तों का पालन किये बिना किसीका दम्पति बन जाना चोरी अर्थात् व्यभिचार ही कहला सकता है। यदि नहीं तो वे बतावें कि ऐसे संबंधों को वे उसी तरह प्रकट रूप से क्यों नहीं करते और उन्हें कायम रखते? छिप-छिप कर क्यों करते हैं? छिपकर करना ही बताता है कि वे समाज के रोष और दण्ड से अपने को बचा कर अपनी कामाग्नि को संतुष्ट करना चाहते हैं। यह किसी भी नैतिक भित्ति पर सभ्य और सह्य नहीं माना जा सकता।

इतने नैतिक विवेचन की जरूरत यों पड़ी कि व्यभिचार के मूल में हमारी नैतिक शिथिलता ही प्रधान रूप से काम करती हुई पाई जाती है, इसलिए हमें अपने-आपको उसी जगह से संभालना चाहिए जहां से हमारा मन ही बेवफाई और चोरी की तरफ झुकने लगे। बेवफाई और चोरी का भाव मन में जगते ही हमारे चित्त में हजारों बिच्छू के डंक लगने की वेदना होनी चाहिए। जिस किसी के ऐसा न होता हो उसे समझना चाहिए कि वह मूर्च्छित है, अपने व्यक्तिगत हिताहित और समाज के कल्याण की कोई चिन्ता उसे नहीं है, कम-से-कम उस समय वह मर गई है और वह मनुष्य नहीं पशु की कोटि में चला गया है। वह अपने को इस बात का अधिकारी

न माने कि सम्बधित व्यक्ति या समाज उसके साथ मनुष्य की तरह व्यवहार करे। यदि हमारी नैतिक भावना इतनी जाग्रत और तीव्र रहेगी तो व्यभिचार, चोरी आदि नैतिक दोषो से हमारा बहुत बचाव हो सकता है।

इसके साथ ही यह भी जरूरी है कि हम दूसरे बाहरी साधनो से भी अपनी रक्षा के लिए सहायता ले। इसमे सबसे पहली और अच्छी बात यह है कि जब हमारा मन किसी पुरुष या स्त्री को देख कर बिगडने लगे तब हमारी आखो के सामने हमारे पति या पत्नी की मूर्ति खडी हो जानी चाहिए हमे अपने इस दोष पर झिडकती और फटकार बताती हुई। यदि अविवाहित है तो यह खयाल मन मे लाना चाहिए कि यदि हमारे पति या पत्नी होती और वे इस प्रकार बुरे'रास्ते जाने लगते होते तो क्या हमे बर्दाश्त होता ? इस कल्पना से हमारे सुप्त स्वाभिमान को चोट लगेगी, हमारी मनुष्यता जाग्रत होगी और वह हमारी पवित्रता की रक्षा के लिए दौड पडेगे। यह कल्पना या अनुभव करना भी बहुत सहायक होगा कि ईश्वर सर्वसाक्षी है। वह हमारे प्रत्येक भाव, विकार, विचार, उच्चार और आचार को सदा जाग्रत रहकर देखता है, चाहे हम उन्हे कितने ही एकान्त मे क्यो न करे अथवा यह अनुभव-सिद्ध श्रद्धा मन मे जमावे कि 'बैर और पाप छिपाये नही छिपते' और 'पाप आसमान पर चढ कर बोलता है'। हमारे कुल और खानदान की इज्जत, माता-पिता की सुकीर्ति, मित्रो और लोगो के सामने लज्जित होने का अवसर, दुश्मनो को हमे धर दबाने और जलील करने का मौका मिलने की सम्भावना, इनमे से किसी भी बात का असर यदि किसी मनुष्यपर नही पडता है तो उसे पशु के सिवा और क्या कहा जाय? फिर, पहली बार के पतन से बच जाने की सम्भावना अधिक है, परन्तु दूसरी बार के पतन से बचना और भी कठिन है। इसलिए जो पाप और बुराई से बचना चाहते है उन्हे चाहिए कि वे पापकी परीक्षा न करे—अपने को उसकी आजमाइश करने की जोखिम मे न डाले, उससे सैकडो मील दूर ही रहने की कोशिश करे।

: ५ :

नवीन आर्थिक व्यवस्था

१ : बौद्धिक स्वार्थ-साधुता

हमारी वर्तमान अर्थ-व्यवस्था शोषण के सिद्धांत तथा हिंसा बल पर आश्रित है। इससे समाज में विषमता, अशांति व कलह का दौर-दौरा है उसे मिटाने के लिए नवीन अर्थ-व्यवस्था की जरूरत है। इसके लिए कुछ लोगों का यह कहना है कि पूंजीवाद का मुह काला करना जरूरी है और पूंजीवाद को मिटाने के लिए वर्गवाद और वर्ग-युद्ध अनिवार्य है। किंतु मेरी राय में हमारा असली शत्रु है हमारी बौद्धिक स्वार्थ-साधुता, क्योंकि वास्तव मे देखा जाय तो जो मनुष्य सारे समाज के हित का विचार करता है, जो साम्प्रदायिक उत्थान का हामी है, वह कदापि एक व्यक्ति के नाश पर दूसरे व्यक्ति का एक जाति या श्रेणी के नाश पर दूसरी जाति या श्रेणी का, अथवा एक राष्ट्र के नाश पर दूसरे राष्ट्र का अभ्युत्थान या लाभ नही चाह सकता। एक का नाश और दूसरे का अभ्युत्थान, यह समाजवादी की भाषा नही हो सकती। वह सबका समान उदय चाहता है। वह पीडक और पीडित, उन्नत और अवनत, सुखी और दुखी, धनी और निर्धन, सबका समान हित चाहता है। हित और नाश, ये दोनो शब्द, ये दोनो भाव, एक जगह नही रह सकते। हितकर्त्ता सुधार चाहता है, नाश नही। वह नाश करेगा बुराई का, बुरी प्रणाली का, बुरे शासन का, पर बुरे व्यक्ति का नही। व्यक्ति का तो वह सुधार चाहता है। जिसका सुधार चाहता है उसीका नाश करके वह उसका सुधार कैसे करेगा ? वह एक का नाश करके दूसरे को सच्चे अर्थ मे बचा भी नही सकता। किसी के बचाने या सुधारने का

उपाय क्या है ? उसे उसकी भूल वताना, समझाना और सुवार के लिए उत्साहित करना, सुधार-मार्ग में आने वाली कठिनाइया दूर करना, न कि एक को मारकर उसके डर से दूसरे को उस वुराई से वचाना। डर से मनुष्य कितने दिन तक वचेगा ? हमें उसके मन मे वुराई के प्रति असहिष्णुता, वुरे के साथ असहयोग का भाव उत्पन्न करना चाहिए। इससे वह वुराई से वचेगा भी और दूसरो का भी, विना नाश किये सुधार होगा।

वर्गयुद्धवादी अपने पक्ष की शुरूआत इस तरह करते हैं—मसार में दो वर्ग हैं, एक स्वार्थ-साधु या शोपक, दूसरा पीडित या शोषित। शोषक अपने धन-वल से पीडक वन गया है। अपने धनैश्वर्य के वल पर उसने सत्ता भी अपने हाथ मे करली है। जवतक यह वर्ग ससार में रहेगा तवतक जनता तो पीडित ही वनी रहेगी। यह वर्ग इतना प्रवल और सुसगठित हो गया है कि जवतक सत्ता हाथ में लेकर उसे नष्ट नही कर दिया जायगा तवतक पीडित जनता का उद्धार न होगा। रूस में लेनिन ने शस्त्र-वल से ऐसी क्राति की है। उसकी सफलता ने इन भावो और योजनाओ को वहुत प्रोत्साहन दिया है। इस विचार के लोग अपने को कम्यूनिस्ट कहते हैं, पर असल में देखा जाय तो वे समष्टि-हित के भ्रम से वर्ग-हित कर रहे है, भले ही वह वहु-जन-समाज का हो। हम विश्लेषण के लिए भले ही ऐसे दो वर्ग मान ले, पर एक के विनाश पर दूसरे के उदय की कल्पना करना समष्टि-हित की कल्पना के प्रतिकूल है।

परन्तु मै तो एक और दूर की तथा गहरी वात पाठको के सामने रखना चाहता हू। मै मानता हू कि धन-वल का वर्तमान सगठन समष्टि-हित के अनुकूल नही है। परन्तु समष्टि के पीडन का मुख्य कारण यही नही है। धन, सत्ता और ज्ञान अथवा वुद्धि तीनो को किसी और चीज ने अपना साधन वनाया है, वह है मनुष्य की स्वार्थ-साधुता या शोषकवृत्ति। जव यह वढ जाती है तव मनुष्य पीडक वन जाता है। अकेले धनी ही नही, सत्ताधारी और विद्वान या वुद्धिशाली प्राय सभी अपनी शक्तियो का दुरुपयोग कर रहे है। मेरी समझ मे यह मानना उतना सही नही है कि धन ने सत्ता और वुद्धि

को अपने लाभ के लिए खरीद लिया है, जितना यह कि बुद्धि ने धन और सत्ता दोनो को अपना गुलाम बना रक्खा है। बुद्धि का दरजा धन और सत्ता से बढ़ कर है। बिना बुद्धि के न तो धन पैदा हो सकता है, न सत्ता आ सकती है, न दोनो को सगठन हो सकता है। विज्ञान के अद्भुत आविष्कार जो धन, बुद्धि या सत्ता की रक्षा के जबर्दस्त साधन बने है, बुद्धि की ही करामात है। अतएव मै उन भाइयो का ध्यान इस ओर खीचना चाहता हू जो महज पूँजीवाद के विरोधी है और उसी को जन-साधारण के दुखो की जड मानते है। वे गहराई मे उतरेगे तो उन्हे पता लगेगा कि धन और सत्ता के दुरुपयोग से बढकर बौद्धिक शोषण—स्वार्थ-साधुता—है और पहले उसे हमे समाज मे से निकालना है ।

यह कैसे निकले ? सब से पहले मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध कीजिए। उसे स्वार्थ-साधना से हटा कर देश-सेवा और जन-सेवा मे लगवाइए। यह भावना फैलाइए कि मनुष्य अपने लिए न जीये, दूसरो के लिए जीये। अपने आचरण के द्वारा ऐसा उदाहरण पेश कीजिये। सदा जागरूक रहिए कि आपकी बुद्धि आपके स्वार्थ के लिए तो दूसरो का उपयोग नही कर रही है। यदि आपने अपनी बुद्धि पर अच्छी तरह चौकी-पहरा बिठा दिया है तो आप देखेगे कि न आपके पास धन जमा हो रहा है और न सत्ता आ रही है। आप धन और सत्ता से उदासीन हो जायगे। यदि धन और सत्ता आपके पास आये भी तो आपकी शुद्ध बुद्धि उन्हे अपनी स्वार्थ-साधना मे न लगने देगी, जन-कल्याण मे ही उसका उपयोग करावेगी। आप देखते ही है कि धन और सत्ता बजातखुद उतनी बुरी चीजे नही है । सद्बुद्धि उनका सदुपयोग करती है ओर कुबुद्धि दुरुपयोग। यही असली हानिकर वस्तु है। इससे हमे अपने को सब तरह बचाना चाहिए ।

आपको समाज मे ऐसे व्यक्ति मिलेगे जो धन-बल को कोसते है, पर सत्ता के लिए लालायित रहते है। इस तरह ऐसे पुरुष भी मिलेगे जो धन और सत्ता दोनो की निन्दा करते है, किन्तु अपनी बुद्धि या ज्ञान के द्वारा दोनो का उपयोग स्वार्थ-साधन मे करते है। फिर बुद्धि का दुरुपयोग धन

और सत्ता के दुरुपयोग से अधिक सूक्ष्म अतएव अधिक गहरा प्रभावकारी है। इसलिए मेरा तो यह निश्चित मत है कि यदि भारत के वास्तविक सदेश को हमने समझ लिया है, हमे समाज की व्यवस्था को सुधारना है, उसमे सामजस्य और समता लानी है तो अकेले पूजीवाद के पीछे पडने से काम न चलेगा। पूजी, सत्ता और बुद्धि तीनो के दुरुपयोग की जड पर कुठाराघात करना होगा। इसमे भी सबसे पहले बौद्धिक स्वार्थ-साधुता का गला घोटना होगा, क्योकि वास्तव मे बुद्धि ही इनका नेतृत्व करती है। अतएव समाज के सभी विचारशील पुरुषो से मेरी प्रार्थना है कि वे अकेले पूजीवाद का पिण्ड छोडकर मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध करने का सबसे अधिक प्रयत्न करे। मनुष्य को अब से अच्छा और ऊचा मनुष्य बनाने का प्रयास करे। सत्पुरुष बुरी प्रणाली को भी सुधार देगा और दुष्टजन सत्प्रणाली को भी भ्रष्ट कर देगा।

२ : स्वतन्त्र अर्थशास्त्र

अर्थ या धन हमारे दैनिक जीवन मे उस वस्तु का नाम है जिसको देकर बदले मे हम दूसरी इच्छित वस्तु प्राप्त कर सकते है, या जिसका उपयोग हम स्वय अपनी विविध आवश्यकताओ की पूर्ति मे करते है। इसका यह अर्थ हुआ कि धन एक साधन है हमारे जीवन को सुखी, सन्तुष्ट ओर उन्नत बनाने का। इसका यह नतीजा निकलता है कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य धन की ऐसी व्यवस्था करना है जिससे मानव-जीवन के विकास और पूर्णता मे सहायता पहुचे। जब अर्थशास्त्र जीवन की मूल आवश्यकताओ को छोड कर फिजूलियात को बढाता है तब वह जीवन के विकास को आघात पहुचाता है और सामूहिक हित के विरुद्ध व्यक्ति-हित को महत्त्व देता है और जो लोग भोग-विलास या सामाजिक प्रतिष्ठा ओर सत्ता के भूखे होते है वे अर्थ-शास्त्र को जीवन से पृथक् और दूर कर देते है। वे जीवन की अपेक्षा से अर्थ-शास्त्र को नही गढते, बल्कि अर्थशास्त्र के साचे मे जीवन को ढालने का उद्योग करते है। जीवन को आर्थिक नियमो का गुलाम बना देते है, नही तो क्या

आवश्यकता है बडे-बडे कारखानो मे हजारो मजदूरो के जीवन को बर्बाद कर देने की ? एक धनी लाखो रुपया कमाकर घर मे रखता है। मानवी जीवन की साधारण आवश्यकताओ से अधिक धन वह क्यो सग्रह करे ? क्या वह फिजूलियात और बुराइयो मे अपना धन नही लगाता ? क्या मुख्यत वह धन उन लोगो के पास से खिच कर नही आता है जिनके जीवन की बहुत-सी साधारण आवश्यकताए भी अधूरी रह जाती है ? फिर क्या वह धन दीन-दुखी और दरिद्र के काम मे आता है ? यदि नही तो बताइए, जिस अर्थशास्त्र ने उन्हे इस तरह लखपति बनने का अधिकार दे दिया क्या वह जीवन की पूर्णता का सहायक हुआ ? अतिरिक्त धन सग्रह करके क्या उस धनी ने अपने और उन दरिद्र भाइयो के जीवन के विकास को नही रोका ? यह एक ही उदाहरण इस बात के लिए काफी है कि हमारा वर्तमान अर्थशास्त्र दूषित है। उसे सुधारने की सत्ता हमारे हाथ मे आते ही अर्थात् हमारा स्वराज्य होते ही हमे जीवन और धन के सम्बन्ध को शुद्ध और सम-तोल करना होगा।

इसके लिए हमे सब से पहले जीवन की साधारण आवश्यकताए स्थिर करनी होगी और फिर उसके अनुसार धन की व्यवस्था करनी होगी। पेट भरकर और पौष्टिक अन्न, तन ढकने को काफी कपडा, आरोग्यप्रद घर और जीवन को ऊचा उठाने वाला शिक्षण, इससे अधिक मनुष्य की साधारण आवश्यकताए और क्या हो सकती है ? इसके अलावा लोक-व्यवहार या अन्य सामाजिक और धार्मिक आवश्यकताओ के लिए भी धन की आवश्य-कता होती है। मैने तथा दूसरे मित्रो ने २० साल पहले मनुष्य की सामान्य आवश्यकताओ का हिसाब जोडा था, सो भी कजूसी से नही, तो एक व्यक्ति के लिए २५) मासिक से अधिक आवश्यकता किसी तरह नही प्रतीत हुई। अब यदि हमारी सरकार प्रत्येक भारतवासी के लिए इतनी आय का मासिक प्रबन्ध कर दे और स्वास्थ्य तथा अधिकारो से सम्बन्ध रखने वाली बातो के अलावा इतने रुपये मासिक से अधिक न लेने का नियम बना दिया जाय तो क्या बुरा है ? सच है कि जिन्होने अपनी आवश्यकताए बढा रक्खी

है उनको कष्ट मे पडना होगा। परन्तु सरकार का यह भी फर्ज होगा कि उन्हे समझावे कि अतिरिक्त धन-सग्रह उनके जीवन को बना नही, बिगाड रहा है, और स्वतत्र बनाने के बजाए गुलाम बना रहा है, निर्भय बनाने के बजाय डरपोक और तेजहीन बना रहा है। जो बुद्धि लाखो रुपया पैदा कर सकती है, बडे-बडे व्यापार और उद्योग-सघ चलाती है क्या वह इतना नही समझ लेगी कि उनके जीवन का हित किस मे है ? और यह तो हम बडी आसानी से उन्हे समझा सकते है कि लाखो-करोडो आदमियो के हित और जीवन-क्रम के विपरीत वे अपना जीवन-क्रम रख कर कैसे सुखी हो सकते है ? एकाएक इतना गहरा परिवर्तन उनके लिए कष्ट-साध्य होगा। परन्तु यदि वे उसकी खूबी और आवश्यकताओ को समझने का प्रयत्न करते रहेगे तो मुझे विश्वास है कि वे कष्ट के बजाय आनन्द का अनुभव करने लगेगे। धनी जीवन मे शान, विलासिता और हुकूमत जरूर है, पर ये तीनो जीवन के पालक नही, घातक ही हो सकते है। सादगी, सरलता और सच्चाई का जीवन वह स्वतत्र जीवन होता है जिसका आस्वाद डर के मारे उनके महलो तक पहुच ही नही सकता।

इससे हम इस नतीजे पर पहुचे कि धन जीवन के लिए है, जीवन धन के लिए नही। इसी तरह हम और गहराई से विचार करेगे तो पता लगेगा कि यदि मेरा पडोसी मेरे मुकाबले मे दुखी है तो गोया मै उससे उतने सुख को छीन लेता हू। इसलिए यदि मेरी यह इच्छा हो कि मेरे स्वदेश-भाई मुझसे अधिक सुखी, यदि नही तो मेरे बराबर तो सुखी हो तो मुझे अपनी आवश्यकताए आसपास की स्थिति देखकर ही निश्चित करनी होगी। इस क्रिया का नाम है अपरिग्रह। मै जितना अधिक अपरिग्रही होऊगा, अर्थात् अपनी आवश्यकताए जितनी कम करूगा उतना ही अधिक सुखी मै दूसरो को कर सकूगा। मै जानता हू कि कितने ही पाठको को इतनी गहराई की बात रुचेगी नही और वे एकाएक अपरिग्रह को स्वीकार करके अपने को कष्ट मे डालना पसद न करेगे, परन्तु यदि स्वार्थ से परमार्थ अर्थात् अपनी सेवा की अपेक्षा दूसरो की सेवा, अपने सुख की अपेक्षा दूसरो को सुख

पहुचाना अधिक मानवोचित है तो उनके लिए अपनी आवश्यकता घटाये बिना दूसरा रास्ता ही नही है। इसलिए यदि हमें सचमुच अपने वर्तमान अर्थ-शास्त्र को शुद्ध करना है तो उसे वर्तमान शोषणवृत्ति से स्वतन्त्र किये बिना छुटकारा नही है। और मुझे तो विश्वास है कि भारत की भावी सरकार को अपनी योजना मे अपरिग्रह अथवा कम-से-कम सम्पत्ति के बटवारे की समतोलता का नियम मानना ही पडेगा, यदि उसे देश के करोडो किसानो और मजदूर भाइयो के हितो की चिन्ता होगी और साथ ही धनी-मानी, राजा-रईस, इनके भी जीवन-विकास की जिम्मेदार वह अपने को समझेगी।

और जब कि धन के लिए जीवन म इतना कम स्थान है, जीवन के लिए अनिवार्य होते हुए भी वह जीवन का अंशमात्र है तो फिर उसके लिए आपस मे इतने कलह-काण्ड होने की क्या आवश्यकता है? एक तो लडाई-झगडे मे दोनो तरफ के लोग अपनी शक्ति बरबाद करते है और दूसरे को यदि जीत कर हमने धन-ऐश्वर्य प्राप्त ही किया तो क्या अपने और समाज दोनो की दृष्टि मे एक अनर्थ ही अपने घर में नही घुसेडा है? यदि इतनी मोटी-सी बात को हम समझ ले तो सारे समाज का जीवन कितना सुन्दर और सुखमय हो जाय।

३ : खादी–अहिंसा का शरीर

महात्मा गाधी की ससार को दो देने सब से बडी है, एक अहिंसा और दूसरी खादी। इधर महात्माजी यह समझाने का प्रयत्न जोरो मे कर रहे है कि खादी उनके नजदीक अहिंसा की प्रतीक है। खादी महज कपडा नही है, एक उसूल है। खादी को गाधीजी ने इतना महत्व दे दिया है कि कई बार मैं कहता हू कि खादी और गाधी समानार्थक है। अहिंसा यदि आत्मा तो खादी उसका शरीर है। अहिंसा की जो भावना हमारे अन्दर है उसे यदि सामाजिक रूप मे हमें प्रकट करना है तो हम खादी के रूप मे जितनी अच्छी तरह प्रकट कर सकते है, उतनी दूसरी तरह नही।

हिंसा के दो मुख्य कारण है एक, जो वस्तु न्यायत हमारी नही है

उसका अनुचित उपयोग करने की भावना, दूसरा, दवाने या वदला लेने की भावना। समाज मे पहली अर्थात् शोषण करने की भावना ने जितना अनर्थ किया है, समाज की व्यवस्था पर जितना वुरा असर डाला है और समाज को जितना प्रभावित कर रखा है, उतना वैर या वदला लेने की भावना ने नही, वल्कि अधिक गहरा विचार किया जाय तो मालूम होगा कि इस शोषण-वृत्ति मे से ही वैर-वृत्ति का जन्म होता है। इसलिए यदि समाज से वैरभाव अर्थात् शत्रुता और प्रतिहिंसा का भाव मिटाना है तो हृदय से शोषण के भाव को ही नष्ट करना होगा। और यदि समाज से हिंसा को नष्ट करके अहिंसा को प्रस्थापित करना है तो शोषण के हर रूप को हर स्थान से हटाने का दृढ प्रयत्न करना होगा। ओर यह काम हम खादी द्वारा जितनी आसानी से कर सकते है, उतना और किसी तरह से नही। 'खादी' का यहा व्यापक अर्थ लेना चाहिए। खादी के लिए न वहुत पूजी, न वहुत श्रम-सग्रह की जरूरत है। जहा कहीं सग्रह या परिग्रह की भावना है वहा किसी-न-किसी रूप में शोषण को विद्यमान ही समझिए। 'खादी' थोडे रुपये मे, थोडे साधनो मे थोडी जगह मे वन सकती है ओर मेहनत और मजदूरी का वटवारा ऐसे स्वाभाविक क्रम से और न्यायपूर्वक हो जाता है कि किसी को किसी का शोषण करने की सहसा गुजाइश नही रह जाती। यदि खादी की व्याख्या कपडे तक सीमित न रख कर तमाम हाथ से वनी चीजो तक मान ली जाय तो आर्थिक शोषण का प्रश्न वहुत आसानी से हल हो सकता है, क्योकि खादी मे जो उसूल है, वह वास्तव मे हाथ-परिश्रम से तैयार किये माल को इस्तेमाल करना है। मशीन से माल तैयार करने की भावना की जड मे धन-सग्रह की लालसा के सिवा ओर कुछ नही है। अगर जनता की या वनाने वाले की सुख-सुविधा की ही भावना उसमे हो तो वह 'खादी' ओर 'खादी' के उसूल से ही पूरी हो सकती है, मशीन ओर मशीन के उसूल से किसी प्रकार नही।

प्रत्येक भावना की कोई स्थूल कसौटी अवश्य होती है। कोई भावना जवतक अमूर्त रहती है तवतक न वह जानी जा सकती है, न उसका कोई सामाजिक मूल्य ही है। आपके मन मे अहिसा की भावना है। उसका परिचय

आप संसार को कैसे देंगे ? उससे समाज को कैसे लाभ पहुचावेंगे ? उसके लिए आपको कुछ वैसे कार्य और व्यवहार करने पड़ेंगे। हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत मे तीन प्रकार से हम अपनी अहिंसा की भावना अच्छी तरह और उपयोगी ढग से प्रकट कर सकते है एक कौमी एकता के लिए प्रयत्न करके, दूसरा हरिजनो की सेवा करके, तीसरा खादी को अपना कर और चरखा कात करके। कोई भावना तभी उपयोगी हो सकती है जब वह ऐसे रूप मे प्रकट हो जिससे देश और समाज की बहुत बड़ी आवश्यकता या अभाव की पूर्ति होती हो। हिन्दुस्तान मे इस समय ये तीन सबसे बड़ी आवश्यकताए है। मगर न्याय-पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की निगाह से खादी-सबधी आवश्यकता सर्वोपरि है। और इसीलिए गाधीजी इस बात पर सब से अधिक जोर दे रहे है। इस बात को ध्यान मे रख कर मै कहा करता हू कि खादी गाधीजी की एक महान देन है।

खादी हिन्दुस्तान मे पहले भी थी, पर उस समय वह महज एक कपड़ा थी। आज वह एक भावना है, उसूल है और उस रूप मे महान देन है। गाधीजी चाहते है कि सब चरखा कातें। जो कातें वे पहने, जो पहने वे कातें। उन्होने जिस तरह खादी के महत्त्व को समझा है उसे देखते हुए जिस दिन उनका बस पड़ेगा उस दिन वे उसे सबके लिए अनिवार्य कर दे तो आश्चर्य नही। यदि हिन्दुस्तान से ही नही, संसार से शोषण को खतम करना है तो सारी दुनिया को एक दिन खादी की योजना स्वीकार किये बिना गति नही। स्वतत्र समझे जाने वाले यूरोपीय राष्ट्र के सामने जो सकट आज मुह बाये खड़ा है और जिससे सबको भारी विनाश होते दिखाई पड़ता है उसकी पुनरावृत्ति जो नही चाहते उन्हे खादी के उसूल को अर्थात् हाथ मेहनत को या अहिंसा को अपनाये बिना दूसरा रास्ता ही नही है।

४ : हाथ या यंत्र ?

हमारे जीवन मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि हम हाथ से काम कहा तक करे और यन्त्रो से कहा तक ले। वर्तमान स्वाधीनता-सग्राम तथा भावी

समाज-व्यवस्था की योजनाओ मे भी यन्त्रो के प्रश्न पर वडा मतभेद है। जव किसी को खादी पहनने या हाथ से काम करने पर जोर दिया जाता है तो वाज लोग वडे हलके दिल से कह उठते है तो फिर इन वडे-वडे यन्त्रो का क्या होगा ? मनुष्य की वुद्धि की यह करामात क्या व्यर्थ ही जायगी ? जव उनसे यह कहा जाता है कि अच्छा वताइए, वडे वडे कल-कारखानो से जनता का क्या हित हुआ है ? तो वे कहते है कि यदि नही हुआ है तो इसका इलाज यह नही कि हाथ से काम करके सभ्यता के फलस्वरूप यन्त्रो को तोड-मरोड कर फेक दिया जाय, वल्कि यह है कि उद्योग-धधो को व्यक्तिगत न रहने देकर समाज के अधीन कर दिया जाय। उन पर सारी सत्ता समाज की रहे, समाज की तरफ से उनका सचालन हो। लोग नियत समय तक उनमे काम करे और आवश्यकता के अनुसार जीवन-सामग्री समाज से ले ले। इस से धनी और दरिद्र की समस्या हल हो जायगी और न आप को घर-घर खादी लिये-लिये घूमने की आवश्यकता होगी और न लोगो को महगा कपडा ही खरीदना होगा। आप कहते है—हाथ से काम करो, हाथ का और मोटा कपडा पहनो, मोटा खाओ, आवश्यकताए कम करो, गाव मे रहो। इस सभ्यता के युग मे आप लोगो को यह साहस किस तरह हो जाता है ? दुनिया की इस घडी को आप उलटा क्यो फेर रहे हो ? गगा को समुद्र से हिमालय की तरफ क्यो ले जाते हो ? क्या फिर से वावा आदम के जमाने मे ले जाना चाहते हो ? मनुष्य को नगा फिराना और पेडो पर वैठा कर जिन्दगी गुजारना चाहते हो ? इन इतने सुख के सुलभ साधनो को क्यो ठुकराते हो ? जनता दरिद्र है तो हम भी कगाल हो जाय, मेरा पडोसी दुखी है तो मै भी दुखी रहू, यह कहा की वुद्धिमत्ता है ? वजाय इसके मै जनता की कगाली को मिटाने और अपने पडोसी को सुखी वनाने का उद्योग क्यो न करू ? अपने को उसकी श्रेणी मे विठाने के स्थान पर उसे अपनी जगह लाने का उद्योग क्यो न करू ? अपने को गरीव वनाने के वजाय उसे अमीर वनाने का उद्योग क्यो न करू ?

भारत-प्रसिद्ध स्वर्गीय सर गगाराम ने, अन्तिम समय विलायत जाते

वक्त, वम्बई के प्रसिद्ध मारवाडी व्यापारी स्वर्गीय श्री रामनारायणजी रइया के वगीचे मे बैठ कर उनके आलीशान महल को दिखाकर मुझसे कहा था—"देखो, तुम्हारे गाधीजी कहते है, चरखा कातो। उसमे क्या होगा? बहुत हुआ तो एक आना रोज मिलेगा! पर मै चाहता हू कि ऐसे महल सबके बन जाय। गाधीजी कहते है कि हम लोग अपना स्टैण्डर्ड कम करे। मै कहता हू कि बढावे। हम भी अग्रेजो की तरह क्यो न खूब कमावे और खूब आराम से ठाठ के साथ रहे?"

ये दो प्रकार की विचार-धाराए समाज मे प्रचलित है। ये दोनो उत्पन्न हुई है जीवन के अन्तिम उद्देश्य या लक्ष्य सम्वन्धी भिन्न दृष्टिविन्दु के कारण। हमे देखना यह है कि कौन-सा दृष्टि-विन्दु सही है और जीवन के ठेठ लक्ष्य तक सीधा ले जाता है। जीवन अपूर्ण है और पूर्णता चाहता है, इसमे किसी को इन्कार है? सुख उस पूर्णता की मानसिक स्थिति है। सभी मनुष्य और सभी समाज सुख चाहते है। सुख-साधन यदि उनके चाहने पर ही अवलम्बित हो तो वताइए, मनुष्य क्या-क्या नही चाहेगा? हर शख्स चाहेगा कि मुझे वढिया महल मिले। सुन्दर-सी स्त्री मिले। लाखो-करोडो का माल मिले। जमीन-जायदाद, हीरा-मोती, मोटर, हवाई जहाज, राज-पाट सब मिले। शराबखोरी, रण्डीबाजी आदि की चाह को अभी छोड दीजिए। हम अच्छी तरह जानते है कि चाहना जितना ही आसान है, मिलना उतना ही कठिन है। पर सब आदमी यदि सभी अच्छी और कीमती चीजे अपने लिए चाहने लगेगे तो उनमे प्रतिस्पर्धा, डाह और कलह पैदा हुए विना न रहेगी, क्योकि चीजे थोडी और चाहने वाले वहुत। इस तरह यदि मनुष्य की चाह को स्वच्छन्द छोड दिया जाय और उसे अपनी आवश्यकताए या सुख-साधन वढाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय तो अन्तिम परिणाम सिवा गोलमाल के और क्या हो सकता है? इसलिए अनुभवी समाज-शास्त्रियो ने मनुष्य की इच्छा और आवश्यकता पर कैदे लगा दी है। अर्थात् मनुष्य से कहा कि भाई, अपनी इच्छाओ को वश मे रक्खो। यह नसीहत या नियम स्वतत्र और व्यवस्थित मनुष्य-जीवन का पाया है। यदि यह ठीक है तो फिर

अब रोज-रोज आवश्यकताए वढाने, स्टैण्डर्ड वटाने की पुकार से किस हित की आगा की जा रही है ? हा, दरिद्र जनता का स्टैण्डर्ड तो वढाना ही होगा, पर वह इसलिए कि उसे तो अभी पेट भर खाने को भी नही मिलता है। पर यदि हर आदमी मोटर चलाने लगेगा, विजली के पखे लगाने लगेगा, नाटक-सिनेमा देखना चाहेगा, अखवार और छापाखाना चाहेगा, एक-एक महल वनाना चाहेगा तो वताइए आप समाज को सुव्यवस्थित कैसे रख सकेगे ? स्पर्धा, डाह और कलह से कैसे वचायेगे ? आखिर उनकी इच्छाओ पर तो नियत्रण रखना ही होगा न ? चाहे आप यह कहिए कि अपनी कमाई से अधिक खर्च करने का किसी को अधिकार नही है, चाहे यह नियम वनाइए कि जो कमाता नही है, उसे खर्च करने का हक नही है। चाहे यह व्यवस्था कीजिए कि शारीरिक श्रम से जितना मिले उतने ही पर मनुष्य अपनी गुजर कर लिया करे। चाहे यह विवान वनाइए कि मनुष्य अपनी साधारण आवश्यकताओ भर की ही पूर्त्ति कर लिया करे। चाहे यह आज्ञा जारी कीजिए कि मनुष्य उन्ही चीजो को इस्तैमाल करे कि जो उसके देश या प्रान्त मे पैदा हो। चाहे उपदेश दीजिए कि मनुष्य प्राकृतिक साधनो पर ही अवलम्बित रहे। गरज यह कि उसकी इच्छाओ और आवश्यकताओ पर आपको कोई-न-कोई कैद लगानी होगी। यह कैद होगी उसकी समाज की स्थिति के अनुसार। यदि कैदे हम ढीली करते जायगे तो अन्त को समाज मे स्वेच्छाचारिता और गोल-माल पैदा कर देगे। यदि तग करते जायगे तो सभव है कि समाज उसे वरदाश्त न कर सके। और यह वात निर्विवाद है कि मनुष्य जव अपनी इच्छा से राजी-खुशी अपनी आवश्यकताए कम कर देता है तो वह औरो के मुकावले मे अपने को अधिक सुखी, स्वावलम्वी और स्वतत्र पाता है। यह अनुभव सिद्ध है। इसी तरह आवश्यकताओ को वढा लेने वाला अपने को दुखी, पराधीन और उलझनो या दुर्व्यसनो मे फसा हुआ पावेगा। इसलिए यह उचित है कि समाज मे ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जाय, जिससे मनुष्य खुद ही अपनी आवश्यकताओ को सयम मे रखना सीखे। एक के सयम का अर्थ है दूसरे की सुविधा और स्वतत्रता। अतएव जहा अधिक सयम होगा वहा

अपने आप अधिक स्वतंत्रता होगी। अब मैं पूछना चाहता हू कि मनुष्य, तू समय का अवलम्बन करके अधिक स्वतंत्र रहना चाहता है या आवश्यकताओ को बढा कर सुख-साधनो का गुलाम बनना चाहता है ?

अब हमारे पूर्वोक्त टीकाकार भाई विचार करे कि खादी और हाथ से काम करने का कितना महत्त्व है। हाथ से काम करना उत्पत्ति का सयम है। हाथ से काम करना पूजी को एक जगह सग्रह न होने देना है। हाथ से काम करना मजूरी की प्रथा मिटाना है—या यो कहो कि मालिक और मजदूर के कृत्रिम और हानिकर भेद को मिटाना है। हाथ से काम करना स्वावलम्बन है। हाथ से काम करना पुरुषार्थ और तेजस्विता है। हाथ से काम करना सादगी और नम्रता है। खादी यदि हाथ से काम करने का चिह्न नही है तो कुछ भी नही है। खादी गरीबो का सहारा तो इसलिए है कि यह बेकारो के घर मे कुछ पैसे भेज देती है। परन्तु खादी आजादी का जरिया इसलिए है कि हर शख्स को अपनी जरूरत के लिए दूसरे का मुह न ताकने का उपदेश देती है। हाथ से काम करना सिखा कर वह हमे सचमुच आजादी का रास्ता बताती है।

अब आप सोचिए कि सीधा रास्ता कौन-सा है। हाथ से काम करने का, अपने पावो के बल खडे होने का या मशीन या कल-कारखानो और उनके मालिको और हाकिमो की गुलामी का, अपनी आवश्यकताओ के बढाने का या घटाने का ? सादगी का या भोग-विलास का ?

दुनिया की घडी को पीछे घुमाने की दलील अजीब है। जब हाथ से काम करके सर्वसाधारण सुखी थे, और किसी ने कल-कारखाने का आविष्कार किया, किसी ने भाफ बिजली का आविष्कार किया तब क्यो न कहा गया कि दुनिया पीछे हटाई जा रही है ? क्या साधन-सामग्रियो का दिन-दिन गुलाम होते जाना ही दुनिया का कदम आगे बढाने का लक्षण है ? और क्या स्वावलम्बन की ओर उसे ले जाना दुनिया को पीछे घसीट ले जाना है ? सुख साधन-सामग्री की विपुलता और विविधता पर हरगिज अवलम्बित नही है। सुख मन के सन्तोष, आनन्द और निश्चिन्तता पर

अवलम्बित है । करोडपति और राजा-महाराजा चिता और पश्चात्ताप से रात-रात भर करवटे बदलते हुए पाये गये है और एक फक्कड किसान रूखी रोटी खा कर, मुफ्त झरने का सजीव पानी पी कर, हरे-भरे खेत की मेड पर सुख की नीद सोता हुआ मिलता है। सुखी वह है, जिसने अपनी इच्छाओ को जीत लिया है, दुखी वह है जो अपनी इच्छाओ और वासनाओ का गुलाम है । जीवन की पूर्णता बाह्य साधनो पर उतनी अवलम्बित नही, जितनी आतरिक शक्तियो के उत्कर्ष पर है । आपकी महानता के लिए कोई यह नही देखेगा कि आपके पास कितनी मोटरे है, आप कितना कीमती खाना खाते है, आपके कितने दास-दासी है । आपका रूप-रग कैसा है, बल्कि यह देखा जायगा कि आप कितने सयमी है, कितने सदाचारी है, कितने सेवा-परायण है, कितने नि स्वार्थ है, कितने कष्ट-सहिष्णु है, कितने प्रेम-मय है, कितने निडर है, कितने बहादुर है, कितने सत्य-वृत्ति है । महात्मा गाधी का जीवन, बुद्ध का जीवन, ईसामसीह का जीवन, अधिक पूर्णता के निकट था या जार का, रावण का, अथवा कारू और कुबेर का ? इस उदा-हरण से तो आपको पूर्णता के सच्चे पथ की पहचान हो जानी चाहिए । आप कहेगे कि इने-गिने आदमियो के लिए तो यह बात ठीक है, सारे समाज के लिए नही, तो मै कहूगा कि विकास का मार्ग सबके लिए एक ही हो सकता है । उनके दल चाहे अलग-अलग अवस्थाओ मे अलग-अलग हो, पर रास्ता तो वही है । भिन्न-भिन्न व्यक्तियो और दलो मे भेद भी हो सकता है, परन्तु रास्ता तो एक ही होगा—सयम का, व्यावहारिक भाषा मे कहेगे, तो हाथ से काम करने का ।

५ : खादी और आजादी

अब हम खादी के प्रश्न पर भी स्वतत्र रूप से विचार कर ले और देखे कि इससे हमारी स्वतत्रता का कहा तक सम्बन्ध है। खादी के लिए जो बडा दावा किया जाता है कि यह आजादी लाने वाली है वह कहा तक ठीक है ? दु ख की बात तो यह है कि अब भी कई लोग यह मानते है कि खादी आदोलन

सिर्फ अग्रेजो को दबाने के लिए है, लकाशायर की मिलो और मिल-मालिको पर असर डालने के लिए है, जिससे वे भारतीय आजादी की माग को मजूर करने के लिए मजबूर हो। किन्तु मैने जहा तक खादी के उसूल और मतलब को समझा है, मेरी तो यह मजबूत राय बन चुकी है कि खादी आन्दोलन का एक नतीजा यह जरूर निकलेगा कि अग्रेजो पर दबाव पडे, परन्तु उसका यह मतलब हरगिज नही है। उसका असली और दूरगामी मतलब तो है भारत को और यदि गुस्ताखी न समझी जाय तो सारी दुनिया को सच्ची आजादी दिलाना। इसलिए जब कोई कहता है, यह समझता है कि खादी तो स्वराज्य मिलने तक जरूरी है या गाधीजी के जीते-जी भले ही चलती रहे, तो मुझे इसपर दु ख होता है, क्योकि वर्षो के दिन-रात के उद्योग, प्रचार और इतनी सफलता के बाद भी अभी तक कितने ही पढे-लिखे लोगो ने भी खादी की असलियत को नही समझा, उसके बिना सच्ची आजादी किस तरह असम्भव है इसको नही जाना। सच तो यह है कि आजादी और खादी एक शब्द के दो मानी है या एक सिक्के के दो पहलू है।

हमे यह भुला देना चाहिए कि खादी एक महज कपडा है, बल्कि खादी एक उसूल है, एक आदर्श है। खादी के मानी है हाथ से काम करना, अपनी बनाई चीज इस्तेमाल करना, अपने देश का पैसा देश मे रहने देना, पैसे का एक जगह सग्रह न होने देना और उसका स्वाभाविक तरीके से सर्व-साधारण मे बट जाना। खादी भाफ और अधिक पूजी के बल पर चलने वाले कारखानो के खिलाफ बगावत का झडा है। एक मामूली सवाल है कि जहा हाथ बेकार है, आदमी भूखो मरते है वहा आखिर बडे-बडे कल-कारखानो की जरूरत क्यो पैदा होती है ? समाज की सुख-सुविधा के नाम पर धन-सग्रह करने के मतलब ने ही इन भीमकाय कारखानो और व्यापार-उद्योग-धधो को जन्म दिया है। जो काम हाथ से हो सकता है उसको भला मशीन की क्या जरूरत है ? जो काम हाथ से चलनेवाली मशीन से हो सकता है उसके लिए भाफ से चलने वाली मशीन की क्या जरूरत है ? फिर लाखो लोगो को यो बेकार पडे रहने देकर मशीन से कारखाने चलाना कहा की अक्लमन्दी है ? यह

माना कि यन्त्र मनुष्य की वुद्धि के विकास का फल है। यह भी सही कि कपड की मिल चरखे का विकास है। पर सवाल यह है कि इन मिलो से सर्व-साधारण जनता का कितना हित हुआ ? वे गरीव अधिक वने या धनवान ? वेकार अधिक हुए या नही ? भारत को छोड दीजिए, सारे यूरोप मे अरवो आदमी वेकार हैं। यह क्यो ? जो काम भाफ या विजली की मशीनो से लिया जाता वह यदि मनुष्यो से लिया जाय, तो क्या फिर भी वेकारी रह सकती है ? हा, यह सत्य है कि शहरो मे सव काम हाथ से नही किये जा सकते। सामूहिक जीवन मे कई सामूहिक आवश्यकताए ऐसी होती है, वे इतने अधिक परिमाण मे और इतने विशाल आकार-प्रकार की होती है कि यन्त्रो का उपयोग उनके लिए सुविधा-जनक होता है। पर दुनिया मे, वताइए, शहर कितने है ? और क्या आप दुनिया को शहर मे ही वाट देना चाहते है ? क्या गावो की अपेक्षा शहरो का जीवन मनुष्य-जीवन के स्वाभाविक विकास के अधिक अनुकूल है ? मनुष्य गाव मे अधिक स्वतत्र, सुखी, स्वस्थ, नीतिमान, सज्जन रह सकता है, या शहर मे ? अतएव यदि हम शहरो के खयाल को अपने दिमाग मे से हटा दे, और दुनिया मे गावो की वहुसख्या और महत्ता को समझ ले, तो हमारे दिमाग की कई उलझने कम हो जाय। असल वात यह है, हमारी असली कसौटी यह होनी चाहिए कि मनुष्य-जीवन विकसित, सुव्यवस्थित, स्वतत्र और सुखी किस प्रकार रह सकता है ? गाव के सादे जीवन मे ही ये सव वाते सुलभ और सिद्ध हो सकती है, शहरो के जटिल, कृत्रिम गुलाम जीवन मे हरगिज नही। यदि हम शहरो और शहर की सभ्यता को अपनी कल्पना मे से हटा सकते है तो हम वडे उद्योग-धधो और भीमकाय यन्त्रो को अवश्य अपनी समाज-रचना मे से हटा देगे। कोई वात इसी लिए तो स्थिर नही रह सकती है कि वह विकास-क्रम मे हमारे अदर दाखिल हो गई है। मनुष्य की अपरिमित स्वार्थ-साधुता और प्रचार-शक्ति भी तो इसमे वहुत सहायक हुई है। मनुष्य विचारशील है और वह विकास के हर-एक मोड पर सिहावलोकन करता है और उसके परिणाम की रोशनी मे अपनी गति-विधि को सुधारता है। पिछली औद्योगिक क्रान्ति ने जन-समाज

को स्पष्ट रूप से पूजीपति और दरिद्र, पीडक और पीडित, इन दो परस्पर-विरोधी वर्गों मे बाट दिया। इसके पहले भी समाज मे शोषण था, परन्तु उद्योग-धन्धो को समाजाधीन बनाने की उस समय इतनी आवश्यकता क्यो न प्रतीत हुई ? इसलिए कि आज उद्योग-धधो की प्रधानता और भीमकाय यन्त्रो की प्रचुरता ने जनता को चूस लिया, लाखो को बेकार बना दिया और मुट्ठी भर लोगो को मालामाल कर दिया। कल-कारखानो या उद्योग-धधो को समाजाधीन बना कर आप इस रोग को निर्मूल नही कर सकते। उससे आप सिर्फ इतना ही कर सकते है कि मुनाफा मजदूरो के घर मे भी पहुचता रहे, उनकी सुख-सुविधाए भी बढ जाय, परन्तु वे पूर्ण स्वतत्र और स्वावलम्बी नही बन सकते। मनुष्य के सभी काम तो समाजाधीन नही हो सकते है। सामूहिक काम ही सामूहिक पद्धति पर हो सकते है। और उन्ही के समाजाधीन होने की आवश्यकता है। रोटी, कपडा, मनुष्य की व्यक्तिगत आवश्यकताए है, पर रेल, सडक, पुल, सामाजिक। रोटी, कपडा उसे खुद बना व कमा लेना चाहिए, रेल, सडक, पुल उसे परस्पर सहयोग से बनाने होगे और ये समाजाधीन रह सकते है। जो चीजे समाजाधीन हो वे यदि मनुष्यो के हाथ-बल से न हो सके तो उनके लिए बडे यन्त्रो का उपयोग कुछ समझ मे आ सकता है। परन्तु लाखो आदमियो को बेकार रखकर हर बात मे यन्त्र की सहायता लेना मनुष्य को यन्त्र-गुलाम बना देना है और उसकी बहुतेरी असली शक्तियो को नष्ट कर डालना है। अतएव यदि आप चाहते हो कि मनुष्य केवल राजनैतिक गुलामी से ही नही, बल्कि हर तरह की गुलामी से छूटकर आजाद रहे, तो आपको उसे यन्त्रो की गुलामी से बचाना होगा। खादी मनुष्य-जाति को यन्त्रो की गुलामी से छुडाने का सदेश है।

औद्योगिक क्राति के बाद अब यह स्वाश्रय का युग शुरू हो रहा है और प्रगति की गति मे यह पीछे का नही, आगे का कदम है। कृत्रिम साधनो की विपुलता बुद्धि-वैभव का चिह्न अवश्य है, किन्तु साथ ही वह मनुष्य का स्वावलम्बन दिन-दिन कम करती जा रही है और नानाविध गुलामियो मे जकडती जा रही है, इसमे कोई सन्देह नही।

आजादी का अर्थ यदि हम इतना ही करे कि अग्रेजो की जगह हिन्दुस्तानी शासक वन जाय, तो खादी का पूरा-पूरा गुण हमारी समझ मे न आ सकेगा। परन्तु यदि उसका यह अर्थ हमारे ध्यान मे रहे कि भारत का प्रत्येक नर-नारी स्वतन्त्र हो, उस पर शासन का नियन्त्रण कम-से-कम हो, तो हम खादी का पूरा महत्त्व समझ सकते हैं। खादी का अर्थ केवल वस्त्र-स्वाधीनता ही नही, यन्त्र-स्वाधीनता भी है। यन्त्रो की गुलामी के मानी है धनी और सत्ताधारियो की गुलामी। खादी इन दोनो गुलामियो से मनुष्य को छुडाने का उद्योग करती है।

६ : सच्चा खादी-प्रचार

हमने यह तो देख लिया कि खादी वस्त्र-स्वावलम्वन और यन्त्र स्वावलम्वन का साधन है और इसमे तो कोई सन्देह ही नही है कि खादी से वढकर गृह-उद्योग का सावन अभी तक किसी ने सिद्ध नही किया है, न प्रयोग करके ही वताया है। दूधशाला, मुर्गी के अडे की पैदावार, रेशम, शहद, सावुन, डलिया, रस्सी आदि वनाने जैसे कितने ही धधे आशिक रूप मे और स्थान तथा परिस्थिति-विशेप मे थोडे वहुत सफल हो सकते है, किन्तु खादी के वरावर व्यापक, सुलभ, सहजसाध्य,जीवन की एक वहुत बडी आवश्यकता को पूर्ण करनेवाला आदि गुणो से युक्त धधा इनमे एक भी नही है। फिर भी अभी तक खादी-उद्योग की, जितनी चाहिए देश मे प्रगति नही हुई है। इसके यो तो छोटे-वडे कई कारण है, किन्तु उनमे सव से वडा है खादी-सम्वन्धी व्यापक ज्ञान का और उसके पीछे आचरण का अभाव। पिछले वर्षो मे खादी की उत्पत्ति वहुत वढी है, किस्मे तरह-तरह की चली है, पोत मे भी वहुत उन्नति हुई है, विक्री और प्रचार का भी वहुत उद्योग किया गया है, सस्ती भी पहले से काफी हो गई है—फिर भी एक भारी कसर इसके कार्य मे रही है। खादी की ओर लोगो को आकर्पित करने के लिए हमने उनके हृदयो को ज्यादा स्पर्श किया है, उनकी वुद्धि को आवश्यक खूराक वहुत ही कम दी है। हमने ऐसी दलीले ज्यादा दी है कि खादी गाधीजी को प्रिय है,

इसलिए पहनो, स्वराज्य की सेना की वर्दी है, इसलिए पहनो, गरीबो को दो रोटी देने का पुण्य मिलेगा, इसलिए अपनाओ आदि। किन्तु उन अको और तथ्यो को लोगो के सामने कम रखा है, जिनसे उनके दिमाग में यह अच्छी तरह बैठ जाय कि खादी ही हमारे लिए एकमात्र सस्ता और अच्छा कपडा है। इतना ही नही, बल्कि खादी उत्तम समाज-व्यवस्था का एक तत्त्व है। यह बात सच है कि बुद्धि की अपेक्षा हृदय मे क्रियाबल अधिक है, किंतु जबतक कोई बात दिमाग मे बैठती नही तबतक उसका आचरण अधकचरा ही होता है। फिर खादी यदि आत्मानुभव की तरह बुद्धि के क्षेत्र के परे का कोई तत्त्व होता तो बात दूसरी थी। किन्तु यह तो एक सीधा-सा आर्थिक और सामाजिक प्रश्न है और मोटी बुद्धि वाले को भी समझ मे आ सकता है, बल्कि यो कहना चाहिए कि यह इतना सीधा और सरल है कि इसका यही गुण सूक्ष्म और तेज बुद्धि वाले को परेशान कर रहा है। इसलिए अच्छा तो यह हो कि खादी के सम्बन्ध मे हम पहले लोगो की बुद्धि को समझावे और समझा चुकने के बाद यदि उनमे उत्साह न हो तो फिर उनके हृदयो और मनोभावो को जाग्रत करके उनमे काफी बल और प्रेरणा उत्पन्न करे। मेरी समझ मे इससे खादी का अधिक और स्थायी प्रचार होगा।

खादी के विकास और प्रचार मे जिस तरह बुद्धि के प्रति अनास्था बाधक है, उसी तरह उसकी अत्युक्तिपूर्ण प्रशसा भी है। मनुष्य का यह एक स्वभाव है कि जो वस्तु उसे प्रिय होती है उसमे उसे नये-नये गुण दीखने लगते है और कई बार तो अवगुण भी गुण दिखाई देते है। किंतु यह जागृति, विकास और वृद्धि का लक्षण नही, शिथिलता, मदता और अन्धता का है। जिसके मूल मे कोई गहरा सत्य है वह तो सूर्य की तरह अपने आप अपना प्रकाश फैलायेगा। अब हमारा काम सिर्फ इतना ही है कि एक ओर से अज्ञान और दूसरी ओर से अत्युक्ति रूपी बादलो और कुहरो के आवरण उसके आसपास से हटाते रहे। अज्ञान और अत्युक्ति दोनो के मूल मे असत्य ही छिपा हुआ है। खादी जैसी शुद्ध वस्तु और श्रेष्ठ समाज-तत्व के प्रचार के

लिए जान मे या अनजान मे, असत्य का अवलम्बन करके हम उसके सत्य तेज को लोगो से दूर रखते है।

इसलिए मेरी राय मे खादी ही का क्या, किसी भी वस्तु का सच्चा प्रचार है उसके विषय मे वास्तविक ज्ञान की सामग्री लोगो के सम्मुख उपस्थित करना। किन्तु इतना ही काफी नही है। इससे उनकी बुद्धि को ज्ञान तो हो जायगा, वे निर्णय और निश्चय तो कर लेंगे, किन्तु यह नही कह सकते कि इतने ही से वे उसका पालन भी करने लग जायगे। बुद्धि मे निर्णय और निश्चय करने का गुण तो है, किंतु कार्य मे प्रवृत्त और अटल रखने का गुण हृदय मे है। जो आदमी किसी से कहता है, पर खुद नही करता, उसका असर नही पडता। इसका कारण यह है कि वह कहता है तो और लोग भी सुन लेते है। लोग अधिकाश मे करते तभी है जब कहने वालो को करते हुए भी देखते है, क्योकि वे सोचते है कि यदि यह बात वास्तव मे हित की और अच्छी है तो फिर यह क्यो नही करता ? उसका आचरण ही उसकी अच्छाई या हितकारिता का यकीन लोगो को कराता है। होना तो यही चाहिए कि जब कोई बात हमारी समझ मे आ जाय और हमे हितकारी मालूम हो तब हमे इस बात से क्या प्रयोजन कि दूसरा और स्वय उपदेशक वैसा चलता है या नही ? हम अपने-आप वैसा आचरण करते रहे, किन्तु ऐसी स्वय-प्रेरणा या क्रिया का बल लोगो मे आम तौर पर कम पाया जाता है। यह उनके विकास की कमी है। अतएव उन लोगो को भी स्वय खादी पहनना चाहिए और उसकी उत्पत्ति मे किसी-न-किसी तरह सहायक होना चाहिए। क्रिया-बल की कमी का एक कारण यह भी है कि हमारे शिक्षण और सस्कारो मे पुस्तक-बल पर ही ज्यादा जोर दिया गया है, आचरण-बल पर कम। एक ओर अति बुद्धिवाद हमे आचरण-निर्बल बना रहा है तो दूसरी ओर बुद्धि-हीन अनुकरण ज्ञान-निर्बल। हमे दोनो प्रकार की निर्बलताओ से बचना होगा। सत्य की साधना ही हमे इनसे बचायेगी। ज्ञान और तदनुकूल आचरण ही सत्य की साधना है। यही वास्तविक व सच्चा प्रचार है।

७ : खादी-सत्य

अब अच्छा हो कि हम खादी के सम्पूर्ण सत्य को समझ ले।

तो खादी क्या है ? एक कपडा है। वह हाथकते सूत का और हाथ का बुना होता है। तो इसका महत्व क्या ? उपयोगिता क्या ? यह परिश्रम और परिश्रम के योग्य विभाग का स्वाभाविक नियम बनाती और बताती है। जैसे कपास बोने से लेकर कपडा बुनने, रगने, छापने तक जितनी प्रक्रियाए करनी पडती है, उन सबके परिश्रम का मूल्य स्वाभाविक रूप मे उन परिश्रम करने वालो को मिल जाता है। उसका मुनाफा किसी एक के घर मे जमा नही होता। पारिश्रमिक के रूप मे जगह-जगह अपने-आप बट जाता है। इसके विपरीत मिल के कपडे मे परिश्रम का विभाजन उतना स्वाभाविक और योग्य नही होता, बल्कि वह मुनाफे के रूप मे पहले मिल-मालिको के घर मे जमा होता है और फिर भागीदारो मे बाटा जाता है। खादी की क्रियाओ मे पारिश्रमिक ही पारिश्रमिक है, यदि मुनाफा कही हो भी तो वह एक जगह एकत्र नही होता। किसान, कतवैये, बुनवैये, रगरेज, छीपी आदि मे जहा-का-तहा बटता रहता है। परन्तु मिल मे वह पहले एक जगह आता है और बहुत बडे रूप मे आता है और फिर सिर्फ भागीदारो मे बट जाता है, उन लोगो मे नही, जिन्होने दरअसल उस कपडे को बनाने मे तरह-तरह का परिश्रम किया है। पर इसके सच्चे हकदार कौन है ? वे जो परिश्रम करते है। रुपया लगाना परिश्रम नही है। मिल वही खडी करता है जिसके पास रुपये होते है। शेयर वही खरीदता है, जिसके पास रुपया है। यह रुपया हमारे पास जमा कैसे होता है ? हम रुपये वाले कैसे बन सकते है ? इसकी जाच यदि करे, धनी लोगो के अनुभव यदि सुने तो इसी नतीजे पर पहुचना पडेगा कि धन सच्चाई से और सीधे उपायो से बिना किसी-न-किसी प्रकार की चोरी किये—जमा नही हो सकता। तो मिल-मालिक लुटेरे या चोर हो गये। एक तो शुरूआत का पैसा जमा करने मे चोरी हुई, दूसरे मिल के जिस मुनाफे का उन्हे हक नही है उसे लेने मे चोरी

हुई। मुनाफा क्या है ? बचाया हुआ पारिश्रमिक।

तो आप पूछेगे, रुपयेवाले मुफ्त ही कारखानो मे रुपया लगाते रहे ? तो हम कहते है, भाई ! उन पर दवाव डालकर कहा है कि मिल खोलनी ही पडेगी। फिर यदि रुपया लगाया है तो उसका मामूली व्याज-भर ले ले। सच तो यह है कि कपडे के लिए वडे कारखानो की आवश्यकता ही नही है। कारखाने वालो का, कुछ अच्छे अपवादो को छोड दीजिये, यह उद्देश्य कभी नही था कि वे समाज के एक अभाव की पूर्ति करे। उन्हे धन कमाना था, उन्होने कारखाने खोले, उससे धन बढाया भी। जब दुनिया मे कारखाने नही थे, तब क्या लोग नगे ही रहते थे ? क्या ढाके की मलमल और शबनम के मुकाबले का कपडा किसी मिल ने आज तक बनाया है ? तो खादी का महत्व यह हुआ कि वह पारिश्रमिक का स्वाभाविक बटवारा कर देती ह और जो उसका सच्चा अधिकारी होता है उसी के घर मे उसे पहुचा देती है। इसी का नाम है उद्योग के क्षेत्र मे विकेन्द्रीकरण।

खादी का यह गुण, यह उपयोगिता, खादी का सत्य हुआ। यो खादी मे चार सत्य समाये हुए है—(१) खादी एक कपडा है, जिससे शरीर की रक्षा होती है। (२) खादी एक पद्धति—विकेन्द्रीकरण है, जिससे परिश्रम का यथायोग्य बटवारा स्वाभाविक क्रम से हो जाता है। (३) खादी एक सिद्धान्त है, जो हाथ से काम करना यानी शारीरिक श्रम या स्वावलम्बन सिखलाता है और (४) खादी एक सेवा है जो आज भारतवर्ष मे दरिद्र-नारायण की सेवा और पूजा सिखलाती है। ये सब सत्य हमे इस महासत्य तक पहुचाते है कि खादी एक ऐसी वस्तु है, जो हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की स्थिति व सुव्यवस्था के लिए अनिवार्य और परम उपयोगी है। अत खादी की साधना सत्य की ही साधना है। यदि हमे जनता ही का राज कायम करना है, यदि हमे आम जनता की उन्नति, सुख, स्वतन्त्रता, शान्ति प्रिय है तो यह खादी-सत्य हमे जचे बिना नही रह सकता।

: ६ :

कुछ समस्याएं

१ : सार्वजनिक और व्यक्तिगत सम्बन्ध

एक मित्र ने प्रश्न किया कि सार्वजनिक जीवन मे व्यक्तिगत सबधो की क्या मर्यादा रहनी चाहिए ? सार्वजनिक सेवको के लिए यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, इसलिए इसपर जरा गहराई से विचार कर लेना अच्छा है ।

सार्वजनिक क्षेत्रो मे व्यक्तियो से जो हमारे सबध बँधते है, उनका मूल है हमारी सार्वजनिक सेवा की भावना । उसमे हम परस्पर सहयोग द्वारा देश और समाज की सेवा करते हुए अपने-अपने जीवन को उच्च, पवित्र और बलिष्ठ बनाना चाहते है । जहा समान आदर्श, एक-सी विचार-दिशा मिल जाती है वही मित्रता और सख्य हो जाता है और वह सगे भाई-बहनो से भी ज्यादा प्रगाढ बन जाता है । ऐसी दशा मे हम प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि दूसरे की नैतिक और आत्मिक उन्नति मे सहायक हो और इस बात के लिए सर्वदा सतर्क और जाग्रत रहे कि हमारे अन्दर कोई बुराई या गन्दगी घुस तो नही रही है । जहा मित्रता और भाईचारा होता है वहा परस्पर विश्वास तो होना ही चाहिए, अविश्वास और सशय रखने वाला आदमी नित्य मरता है, जब कि विश्वास रखने वाला धोखा खाकर कभी-कभी मरता है । फिर भी यदि किसी से कोई दोष—नैतिक या चारित्रिक—हो जाय, या दूसरे प्रकार की गलती हो तो उसे चुपचाप सहन कर लेना या उसकी तरफ से आँखे मूँद लेना किसी प्रकार उचित नही है । इसका सबसे अच्छा तरीका तो यह है कि जिससे गलती या दोष हुआ हो उसे जाग्रत कर दिया जाय । ऐसा न करके दूसरो से कानाफूँसी करना बुरा और बेजा है । ऐसे अवसरो पर दोषी-पात्र का उपहास करना अपनी हीन-वृत्ति का परिचय देना है । हाँ, दोष यदि

उमकी स्वाभाविकता, सात्विकता, मानुषता नष्ट होकर वह आसुरी रूप धारण करता है और उसे हम व्यावहारिक एव दोष की भाषा मे अहन्ता, अहकार, गर्व, घमड कहते है। जब मनुष्य मे 'सेवा' की भावना बढती है, तभी यह अहकार सात्विकता छोडकर राजसता और तामसता को ग्रहण करके समाज का उपकार करने के बदले अपकार करने का साधन बनता है। अतएव पहली सावधानी जो हमे रखनी है, वह यह कि हमारे 'सेवा'-भाव को बढाने का तो पूरा मौका मिले, लेकिन 'सत्ता' के लोभ को रोकने की हम हर तरह कोशिश करे। इसमे तटस्थता और उदासीनता घातक होगी।

'सेवा' की भावना मनुष्य मे तभी तक रह सकती है जबतक उसके मन मे दूसरो के दु खो, पीडाओ, कष्टो को अनुभव करने की और उन्हे दूर करने मे अपना सर्वस्व लगा देने की स्फुरणा उठती रहती हो। जब मनुष्य के मन मे अपनी सत्ता, प्रभुत्व, धाक जमाने की, अपना बोल-बाला करने की, अपने ऐन्द्रिक सुखो की भावना बढने लगती है तब 'सेवा'-भाव घटने लगता है। अत हमे इनकी ओर सचेत हो जाने की आवश्यकता है, क्योकि हम खतरे मे पैर डाल रहे है। इससे बचने के लिए हमे सतत आत्म-निरीक्षण करते रहने की जरूरत है। इसका एक अच्छा उपाय यह है हम समाज के सामने 'नग्न' रहने की कोशिश करे। अर्थात् समाज को यह अवसर सदा देते रहे कि वह हमारे अन्तरग को हर रूप मे, हर अवस्था मे देखता रहे। हमारे निज के और हमारे सगठन के अन्दर किसी प्रकार की गुप्तता, गूढता न रहे। आज हम उलटा करते है। अपने गुणो और सत्कार्यो को ही हम प्रकाश मे लाते है, अवगुणो, दोषो, कुकर्मो को छिपाने की कोशिश करते है। इसका कोई यह अर्थ न ले कि एक को दूसरे के अवगुण ही देखने चाहिए, दोषो और कुकर्मो का ढिढोरा ही दुनिया मे पीटना चाहिए। इसका तो मतलब इतना ही है कि हम खुद अपने-आपको अपने दोष और कुकर्म देखने के लिए दुनिया के सामने खुला रहने दे। इससे लाभ यह होगा कि एक ओर हमारा आत्म-निरीक्षण और दूसरी ओर दुनिया की समालोचना हमे सत्पथ

से भ्रष्ट न होने देगी।

इसमे एक बात और समझ लेनी जरूरी है। निर्लज्ज बनकर 'नागा' बन जाना एक चीज है और हमे नग्न देखने के जनता के अधिकार को स्वीकृत करना दूसरी चीज है। पहली मे जहा जनता की समालोचना, सूचना और मनोभावो के प्रति उपेक्षा और अवहेलना है, तहा दूसरी मे आत्म-सुधार की प्रबल उत्कण्ठा है और है जनता की समालोचना से लाभ उठाने की प्रवृत्ति। एक ओर से आत्म-निरीक्षण का अभाव और दूसरी ओर से जनता की समालोचना के प्रभाव की कमी से ही हमारी सस्था, सगठन और समाज के सचालक, मुखिया या दूसरे लोग पथ-भ्रष्ट होकर पतन के रास्ते चले जाते है और कई बार अनियन्त्रित होकर आपस मे लडते और जहर फैलाते है। अतएव हमें चाहिए कि हम अपने प्रत्येक अगुआ, साथी सदस्य को इसी कसौटी पर कसते रहे कि उसमे एक ओर आत्म-परीक्षण की ओर दूसरी ओर जनता की समालोचना से लाभ उठाने की प्रवृत्ति कहा तक है और उसका जीवन खुली पोथी एव बहती नदी की तरह सरल है या तिजौरी की तरह अभेद्य और दुर्भेद्य है।

यह तो जड मे ही सुधार करने की बात हुई। लेकिन बुराई की व्यावहारिक रोक की भी जरूरत है। बुराई करने वाले को निर्भय और नि शक न रहने देना चाहिए। उसकी समालोचना करके ही सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए। उससे काम न चले तो विरोध और प्रतिकार भी अवश्य करना चाहिए। जरूरत पडने पर बहिष्कार और असहयोग भी करना चाहिए। हाँ, इतना हम अवश्य ध्यान रखे कि जो कुछ भी समालोचना, विरोध, प्रतिकार, बहिष्कार आदि हो अहिंसक तरीके से, उसकी बुराई को रोकने की भावना से, उसको सुधारने की इच्छा से, वैर और बदला निकालने के लिए नही, क्योकि हमे यह नही भूलना है कि हमारा विरोध व्यक्ति की बुराई से है, व्यक्ति से नही। व्यक्ति और उसके गुण-दोष परस्पर इतने अभिन्न है कि इस प्रक्रिया के असर से व्यक्ति बिलकुल बच नही सकता, परन्तु इसमे मनुष्य विवश है, वस्तु पर ही—व्यक्ति पर नही—जोर देकर

हम इस स्थिति से बचने का यत्न कर सकते है। लेकिन यदि व्यक्ति की बुराई इस हद तक पहुच गई है कि वह सहन नही की जा सकती तो समूचे व्यक्ति के साथ असहयोग करने या उसका बहिष्कार करने की भी जरूरत पेश आ सकती है और ऐसा समय उपस्थित हो जाय तो बिना झिझके हमे ऐसा करना चाहिए। इसमे जब हम शिथिलता बताते है तभी सस्थाओ, सगठनो और समाजो मे द्वेष, झगडे, अनाचार बढ जाते है और फिर उसके भयकर परिणाम सब को भुगतने पडते है।

३ : सेवक के गुण

सग्राम मे विजय पाना जिस प्रकार सेना के गुण, योग्यता और नियम-पालन पर बहुत-कुछ अवलबित रहता है, उसी प्रकार देश-सेवा का कार्य देश-सेवको के गुण, बल, योग्यता और नियम-पालन के बिना प्राय असम्भव है। केवल व्याख्यान दे लेने, लेख लिख लेने अथवा सुन्दर कविता रच लेने से कोई देश-सेवक की पदवी नही पा सकता। ये भी देश-सेवा के साधन है, पर ये लोगो के दिलो को तैयार करने भर मे सहायक हो सकते है, उन-के सगठन और सचालन मे नही। अतएव यह आवश्यक है कि हम जान ले, कि एक देश-सेवक की हैसियत से हमे किन-किन गुणो के प्राप्त करने की, किन-किन नियमो के पालन करने की आवश्यकता है और फिर उसके अनु-सार अपने-अपने जीवन को ढाले।

(१) देश-सेवक मे पहला गुण होना चाहिए सचाई और लगन। यदि यह नही है तो और अनेक गुणो के होते हुए भी मनुष्य किसी सेवा-कार्य मे सफल नही हो सकता। मक्कारी और छल-प्रपच के लिए देश या समाज या धर्म-सेवा मे जगह नही।

(२) दूसरे की बुराइयो को वह पीछे देखे, पर अपनी बुराइया और त्रुटिया उसे पहले देखनी चाहिए। इससे वह खुद ऊचा उठेगा और दूसरो का भी स्नेह सपादन करता हुआ, उन्हे ऊँचा उठा सकेगा।

(३) तीसरी बात होनी चाहिए नम्रता और निरभिमानता। जो

अपने दोष देखता रहता है वह स्वभावतः नम्र होता है और जो कर्तव्य-भाव से सेवा करता है उसे अभिमान छू नहीं सकता। उद्दंडता, अहम्मन्यता और बड़प्पन की चाह—ये देश-सेवक के रास्ते में जहरीले कांटे हैं, इनसे उन्हें सर्वदा बचना चाहिए।

(४) देश-सेवक निर्भय और निश्चयशील होना चाहिए। सत्यवादी और स्पष्टवक्ता सदा निर्भय रहता है। ये गुण उसे अनेक आपदाओं से अपने-आप बचा लेते हैं।

(५) मित और मधुर-भाषी होना चाहिए। मित-भाषिता नम्रता और विचारशीलता का चिह्न है और मधुरता दूसरे के दिल को न दुखाने की सहृदयता है। मधुरता की जड़ जिह्वा नहीं, हृदय होना चाहिए। जिह्वा की मधुरता कपट का चिह्न है, हृदय की मधुरता प्रेम, दया और सौजन्य का लक्षण है। भाषा की कटुता और तीखापन या तो अभिमान का सूचक होता है या अधीरता का। अभिमान स्वयं व्यक्ति को गिराता है, अधीरता उसके काम को धक्का पहुंचाती है।

(६) दुःख में सदा आगे और सुख में सब से पीछे रहना चाहिए। यश अपने साथियों को देने और अपयश का जिम्मेदार अपने को समझने की प्रवृत्ति रहे।

(७) द्वेष और स्वार्थ से दूर रहना चाहिए। अपने योग्य साथियों को हमेशा आगे बढ़ने का अवसर देना, उन्हें उत्साहित करना और उनकी बताई अपनी भूल को नम्रता के साथ मान लेना द्वेष-हीनता की कसौटी होती है। अपने जिम्मे की संस्था या धन-सम्पत्ति को या पद को एक मिनट की नोटिस पर अपने से योग्य व्यक्तियों को सौंप देने की तैयारी रखना निःस्वार्थता की कसौटी है।

(८) सादगी से रहना, कम-से-कम खर्च में अपना काम चलाना और अपना निजी बोझ औरों पर न डालना चाहिए। सादगी की कसौटी यह है कि अन्न-वस्त्र आदि का सेवन शरीर की रक्षा के हेतु किया जाय, स्वाद और शोभा के लिए नहीं। सेवक के जीवन में कोई काम शोभा या शृंगार

के लिए नही होता है । खर्च-वर्च की कसौटी यह है कि आराम पाने या पैसा जमा करने की प्रवृत्ति न हो ।

(९) जो सेवक धनी-मानी लोगो के सपर्क मे आते रहते है या उनके स्नेह-पात्र है उन्हे इतनी बातो के लिए खास तौर पर सावधान रहना चाहिए—

(अ) बिना प्रयोजन उनके पास बैठना और वातचीत न करना चाहिए ।

(आ) अपने खर्च का बोझ उन पर डालने की इच्छा न पैदा होनी चाहिए—हुई तो उसे दबाना चाहिए ।

(इ) वे चाहे तो भी बिना काम उनके साथ पहले या दूसरे दरजे मे सफर न करना चाहिए ।

(ई) उनके नौकर-चाकर, सवारी आदि पर अपने काम का बोझ न पडने देने की सावधानी रखनी चाहिए ।

(उ) मान पाने की इच्छा न रखनी चाहिए—उसका अधिकारी अपने को मान लेना तो भारी भूल होगी ।

(ऊ) उनके धनैश्वर्य मे अपनी सादगी और सेवक के गौरव को न भुला देना चाहिए ।

(ए) थोडे मे यो कहे कि अपने सार्वजनिक कामो मे सहायता प्राप्त करने के अतिरिक्त अपना निजी बोझ उनपर किसी रूप मे न पड जाय इसकी पूरी खबरदारी रखनी चाहिए । यदि उनके यहा किसी प्रकार की असुविधा या कष्ट हो तो उसका प्रबन्ध स्वय कर लेना चाहिए—इसकी शिकायत उनसे न करनी चाहिए ।

(१०) अपने खर्च-वर्च का पाई-पाई का हिसाव रखना और देना चाहिए । अपने कार्य की डायरी रखना चाहिए ।

(११) घरू काम से अधिक चिन्ता सार्वजनिक काम की रखनी चाहिए । एक-एक मिनट और एक-एक पैसा खोते हुए दर्द होना चाहिए ।

खर्च-वर्च में अपने और साथियों के सुख-साधन की अपेक्षा कार्य की सुविधा और सिद्धि का ही विचार रखना चाहिए। सार्वजनिक सेवा सुख चाहने वालों के नसीब में नहीं हुआ करती, इस गौरव के भागी तो वही लोग हो सकते हैं जो कष्टों और असुविधाओं को झेलने में आनंद मानते हों और विघ्नों और कठिनाइयों का प्रसन्नता-पूर्वक स्वागत और मुकाबला करते हों। सेवक का कार्य उनके कष्ट-सहन और तप के बल पर फूलता-फलता है। सेवक ने सुख की इच्छा की नहीं कि उसका पतन हुआ नहीं। सेवक दूध, फल और मिष्टान्न खाकर नहीं जीता---कार्य की धुन, सेवा का नशा उसकी जीवनी-शक्ति है।

(१२) व्यवहार-कुशल बनने की अपेक्षा सेवक साधु बनने की अधिक चेष्टा करे। साधु बनने वाले को व्यवहार-कुशल बनने के लिए अलहदा प्रयत्न नहीं करना पड़ता। व्यवहार-कुशलता अपने को साधुता के चरणों पर चढ़ा देती है। व्यवहार-कुशलता जिस भय से डरती रहती है वह साधुता के पास आकर उसकी सहायक बन जाती है। मनुष्य का दूसरा नाम है साधु। सेवक और साधु एक ही चीज के दो रूप हैं। अतएव यदि एक ही शब्द में देश-सेवक के गुण, योग्यता और नियम बताना चाहें तो कह सकते हैं कि साधु बनो। साधुता का उदय अपने अंदर करो, साधु की-सी दिनचर्या रखो। अन्न पर नहीं, भावों पर जिओ। स्वीकृत कार्य के लिए तपो। विघ्नों, विपत्तियों, कठिनाइयों, मोहों और स्वार्थों से लड़ने में जो तप होता है वह पचाग्नि से बढ़कर और उच्च है। अतएव प्रत्येक देश-सेवक से मैं कहना चाहता हूं कि यदि तुम्हें सचमुच सेवा से प्रेम है, सेवा की चाह है, अपनी सेवा का सुफल संसार के लिए देखना चाहते हो और जल्दी चाहते हो, तो साधु बनो, तप करो। दुनिया में कोई काम ऐसा नहीं जो साधु के लिए असम्भव हो, जो तप से सिद्ध न हो सके। अपने जीवन को उच्च और पवित्र बनाना साधुता है और अंगीकृत कार्यों के लिए विपत्तियां सहना तप है। इन दो बातों का संयोग होने पर दुनिया में कौन-सी बात असंभव हो सकती है?

४ : जिम्मेदार होने की ज़रूरत

सार्वजनिक जीवन उतना ही सुव्यस्थित, सुसगठित, प्रगतिशील और प्रभावशाली बन सकता है जितना कि हम कार्यकर्ताओ मे अपनी जिम्मेदारी को महसूस करने का भाव अधिक होगा। भारत मे एक दिव्य जीवन और ज्योति के दर्शन हो रहे है। चारो तरफ उत्साह और कार्य-शक्ति के चिह्न प्रकट हो रहे हैं, लेकिन बाढ मे जैसे पानी गदला हो जाता है और अपनी मर्यादा छोडकर उल्टे-सीधे रास्ते वह निकलता है, उसी तरह इस जीवन-ज्योति का हाल मुझे कुछ-कुछ दिखाई दे रहा है। अपनी जबान और कलम दोनो को हमने छुट्टी छोड दिया है, ऐसा मालूम होता है। किसी के खिलाफ जो दिलचाहा कह दिया, जो जीचाहा आक्षेप और लाछन लगा दिये अण्ट-शण्ट अफवाहे फैला दी, गलत और तोडी-मरोडी खबर अखबारो को भिजवा दी, जहा चाहे धौस और धाधली चलाने की कोशिश की, ये कुछ उदाहरण उस बढते हुए जीवन और ज्योति के विचार के है। बाज़ लोग अनजान मे और नासमझी से, बिना गहराई तक गये, किसी बात को मान लेते है और सरल स्वभाव से उसका प्रचार या जिक्र इधर-उधर करते रहते हैं। बाज लोग दुष्टता और शरारत से ऐसा करते है, बाज़ प्रतिहिसा से प्रेरित और प्रभावित होकर करते हैं। किसी भी तरह यह होता हो, लेकिन यह है दरअसल बुरा, निदनीय और त्याज्य। जहा कही भी कोई इस दोष का जिम्मेदार पाया जाय, वही यह उचित है कि हम उसको रोके और उसकी भूल उसे समझाये। इसमे उपेक्षा या तटस्थता धारण करना अपनी जिम्मेदारी को भलना है। तटस्थ रहने वाले भी कई बार उस बुराई को फैलाने और बढाने के उतने ही जिम्मेदार बन जाते है जितने कि उस बुराई को फैलाने वाले। यदि हमे सार्वजनिक जीवन को विशुद्ध और बलिष्ठ बनाना ही है तो हमे ठेठ यही से सयम की शुरूआत करनी होगी। अगर अपनी जबान और कलम को हम नही रोक सकते तो समय पडने पर हम अपने शरीर को कैसे बुरे काम से रोक सकेगे ? यहा तनिक हमे अपने

विचार और भाव पर भी संयम रखने की जरूरत होगी, मन में ही यदि असत्य, अत्युक्ति, प्रतिहिंसा, दुष्टता आदि विकार नहीं आने दिये जाते हैं तो फिर वे कलम और जबान में कहां से आ जायंगे? प्रत्येक जिम्मेदार सार्वजनिक कार्यकर्ता को चाहिए कि वह अपना चौकीदार खुद बन कर देखे कि वह कैसा है? कहां है? क्या कर रहा है? कहां जा रहा है?

मेरे इस प्रकार के जीवन-शुद्धि-विषयक विचारों पर बाज-बाज मित्र कह दिया करते हैं—'तुम तो शुद्धि ही की बात किया करते हो, हम तो काम को देखते हैं। काम करते चले जाओ।' मैं भी काम करने और काम ही करते रहने की उपयोगिता को मानता हूं, मगर इतना विवेक करना जरूरी समझता हूं कि जो काम हो, वह अच्छा ही काम हो, वह सुव्यवस्थित और सुचारु रूप से किया गया हो। अनपट ग से ऊटपटांग कुछ करते ही चले जाने से आदमी बहुत काम करने वाला भले ही दिखाई दे, मगर यदि वह विवेकयुक्त व्यवस्थायुक्त और विधियुक्त नहीं है तो परिणाम में कम, उलटा और हानिकर भी हो सकता है। इसलिए हम केवल यही नहीं देखना चाहिए कि कोई आदमी काम करता है या नहीं। यह भी देखना होगा कि जो काम करता है, वह शुद्ध भाव से करता है या नहीं, सही और अच्छी रीति से करता है या नहीं, जिम्मेदारी और लगन के साथ करता है या नहीं, स्थिरता और मनोयोग के साथ करता है या नहीं। राम भी पराक्रमी थे और रावण भी पराक्रमी था। दोनों महान् योद्धा, कर्मवीर और तपस्वी थे। मगर संसार जानता है कि एक राम था और दूसरा रावण। रावण की बलाढ्य अगणित सेना किसी काम नहीं आई और अकेले राम के बन्दरों ने ही मैदान मार लिया। इससे हमें क्या शिक्षा लेनी चाहिए?

हमारे 'राष्ट्रीय विकास' के क्रम में हमारे जीवन में यह ऐसा महत्वपूर्ण समय आ रहा है, जिसमें यदि हम विवेक, संयम और जिम्मेदारी के भाव से काम न लेंगे तो न केवल हमारी बहुतेरी शक्ति व्यर्थ हो जायगी अपितु निश्चित रूप से हमारी प्रगति को भी रोक देगी।

५ : आधुनिक दाता और भिखारी

सार्वजनिक काम बिना सस्था के समुचित और सुसगठित रूप मे नही चल सकते और सस्था बिना धन की सहायता के नही चलती, यह स्वयसिद्ध और सर्वमान्य बात है। धन मुख्यत धनी लोगो से ही मिल सकता है। हमारे देश मे ऐसे धनी बहुत कम है जो सार्वजनिक कामो मे दिल खोलकर धन लगाते हो। पुराने विचार के धनी मदिरो, गो-शालाओ, धर्मशालाओ, कुवो, अन्न-क्षेत्रो आदि मे धन लगाते है और कुछ सस्कृत-हिन्दी की पाठशालाओ तथा अग्रेजी स्कूलो के लिए भी धन देते है। देश की परम आवश्यकता को समझकर सामाजिक सुधार अथवा राष्ट्रीय सगठन के काम मे थैली खोलकर रुपया लगाने वालो की बडी कमी है। फिर जो ऐसे कामो मे दान दिया जाता है वह कीर्ति के लोभ से, मुलाहिजो मे आकर, जितना दिया जाता है उतना उस कार्य से प्रेम होने के कारण नही। इसका फल यह होता है कि हमे रुपया तो मिल जाता है, पर उन कामो के लिए उनका दिल नही मिलता, जो कि धन से भी अधिक कीमती है। जहा धन और मन दोनो मिल जाते है वहा ईश्वर की पूरी कृपा समझनी चाहिए।

पर जहा मन नही है, अथवा मन दूसरी बातो मे लगा हुआ है, वहा से अपने कामो के लिए धन प्राप्त करना एक टेढी समस्या है। कार्यकर्त्ता की सब से बडी परीक्षा यदि किसी जगह होती है, सबसे अधिक मन क्लेश उसे यदि कही होता है तो अपने प्रिय कार्यो के लिए धन एकत्र करने मे। मै इस बात को मानता हू कि यदि कार्यकर्त्ता अच्छे और सच्चे हो तो धन की कमी से उनका काम नही रुक सकता। मै यह भी देखता हू कि कितने ही देश-सेवक धन प्राप्त करने मे विवेक का कम उपयोग करते है। धनवान प्राय शकाशील होते है। यदि वे ऐसे न हो तो लोग उन्हे चैन न लेने दे। धन ही उनका जीवन-प्राण होता है, धन ही उनके सारे परिश्रम और उद्योग का लक्ष्य होता है। इसलिए धन-दान के मामले मे वे कठोर, सशयचित्त और बेमुरौवत हो तो आश्चर्य की बात नही। फिर भी जिस बात मे उनका मन रम जाता

है, फिर वह देश-सेवकों की दृष्टि में उचित हो या अनुचित, वे मुट्ठी खोलकर पैसा लगाते ही रहते हैं। अतएव सबसे आवश्यक बात है धनवानों को यह जचना कि हमारा काम लोकोपयोगी है, उसकी इस समय सब से अधिक आवश्यकता है और कार्यकर्ता सच्चे प्रामाणिक और व्यवस्थित काम करने वाले हैं। यह हम बातें बनाकर उन्हें नहीं समझा सकते। छल-प्रपंच कितने दिन तक चल सकता है? हमारी व्यक्तिगत पवित्रता, हमारी लगन, हमारी कार्य-शक्ति ही उन्हें हमारा सहायक बना सकती है।

हमारे देश में दान देने वाले तीन प्रकार के लोग होते हैं (१) एक तो वे धनी जो पुराने ढंग के धार्मिक कार्यों में धन लगाते हैं, (२) दूसरे वे धनी जो देश-हित और समाज-सुधार में रुपया देते हैं, और (३) सर्व-साधारण लोग। पुराने ढंग के लोगों में धर्म का भाव अधिक है, धर्म का ज्ञान कम है और देश तथा समाज की स्थिति का ज्ञान तो और भी कम है। पुरानी रूढ़ियों और अंधविश्वासों को ही उन्होंने धर्म मान रक्खा है—और यह उनका इतना दोष नहीं है जितना उन लोगों का, जिन्होंने उनकी ये धारणायें बना दी हैं, और अब भी जो उन्हें बना रहने देते हैं। दान का भाव उनके अन्दर है। जिस दिन वे अपनी धारणाओं को गलत समझ लेंगे, अपने भ्रम को जान जायंगे, उसी दिन वे समझ और खुशी के साथ देश-हितकारी कार्यों में दान दिया करेंगे। इसका उपाय तो है, उनके अन्दर देश-काल के ज्ञान का प्रचार करना। उनके साथ धीरज रखना होगा, आतुर बनने से काम न चलेगा।

दूसरे दल में दो प्रकार के लोग हैं—एक तो वे जो सभी अच्छे कामों में सहायता देते रहे हैं। दूसरे वे जो खास-खास कामों में ही देते हैं। ये दो भेद हम सार्वजनिक भिखारियों को अच्छी तरह ध्यान में रखने चाहिए। पहले प्रकार के लोग काम करने वालों पर ज्यादा दृष्टि रखते हैं और दूसरे प्रकार के लोग काम और काम करने वाले दोनों पर। पहले दाता को यदि यह जच जाय कि आदमी भला और ईमानदार है तो फिर उसका काम न जचने पर भी वह सहायता कर देता है। और दूसरा दाता इतने पर संतोष

नही करता। वह यह भी देखता है कि यह काम क्या कर रहा है, अच्छी तरह कर रहा है या नही, जो कार्य स्वय दाता को पसद है वही कर रहा है या दूसरा, और यदि वह उसके मत के अनुकूल हुआ तो ही सहायता करता है। पहले दाता मे उदारता अधिक है और दूसरे मे विवेक तथा मिशनरी-वृत्ति। पहले मे राजा का मनौदार्य है, और दूसरे मे सेनानायक की विवेक-शीलता, तारतम्य-वुद्धि। पहला देने की तरफ जितना ध्यान रखता है उतना इस बात की तरफ नही कि दिये धन का उपयोग कैसा हो रहा है, काम-काज कैसा-क्या चल रहा है, दूसरा पिछली बात के लिए जागरूक रहता है। पहले दाता से वहुतो को थोडा-थोडा लाभ मिलता है, दूसरे से थोडो को वहुत। पहला धूर्तो के जाल मे फस सकता है, दूसरे से सच्चे भिखारी भी निराश हो सकते है। इस मनोवृत्ति को पहचानकर हमे भिक्षा-पात्र हाथ मे लेना चाहिए। राजा-वृत्ति के दाता के पास भिखारी वडी रकम की अभिलाषा से जायगा, अथवा वार-वार जाने लगेगा तो निराशा, पछतावा और कभी किसी समय उपेक्षा या अपमान के लिए उसे तैयार रहना चाहिए। मिशनरी-वृत्ति वाले दाता के पास उसके प्रिय कामो को छोडकर दूसरे कामो के लिए जाने से सूखा इन्कार मिलने की तैयारी कर रखनी चाहिए।

अव रहे सर्वसाधारण दाता। ये दाता भी है और दान-पात्र भी है। सार्वजनिक काम अधिकाश मे सर्वसाधारण के ही लाभ के लिए होते है। उन्ही का धन और उन्ही का लाभ। हमारी वर्ण-व्यवस्था ने समाज-हित के लिए धन देना धनियो का कर्त्तव्य ठहरा दिया। इसलिए अधिकाश धन उन्ही से मिलता है और उन्ही का दिया होता है। यो देखा जाय तो सर्वसाधारण जनो के ही यहा से वह धन धनियो के यहा एकत्र हुआ है और उसका कुछ अश फिर उन्ही की सहायता मे लग जाता है। पर इतना चक्कर खाकर आने के कारण वह उन्हे अपना नही मालूम होता। सव से अच्छी मनोवृत्ति तो मुझे यही मालूम होती है कि सर्वसाधारण अपनी सस्थाए, अपने काम, अपने ही खर्चे से चलावे। दान लेने और दान देने की प्रथा मनुष्य के स्वाभि-

मान को गहरा धक्का पहुचाती है। दान देने वाला अपने को उपकार-कर्त्ता अतएव बडा समझने लगता है और अभिमानी हो जाता है। उधर दान लेने वाला अपने को उपकृत अतएव छोटा और जलील समझने लगता है। यदि कर्त्तव्य-भाव से दान दिया और लिया जाता है यदि दाता अपना अहो-भाग्य समझता हो कि मेरा पैसा अच्छे काम में लगा, यदि भिक्षुक भी अपने को धन्य समझता हो कि समाज-सेवा या देश-हित के लिए मुझे झोली हाथ मे लेने का और अपमानित या तिरस्कृत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ—तब तो इससे बढकर सुन्दर, उच्च, ईर्ष्या-योग्य मनोवृत्ति हो नही सकती। अतएव या तो कर्त्तव्य और सेवा-भाव से दान दिया और लिया जाय, फिर उसमे उपकार या अहसान का भाव किसी ओर न रहे या फिर दान देने-लेने की प्रथा उठाकर स्वावलम्बन की प्रणाली डाली जाय। वर्तमान दाताओ और भिक्षुको का वर्तमान अस्वाभाविक और उद्वेग-जनक सम्बन्ध किसी तरह वाछनीय नही है।

भिक्षुक भी कई प्रकार के है। पेटार्थी और सेवार्थी—ये दो बडे भेद उनके किये जा सकते है, फिर याचक भिखारी और डाकू भिखारी—ये दो भेद भी उनके हो सकते है। अपने पेट के लिए भीख मागने वाले, फिर चाहे वे पुराने ढग के भिखमगे हो, चाहे नवीन ढग से चन्दा जमा करने वाले हो, लोग उन्हे पहचानते है और चाहें तो उन्हे जल्दी पकड सकते है। सेवार्थी वे है जो अपने अगीकृत कार्यो और सस्थाओ के लिए सहायता प्राप्त करते है। अपने भरण-पोषण मात्र के लिए वे सस्था से खर्च ले लेते है। याचक भिखारी वे जो गली-गली चिल्लाते और गिडगिडाते फिरते है, और डाकू भिखारी वे जो मुडचिरे होते है अथवा अखबारो में बदनामी करने की धमकी दे-देकर या आन्दोलन मचाकर रुपया हडप लेते है।

दाताओ को चाहिए कि वे स्तुति से प्रभावित और निन्दा से भयभीत होकर दान न दे। कार्य की आवश्यकता, श्रेष्ठता और उपयोगिता तथा कार्य-सचालन की लगन, प्रामाणिकता, व्यवस्थितता और योग्यता देखकर धन दिया करें। भिखारियो को चाहिए कि दाता को पहचान कर उसके पास

जाय, आवश्यकता हो तभी जाय। दाताओ और भिखारियो के लिए नीचे लिखे कुछ नियम लाभकारी साबित होगे

दाताओ के लिए—

(१) देश, काल ओर पात्र को देखकर दान दें।

(२) जो देना हो खुशी-खुशी दे—बे-मन से या जबरदस्ती कुछ न दे।

(३) देश-हित और समाज-सुधार के कामो में ही धन लगावें।

(४) दान देने के पहले भिक्षुक को परख ले। यह जाच ले कि वह अपने, अपने कुटुम्बियो के, आश्रितो के लिए सहायता चाहता है या अपने अगीकृत कार्य के लिए, या अपनी सस्था के सचालन के लिए चाहता है। फिर व्यक्ति और कार्य की जैसी छाप उनके दिल पर पडे वैसी सहायता करनी चाहिए।

(५) हर आगन्तुक की सीधी सहायता करने के बजाय यह अच्छा है कि एक-एक कार्य के लिए एक-एक विश्वसनीय प्रधान चुन लिया जाय और उसकी मार्फत सहायता दी या दिलाई जाय।

(६) जहा-जहा दान दिया जाता है वहा उसका उपयोग कैसा-क्या होता है, इसकी जाच-पडताल दाता को हमेशा कराते रहना चाहिए और आवश्यकता जान पडे तो बिना मागे ही सहायता करनी चाहिए।

(७) इतनी बातो की जाच होनी चाहिए—(१) प्राप्त धन का हिसाब ठीक-ठीक रखा जाता है या नही, (२) खर्च-वर्च में किफायत से काम लिया जाता है या नही, और (३) कार्य के अलावा व्यक्ति अपने ऐशो-आराम मे तो खर्च नही कर रहे है न ?

(८) दाता भिखारी का अनादर न करे। स्नेह के साथ उसकी बाते सुने और मिठास से उसको उत्तर दे। इन्कार करने मे भी, जहा-तक हो, रुखाई से काम न लिया जाय। यह नियम सेवार्थी भिखारियो पर लागू होता है, पेटार्थी या डाकू भिखारी पर नही। उनको तो भिक्षा, दान या सहायता देना घर की लक्ष्मी को कूडे पर फैंकना है।

भिखारियो के लिए—

(१) केवल सार्वजनिक कार्य के लिए ही भिक्षा मागने जाय।

(२) अपने खर्च-वर्च के लिए किसी व्यक्ति से कुछ न मागे—सस्था या अपने अगीकृत कार्य पर अपना बोझ डाले और सो भी उतना ही, जितना भरण-पोषण के लिए अति आवश्यक है। भूखो मरने की नौबत आने पर भी अपने पेट के लिए किसी के आगे हाथ न फैलावे।

(३) जब वह भिक्षा मागने निकला है तब मान-अपमान, आशा-निराशा से ऊपर उठकर दाता के पास जाय। सहायता मिल जाने पर हर्ष से न फूल उठे, न मिलने पर दुःखी न हो। मिल जाने पर दाता को धन्यवाद अवश्य दिया जाय, पर न मिलने पर तनिक भी झुझलाहट न दिखाई जाय। उसे कोसना तो अपने को भिक्षुक की श्रेष्ठता से गिरा देना है।

(४) भिक्षा मागने तभी निकले जब काम बिल्कुल ही अड जाय।

(५) धन के हिसाब-किताब और खर्च-वर्च मे बहुत चौकस और सावधान रहे। कार्य-सचालन मे प्रमाद या आलस्य न करे, अन्यथा उसका भिक्षा मागने का अधिकार कम हो जायगा।

(६) दाताओ पर प्रभाव जमाने के लिए आडम्बर न रचे। उन्हे फुसलाने के लिए व्यर्थ की तारीफ न करे। डराकर दान लेने का तो स्वप्न मे भी खयाल न करे।

(७) अपने कार्य मे जिन-जिन लोगो की रुचि हो उन्हीके पास सहायता के लिए जाय।

(८) यह समझे कि सस्थाए और कार्य धन के बल पर नही, हमारे त्याग, तप और सेवा के बल पर ही चल सकती है और यदि तप और सेवा न होगी तो धन भोग-विलास की सामग्री बन जायगा। स्थायी कोष बनाने के लिए धन सग्रह करने किसी के पास न जाना चाहिए।

मेरा खयाल है कि यदि दाता और भिखारी दोनो इन बातो का ख्याल रखते रहेगे तो न कोई अच्छा कार्य धन के अभाव में बिगडने पायगा, न धन का दुरुपयोग होगा, न दाता और भिखारी को परस्पर निन्दा या

तिरस्कार करने का अवसर ही आयगा। आदर्श दाता और आदर्श भिखारी जिस समाज मे हो वह धन्य है। वह समाज कितना ही पीडित, पतित, पिछडा हो, उसका उद्धार हुए विना रह नही सकता।

६ : धनिकों से

मेरा इस बात मे विश्वास है कि समाज मे सबके समान अधिकार है, सबको अपना उत्कर्ष करने की समान सुविधा होनी चाहिए। मै व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने के पक्ष मे नही हू। झूठ और अन्याय से धन कमाना और उसे सग्रह करना बुरा समझता हूँ। लेकिन मै इस बात को नही मानता कि सारी बुराई की जड धन या धनी लोग है। हमारे हिन्दू-समाज मे बुराई धन वालो से नही, ब्राह्मणो से शुरु हुई। वे क्यो धन के या सत्ता के वश मे होकर अपने कर्त्तव्य और धर्म को भूल गए ? ब्राह्मण बुद्धि और ज्ञान का प्रतीक है। तप और तेज की निधि है। बुराई बुद्धि मे है, धन मे नही, बुद्धि हमे कुमार्ग मे ले जाती है, धन तो उसका सहायक बन जाता है। इसलिए मै तो समाज के बिगाड की असली जिम्मेदारी दुर्बुद्धि, स्वार्थ-बुद्धि को मानता हू, धन—सत्ता आदि साधनो को नही। गाधी ब्राह्मण थे, उन पर न धन का जोर चलता था, न सत्ता का। जिस दिन इनका जोर चल जाता, वह ब्राह्मणत्व से गिर गए होते।

परन्तु इसका यह अर्थ नही कि धनिक सब तरह निर्दोष है। समाज के प्रति जो कर्त्तव्य उनका था या है उसका ये यथावत् पालन करते है, सो बात नही, बल्कि इस समय तो समाज मे एक ऐसा दल पैदा हो गया है जो कहता है कि धनिको की धन-तृष्णा ने उनको समाज का शोषक बना दिया है। यह आरोप बिल्कुल निराधार हो, ऐसा नही कह सकते। महात्मा गाधी ने इसी वणिक्वृत्ति के शोषण को ध्यान मे रखकर कहा था कि वैश्य जाति के पापो के प्रायश्चित्त करने के लिए ही मेरा जन्म वैश्य कुल मे हुआ। श्री जमनालालजी बजाज भी एक आदर्श ैश्य बनने का प्रयत्न इसीलिए कर रहे थे और श्री घनश्यामदासजी बिडला ने भी

पूजीपति-बन्धुओ से कहा है कि आप लोग अपने जीवन-व्यवहार मे यह साबित करदो कि पूजीपति-वर्ग उन दोषो का पात्र नही है जो समाजवादी लोग उन पर लगाते है। इसका अर्थ यह है कि धनिक, पूजीपति या वैश्य-वर्ग के लोगो को समाज या देश के कार्यो मे अधिकाधिक हिस्सा लेना चाहिए।

यह वे दो तरह से कर सकते है। एक तो धनोत्पादन इस तरह करे जिससे श्रमिको और गरीबो का शोषण न हो। दूसरे, जो कुछ धन-सग्रह करे उसमे से देश और समाज के कामो मे, जनता के हित मे, उसका काफी अश लगावे।

पहली बात की तरफ बहुत ही कम लोगो का ध्यान गया है। वे अन्धा-धुन्ध धन कमाने के पीछे पडे हुए है। उसके लिए झूठ और धोखा-धडी का कोई पाप नही समझते है। धन अलबत्ता देते रहते है, परन्तु उस दान मे भी अब स्वार्थ घुस गया दीखता है। नाम के लिए या आगे-पीछे कुछ लाभ उठाया जा सकेगा, इस दृष्टि से यानी भय या लालच से धन अधिक दिया जाता है। फिर मानो बडा अहसान करते हो, ऐसा भी कोई-कोई जताते है। पाप की कमाई मे से कुछ धन अच्छे काम मे लगाकर पुण्य सचय करना चाहिए, और जो हमारे पाप की कमाई का दान लेते है वे हमे पाप से बचने मे सहायता करते है। इस वास्तविक भावना से कितने लोग धन देते है? मुझे अक्सर दान मागने और लेने के अवसर आते रहते है। अपने पेट पालने के लिए मैने कभी किसी के सामने हाथ नही फैलाया। सार्वजनिक कामो के लिए दान मागना और लेना मै ब्राह्मण का ही नही, प्रत्येक देश-सेवक का धर्म समझता हू। इस भिक्षुक जीवन मे जो कुछ अनुभव हुए है उनके आधार पर धनिको से इतना जरूर कहना चाहता हू कि वे धन के कारण अपने को बडा और श्रेष्ठ समझने का खयाल छोड दे, दूसरे जब कोई सार्वजनिक कार्यकर्त्ता उनके सामने आवे तब वे उसे तुच्छ और उपेक्षा की दृष्टि से न देखे। यह जरूर जान ले कि व्यक्ति सच्चा और ईमानदार तो है न, कार्य उसका लोकोपयोगी है न। वे पात्र को परखे बिना हरगिज दान न दे। झूठी दया के वशवर्त्ती होकर भी दान न दे।

भय से कभी दान न दे। व्यक्ति यदि सत्पात्र है तो उसके प्रति सद्भाव रखते हुए नम्रतापूर्वक दान दे। और जब देना ही है, देते है तो सात्विक दान क्यो न दे। कजूसी ही करना हो तो अपने ऐश-आराम मे करे, देश और समाज के लिए देने मे नही। सकल्पित दान को न देना, उसका अपने निजी खर्च या व्यवसाय मे उपयोग कर लेना साक्षात चोरी है। इससे वे बचे। वे इस बात को न भूले कि उनकी अमर्यादित धन-तृष्णा, अनैतिक साधनो से धन-सग्रह और केवल स्वार्थ और सुख-भोगो मे ही उसका उपयोग करने की वृत्ति के जहरीले परिणाम प्रकट होने लगते है।

अभी समय है, वे चेते। क्या हिंसात्मक तथा अहिसात्मक दोनो प्रकार के बल उनकी शोषण-वृत्ति के और स्वार्थ-परता के खिलाफ काम कर रहे है? यदि उन्होने अपने को न सम्भाला और अपने जीवन को जनता की सेवा के अनुकूल न बनाया तो खुद ईश्वर भी आने वाले दुर्दिन से उनकी रक्षा न कर सकेगा।

७ : देश-सेवक और तनख्वाह

देश-कार्य को सुव्यवस्थित और सुसगठित रूप से सचालित करने के लिए हजारो की तादाद मे देश-सेवको की आवश्यकता रहती है। जबतक इनके गुजर का नियमित प्रबध न हो तबतक इतनी बडी कार्यक्षम सेना मिलना असभव है। फिर भी कई लोग उन देश-सेवको या सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ को, जो वेतन लेते है, बुरा समझते है, उनकी निन्दा करते है, समय-असमय उन पर टीका-टिप्पणी करते है। इसलिए हम यह भी देख ले कि यह आक्षेप कहा तक ठीक है।

तनख्वाह के मानी है नियमित और निश्चित रुपया अपने खर्च के लिए लेना। देशभक्त या सार्वजनिक कार्यकर्त्ता सिर्फ उतना ही रुपया नियमित रूप से लेता है जितना महज जीवन-निर्वाह के लिए काफी हो। ऐश-आराम और मौज-शोक के लिए एक पाई भी लेने का उसे हक नही है। कोई नियमित रूप से ले या अनियमित रूप मे, निश्चित रकम ले या

अनिश्चित, किसी संस्था से ले या व्यक्ति से, किसी देशसेवक या लोकसेवक को मैंने फाके कर-करके काम करते हुए नही देखा है। यदि उसके साथ उसका कुटुम्ब भी है तो उसे कहीं-न-कहीं से, किसी-न-किसी तरह, गुजर-बसर के लिए रुपया लेना ही पडता है। तो जब कि तनख्वाहदार या बे-तनख्वाहदार सभी लोगो को खर्च-वर्च या गुजर-बसर के लिए रुपयो की जरूरत होती है तब जो निश्चित और नियमित रूप मे एक रकम लेकर उसी पर अपनी गुजर चलाते है वे बुरे क्यो, और वेतन लेकर सारा समय देश और जन-सेवा म लगाने की प्रणाली बुरी क्यो ? जो लोग वेतन न लेकर देश या जन-सेवा करते हैं वे या तो अपने बाप-दादो की कमाई मे से खर्च करते है, या धनी मित्रो की सहायता पर गुजर करते है, या बीमा, अखबार, वकालत, डाक्टरी अथवा ऐसा ही कोई निजी धन्धा खोलते है और उसम से भत्ता लेते है, परन्तु जीवन-निर्वाह के लिए रुपया सब लेत है। यदि कोई निश्चित और नियमित रकम नही लेता हो तो मेरी राय मे यह गुण की नही, बल्कि दोष की बात है। इसके अलावा व्यक्तियो को अनियमित और अनिश्चित रूप मे सहायता लेने की अपेक्षा तो किसी सुयोग्य और मान्य संस्था से नियमित रकम महज अपनी मामूली जरूरियात के लिए लेना क्यो श्रेयस्कर और वाछनीय नही है ? यो तो मै ऐसे भी देश-सेवको या सार्वजनिक कार्यकर्त्ता कहलाने वालो को जानता हू, जो एक ओर वेतन शब्द का तिरस्कार करते है पर जो दूसरी ओर या तो चन्दा लेकर खा जाते है, या डरा-धमका कर लोगो से रुपया लाते है या कर्ज लेकर फिर मुँह नही दिखाते या पैसा न मिलने पर अखबारो मे गाली-गलौज करते और गिराने की कोशिश करते है। पर यहा इनका विचार नही करना है, क्योकि ये तो वास्तव मे समाज के चोर है और लोकहित के नाम पर चोरी और ठगी करते फिरते है।

तो अब यह समझ मे नही आता कि जबकि हर देश-भक्त या समाज-सेवक को अपनी गुजर के लिए रुपयो की या धन की कुछ-न-कुछ आवश्यकता होती है तो फिर नियत रकम मे अपनी गुजर करने की प्रणाली क्यो बुरी है ? आप कहेगे कि निजी धन्धेवाला अधिक स्वतत्र है। पर किस बात के लिए? अधिक

खर्च कर देने के लिए और किसी भी एक काम मे न लगा रहने के लिए ही न ? पर इस स्वतन्त्रता मे या अनियम मे रहकर काम करनेवाले की अपेक्षा एक नियम के अधीन रहकर नियत और निश्चित रुपया लेने और काम करने-वाला आदमी क्या अधिक कठिनाइयो मे काम नही करता है ? उसे अधिक सयम ओर शक्ति से काम नही लेना पडता है ? और क्या इसी कारण वह निन्दा का पात्र है ? फिर अपने निजी धन्धो मे अधिकाश समय देनेवालो की ्ख्य शक्ति तो अपने धन्धे मे ही चली जाती है—राष्ट्र या समाज के कामो के लिए नाम-मात्र का अवकाश उन्हे मिलता है। इससे उन्हे 'देश-सेवक' बनने का श्रेय भी भले ही मिल जाय, देश को उनमे पूरा लाभ नही मिलता। इसके विपरीत तनख्वाहदार लोक-सेवक को 'वेतन-भोगी' कहकर आप चाहे 'देश-भक्ति' मे खारिज कर दीजिए, पर उसके सारे समय और शक्ति पर देश और समाज का अधिकार होता है और उसका पूरा एव सारा लाभ देश या समाज को मिलता है। इसके सिवा जहा देश-सेवको के निर्वाह का कोई प्रवन्ध नही होता वहा का सार्वजनिक जीवन अक्सर गन्दा पाया जाता है। अतएव मेरी मन्दमति मे तो वेतन की प्रथा निन्दनीय नही,प्रोत्साहन देने योग्य है। गुजरात मे जो इतना सुदृढ सगठन हुआ है, वह वेतन-भोगी देश-सेवको का ही ऋणी है। आज देश मे जितनी राष्ट्रीय शिक्षा-सस्थाए चल रही है, श्री गोखले की भारत-सेवक समिति, लालाजी की पीपल्स सोसायटी, श्रद्धानन्दजी का गुरुकुल, कर्वे का महिला-विद्यापीठ, देवराजजी का जालन्धर-कन्या-महाविद्यालय, टैगोर की विश्वभारती, मालवीयजी का हिन्दू-विश्वविद्यालय, गाधीजी का चरखासघ, हरिजन सेवक-सघ, आदि-आदि ये सब अपने खर्च के लिए निश्चित और नियमित रकम अर्थात् वेतन पानेवालो के ही वल पर चल रही है और अपने-अपने क्षेत्र मे भरसक सेवा कर रही हैं। देश मे ठोस और रचनात्मक कार्य कभी हो ही नही सकता, यदि आपके पास हजारो की तादाद मे नियत और निश्चित रकम लेकर सेवा करने वाले लोग न हो। काग्रेस का काम आज से कही अधिक सुव्यवस्थित और सुसगठित रूप से चलने लगे, वह कही अधिक

बलशालिनी संस्था हो जाय, यदि उसमें 'राष्ट्र-सेवक-मंडल' की योजना पर अमल होने लगे।

इन बातों और स्थितियों की उपेक्षा करके यदि हम राष्ट्रीय क्षेत्र में वेतन-प्रथा का पैर न जमने देने का उद्योग करेंगे तो हम या तो देश-सेवा और जन-हित के नाम पर चोरी और ठगी को प्रोत्साहन देने का या देश-सेवा के उत्सुक नवयुवकों को निजी काम-धन्धों के द्वारा स्वार्थ साधन में या सरकारी नौकरियों की गुलामी में लगाने का ही पुण्य प्राप्त करेंगे।

८ : कार्यकर्त्ताओं की जीविका

कार्यकर्त्ता भी मनुष्य है और इसीलिए वह हवा खाकर या फाके-कशी करके नहीं रह सकता। अधिक नहीं तो खाने-कपड़े भर का तो उसका कोई प्रबन्ध होना ही चाहिए। इसमें दो मत नहीं हो सकते। अब प्रश्न यह है कि यह प्रबन्ध हो कहां से ? इसके इतने जरिये देखे जाते है—

(१) किसी संस्था के द्वारा,

(२) किसी मित्र या मित्रों की सहायता से,

(३) अपनी सम्पत्ति हो तो उसमें से,

(४) भिक्षा द्वारा या

(५) आड़े-टेढ़े और आक्षेपयोग्य मार्ग से,

संस्था से उन्हीं लोगों को मिलता या मिल सकता है जो संस्था के उद्देश्य को मानते हों, उसकी नीति पर चलते हों और उसके नियमों की पाबन्दी रखते हों। मित्रों से सहायता व्यक्तिगत स्नेह और आदर होने पर ही मिल सकती है। इसमें यदि आदर्श और सिद्धान्त की एकता हो तो यह सहायता अधिक हार्दिक और अधिक स्थायी हो सकती है। अपनी सम्पत्ति रखनेवाले कार्यकर्त्ता बहुत थोड़े है और हो सकते है। महात्माजी कहते थे, मुझे ७॥ लाख गांवों के लिए ७॥ लाख कार्यकर्त्ता चाहिए। इतने कार्य-कर्त्ता अपनी सम्पत्ति रखने वाले कहां से मिलेंगे ? भिक्षा द्वारा पेट भरने से आत्म-सम्मान नष्ट होता है। जिसकी भावना और जीवन सेवामय है

उसे तो घर-घर भीख मागने की जरूरत ही क्या है ? यदि उसकी जरूरते बहुत थोडी है और थोडी ही होनी चाहिए—तो कष्ट के साथ क्यो न हो, उसे पेट भरने को सामग्री मिल ही जाती है। भिक्षा से तो परिश्रम करके मजदूरो के रूप मे जो कुछ मिले उस पर गुजर करना बेहतर है। पाचवा रास्ता तो निकृष्ट ही है। कोई भला आदमी और प्रतिष्ठित कार्यकर्त्ता टेढा और आपत्तिजनक मार्ग अपनी गुजर के लिए न स्वीकार करेगा। सच्चे कार्यकर्त्ता की एक परीक्षा यह भी है कि वह अपने निर्वाह के लिए राज-मार्ग ही अगीकार करे, चोर-मार्ग कदापि नही। धमकाकर, झूठ बोलकर, धोखा देकर, खुशामद करके, गिडगिडाकर, मिथ्या स्तुति करके, अन्य प्रशसा करके, आत्म-सम्मान खोकर, झूठे वायदे करके, झूठा हिसाब बनाकर, चन्दा हजम करके, या हिसाब न बताके, ये सब चोर-मार्ग के नमूने है।

इनमे हमारी समझ मे सबसे श्रेष्ठ मार्ग तो यह है कि कार्यकर्त्ता जिनकी सेवा करता है उनकी आप दी हुई सहायता पर ही सन्तोष माने। किंतु इसके लिए बहुत धैर्य और श्रद्धा की आवश्यकता है। दूसरे, एक आदमी सेवा करे और उसके चार आदमियो का खर्च लोगो पर पडे, यह न होना चाहिए। ऐसी स्थिति वालो को अक्सर विशेष कष्ट और असुविधा होती है। अव्वल तो आश्रित न हो या एक-दो हो, किंतु जो हो वे भी कार्यकर्त्ता बनकर रहे तो विशेष कठिनाई न होगी, किंतु फिर भी यह मार्ग है जरूर ऐसा कठिन जिस पर थोडे ही लोग चल सकते है। जो अकेले है उनके लिए यह बहुत ही बढिया है—सिर्फ उनकी जरूरते ऐसी ही होनी चाहिए जो उस समाज के लोगो से, जिनकी वह सेवा करता है, खर्चीली न हो। दूसरे नम्बर पर, इससे सुसाध्य है किसी सस्था द्वारा नियत रकम लेना। इसमे निश्चिन्तता तो अधिक है, किंतु कार्यकर्त्ताओ के आलसी, सुखभोगी, लोकमत के प्रति लापरवाह रहने का अदेशा रहता है। यदि सस्था के सचालक और कार्यकर्त्ता जागरूक रहे तो इस दोष से बचाव हो सकता है। अपनी सम्पत्ति रखनेवाले यानी अवैतनिक रूप मे काम करने वालो मे अभिमान, गैर-जिम्मेदारी और अनियम का दोष पाया जाता है। वे अपने को उन

लोगों से भी श्रेष्ठ समझने लगते है जो पिसते तो उनमे ज्यादा है, उपयोगी भी उनसे ज्यादा है, परन्तु अवैतनिक नहीं है। यदि इस बुराई मे कार्यकर्त्ता अपने को बचाये रक्खे तो फिर हर्ज नही है।

कार्यकर्त्ताओं की जीविका के सवन्ध मे एक और बात विचारणीय है। कुछ कार्यकर्त्ताओ को शिकायत है कि हम काम करने को तैयार है, परन्तु कोई हमारी जीविका का प्रबन्ध नही है। इधर जो लोग जीविका का प्रबन्ध कर सकते है उनका कहना है कि देश म योग्य कार्यकर्त्ताओ का अभाव है। इसका एक ही रास्ता है—या तो हम स्वतन्त्र रूप से अपनी जीविका का साधन ढूंढ ले या जिनसे जीविका के प्रबन्ध की अपेक्षा रखते है—उन्होंने कार्यकर्त्ता की योग्यता की जो नाप बना रखी है—उसमें पूरे उतरे। यदि हम अपनी योग्यता की नाप अपनी ही रखना चाहते है तो जीविका का प्रबन्ध हमे खुद कर लेना चाहिए। यदि खुद प्रबन्ध कर सकने की स्थिति न हो तो उनकी नाप मे पूरा उतरने का यत्न करना चाहिए। या तो हम अपनी नाप रखने का सन्तोष पाले और जीविका की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले या जीविका के प्रबन्ध मे निश्चिन्तता प्राप्त करने के लिए दूसरो की नाप मे पूरा उतरने की जिम्मेदारी ले। दोनो दशाओ में एक बात का सन्तोष ले ले और एक बात की जिम्मेदारी। यह नही हो सकता कि सन्तोष हम दोनो प्रकार का चाहे और जिम्मेदारी एक बात की भी नही। कुछ तो हमारा समाज भी अपने कर्त्तव्य के प्रति उतना जाग्रत नही है जिससे कार्यकर्त्ताओ को जीविका की चिन्ता न करनी पडे, और कुछ हम कार्यकर्त्ता भी उस कोटि के नही होते जिसकी अच्छी छाप समाज पर पडती रहे। इसमें दोष की अधिक जिम्मेदारी कार्यकर्त्ताओ पर ही आती है, क्योंकि समाज तो प्राय सहृदय, सहानुभूतिशील और क्षमाशील ही देखा जाता है। अतएव इस विषय मे मुझे कुछ सन्देह नही है कि कार्यकर्त्ता की योग्यता और सेवाओ मे ही कही कसर होनी चाहिए जिससे उसे निर्वाह की चिन्ता मे पथ-भ्रष्ट होना पड़ता है या सेवा से विरक्त हो जाना पडता है। साथ ही मुझे इस बात मे कोई शक नही है कि जबतक संस्था-संगठन या प्रांत के मुखिया कार्यकर्त्ताओ

की जीविका का समुचित प्रवन्ध नही करते या उसकी जिम्मेदारी को अनुभव नही करते तवतक सुसगठित और सुचारु रूप मे काम चलना असम्भव है।

९ : जीवित रहने का भी अधिकार नही ?

सार्वजनिक सस्था, सगठन और जीवन मे यह एक प्रश्न है कि दूसरो के मतो और विचारो को किस हद तक सहन किया जाय ? आप एक वात को सही मानते है, मै दूसरी वात को। आप कहते है, ठहरने और काम करने का समय है। मै कहता हू, लडने और आन्दोलन करने का है। एक कहता है, फला आदमी को सभापति वनाओ, दूसरा कहता है कि नही, फला को वनाना चाहिए। एक के मत मे यह प्रणाली अच्छी है, दूसरे के विचार मे दूसरी। एक एक व्यक्ति को नेता मानता है, दूसरा दूसरे को। कोई एक सस्था पर कब्जा करना चाहता है, कोई वहा से हटना नही चाहता। धार्मिक झगडो को छोड दे तो सार्वजनिक जीवन में ऐसी ही वातो पर विवाद, वैमनस्य और झगडे हुआ करते है। यदि हम हर छोटी वडी वात पर लडते और एक-दूसरे पर हमला करते रहे तो सार्वजनिक जीवन एक घृणित वस्तु हो जाय। हमें एक ऐसी मर्यादा वाधनी ही होगी, जहा तक हम एक-दूसरे को वरदाश्त करे और उसके वाद विरोध या प्रतिकार। फिर हमे यह भी निश्चय करना होगा कि विरोध या प्रतिकार कैसा होना चाहिए ? मेरी समझ मे हमें सवसे पहले यह देखना चाहिए कि मत-भेद का आधार कोई सिद्धान्त, आदर्श या उच्च लक्ष्य है, अथवा स्वभाव, व्यवहार, द्वेष, मत्सर आदि है ? इसी प्रकार मतभेद रखने वाले व्यक्ति का भाव शुद्ध है, नीयत साफ है, या धोखे और फरेव से काम लिया जाता है ? यदि मतभेद के मूल मे सिद्धान्त, आदर्श या लक्ष्य है और भावना शुद्ध है तो वहा वैमनस्य नही पैदा हो सकता। जहा शुद्ध और उच्च भावना है वहा छोटी-छोटी व्यवहार की, तफसील की, या स्वभावगत गुण-द्वेष की वातो पर झगडा और तू-तू मै-मै नही हो सकती। जहा दिल में एक वात हो और वाहर दूसरी कही जाती हो वहा विश्वास

जमना कठिन होता है और झगडा हुए बिना नही रहता। अब इसकी क्या पहचान कि मतभेद सिद्धान्त-मूलक है या व्यक्तिगत कारणो से अथवा भावना शुद्ध है या अशुद्ध ? यदि सिद्धान्तगत है तो व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हानि-लाभ, उतार-चढाव, मान-अपमान को सिद्धान्त के मुकाबले मे तरजीह न देगा। सिद्धान्त की रक्षा के लिए उसे महल मे रहने की आवश्यकता होगी तो वहा रहेगा और यदि जगल मे एकाकी मारे-मारे फिरने अथवा फासी और सूली पर चढने की जरूरत होगी तो उसके लिए भी खुशी से तैयार रहेगा। वह कठिनाइयों में सदा आगे और सुख-भोग मे पीछे रहेगा। वह ऐसे समय पर अवश्य अपने को जोखिम मे डाल देगा, जब सकट और साहस का अवसर होगा, जब बुराई और बदनामी का ठीकरा सिर पर फूटने वाला होगा। पर यदि मतभेद का कारण व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षा है, तो वह सिद्धान्त को कुचलकर अपने व्यक्तित्व को आगे बढाने के लिए चिन्तित रहेगा। पद न मिलने से अप्रसन्न होगा, मान न मिलने से वह सहयोग छोड देगा, सहायता न मिलने से बुराई करने लगेगा, गुणो को भूलकर दुर्गुणो की चर्चा करने लगेगा, सिद्धान्त-पालन का मजाक उडावेगा। सिद्धान्तवादी सिद्धान्त को छोडकर लोकप्रियता या लोक-निन्दा की परवाह न करेगा। वह टीका-टिप्पणी और निन्दा से चिढेगा नही, बल्कि नम्र बनकर प्रत्येक बात से शिक्षा ग्रहण करने की चेष्टा करेगा।

इसी तरह सच्चाई छिपी नही रहती। आप बोले या न बोले, सच्चाई सदा बोलती रहती है। सचाई है क्या चीज ? अन्त करण और आचरण का सामञ्जस्य, एकता। सच्चाई ही एक ऐसी चीज है जो मतभेद होते हुए भी परस्पर आदर बढाती है। सच्चाई अपने अवगुण को अधिक और पहले देखती है, दूसरे के को कम और बाद मे। जहा सच्चाई है, वहा नम्रता अवश्य मिलेगी। उद्दण्डता और अभिमान, यदि सच्चाई हो भी तो, उसे मुरझा देते है। उद्दण्डता और अभिमान दूसरो पर शासन करना चाहते है, अपने अपात्र होने पर भी दूसरो को दबाना चाहते है, परन्तु सच्चाई सदा विनत रहकर, अपने को मिटाकर, दूसरो को बढाना

चाहती हैं।

यह तो हुई सिद्धान्त या आदर्शगत मतभेद तथा सच्चाई की पहचान। अब प्रश्न यह रह जाता है कि मतभेद किस हद तक सहन किये जाय? सो प्रथम तो यह मनुष्य की सहन-शीलता पर अवलम्बित है। मतभेद छोटी-बडी बातो पर से हो तो वह सर्वथा सहन करने योग्य है। यदि सिद्धान्त और आदर्श सम्बन्धी है, उसकी बदौलत यदि सिद्धान्त और आदर्श की जड कटती है तो वह सहन करने योग्य नही, बल्कि असहयोग करने योग्य है। असहयोग के मूल मे भी व्यक्ति के प्रति तो प्रेम और सहानुभूति ही होनी चाहिए, द्वेष और डाह के लिए उसमे जगह नही हो सकती। असहयोग के आगे की सीढी है कष्ट-सहन। यही तपस्या है अपने सिद्धान्त और आदर्श के लिए जो व्यक्ति तपता है, निन्दा, कटूक्ति, भर्त्सना, अपमान और शारीरिक यन्त्रणाए प्रसन्न रहकर सहता है, वही महान् पुरुष बनता है। वह सार्वजनिक जीवन को ऊचा उठाता है, पवित्र बनाता है और आगे बढाता है।

पर एक यह भी मत प्रचलित है कि यदि तुम्हारा मत न मिलता हो तो उसकी निन्दा करो, उसके खिलाफ जहर उगलो, उसे लोक-दृष्टि मे गिराओ और अन्त मे उसका काम तमाम कर दो। मेरी समझ मे यह भले आदमियो का पथ नही है। मत-भेद के कारण गिराना और मारना आसुरी प्रवृत्ति है और सभ्य समाज मे उसको कदापि प्रोत्साहन नही मिल सकता। मनुष्य को स्वेच्छा से जीवित रहने का, स्वतन्त्र रहने का और सुधारने का जन्म-जात अधिकार है। बुराई होने पर आप उसकी स्वतन्त्रता को मर्यादित कर सकते हैं, परन्तु जीवित रहने का अधिकार नही छीन सकते। आपकी तारीफ तो तब है, जब आप मुझे अपने मत का कायल कर दे, अपने मत मे मिला ले। मुझे मार डालने मे आपकी कौन-सी बहादुरी है? एक बैल भी सीग मारकर मनुष्य को मार डाल सकता है। इसलिए सच्ची वीरता किसी को अपने मत का कायल कर देने मे है, न कि उसको गिराने या मार डालने मे। कुचलना या मार डालना नही, बल्कि मत-परिवर्तन ही सच्ची सिद्धान्त-वादिता और वीरता की कसौटी है। यह मनुष्य का कितना बडा अन्याय

और अत्याचार है कि वह अपने मत को इतना श्रेष्ठ, अटल, निर्भ्रम और सत्य समझे कि उसके लिए दूसरे को जिन्दा रहने का भी हक न रहने दे ? यह मनुष्यता का व्यभिचार है। यह मनुष्यता को लज्जित और कलंकित करना है। यह मनुष्य का घोर स्वार्थ और मदान्धता है। इससे समाज में कभी न्याय और स्वतन्त्रता का विकास नहीं हो सकता। यह एकतन्त्रता, अत्याचार और स्वेच्छाचार का परवाना है। इसका अर्थ यह है कि तुम्हारे हाथ में यदि गिराने और मारने की शक्ति है तो बस। तुम अपने गुणों और खूबियों पर नहीं जीना चाहते, अपनी पशुता के बल पर जीना चाहते हो। अपनी मनुष्यता को नहीं, पशुता को बढ़ाकर जग में पशुता की वृद्धि करना चाहते हो। क्या तुम यह मनुष्यजाति की सेवा कर रहे हो ? क्या इस पर कुछ सोचने की जरूरत नहीं है ?

: ७ :

आन्दोलन और नेता

१ : राज-संस्था

राजनीति समाज-नीति का एक अग है। मनुष्यो ने मिलकर समाज बनाया समाज ने राज्य बनाया। मनुष्यो के पारस्परिक व्यवहार-नियम को नीति कहते है। नीति शब्द का अर्थ है—वे नियम जो आगे ले जाते है। जो नियम या व्यवस्था समाज को आगे ले जाती है वह समाज-नीति, जो राज्य को आगे ले जाती है वह राजनीति कहलाती है। समाज कहते है एक व्यवस्थित मानव-समूह को। यह मानव-समूह जब अपने शासन-कार्य के लिए सरकार नाम की एक अलहदा सस्था बना लेता है तब शासन-सस्था और मानव-समूह मिलकर राज्य (State) कहलाता है, अर्थात् राज्य के दो भाग है—एक तो शासन-सस्था और दूसरा शासित मानव-समाज। राज्य का अर्थ केवल सरकार यानी शासन-मडली नही है। राज्य की उत्पत्ति समाज से हुई है। समाज ने अपनी सत्ता के एक अश से शासन-सस्था यानी सरकार खडी की है। जब मनुष्य-समाज व्यवस्थित होने लगा तो सहज ही इन बातो की सुव्यवस्था की ओर उसका ध्यान गया—दूसरे समाज के आक्रमणो से अपने को कैसे बचावे ? आपस के लडाई-झगडो का निपटारा कैसे करे ? समाज का भरण-पोषण और उन्नति कैसे हो ? शासन-सस्था इन्ही कठिनाइयो का हल है। आरम्भ मे समाज के लोग मिलकर इन कामो के लिए कुछ लोगो को चुन लिया करते थे—एक मुखिया सरपच बना लेते थे और समाज का काम चला लेते थे। दूसरो पर काम सौप देने से स्वभावत खुद निश्चित रहने लगे। इसका फल यह हुआ कि मुखिया राजा बन बैठा और समाज की सम्पत्ति से राज-काज करने के बदले समाज को अपने

डण्डे से हाकने लगा। जब समाज जाग्रत हुआ तो उसने राजा को उखाडने की चेष्टा की और आज हम जगह-जगह प्रजा-सत्ता की स्थापना देख रहे है।

स्वतन्त्रता का व्यावहारिक अर्थ है राजनैतिक स्वतन्त्रता अर्थात् शासन-विषयक स्वतन्त्रता। इसकी प्राप्ति या उपयोग के साफ अर्थ दो है—एक सीधे राज-काज मे हाथ बटाना, और दूसरे राजनैतिक जागति या आन्दोलन करना। या यो कहे कि एक तो शासन-सस्था में सम्मिलित होकर काम करना, दूसरे उससे स्वतत्र रहकर लोक-जागृति करना और आवश्यकता पडने पर शासन-मडली का विरोध करना। यह बात सच है कि राज-सस्था समाज का ही एक अग है और समाज-हित ही उसका एक-मात्र लक्ष्य है, किन्तु कई बार शासन-सस्था स्वय अपने अस्तित्व की चिन्ता मे इतनी डूब जाती है कि उसे समाज-हित का खयाल नही रहता। तब समाज के प्रतिनिधियो का कर्तव्य होता है कि वे समाज के हित की ओर उसका ध्यान दिलावे ओर यदि शासन-मडली इतने से न माने तो लोगो को सजग करे और उनके बल से उसमे आवश्यक सुधार या परिवर्तन करावे। इस प्रकार राज-सस्था के दो अग अपने-आप हो जाते है—एक तो शासक-वर्ग, दूसरे प्रतिनिधि-वर्ग। इनमे से ही प्राय आन्दोलनकारी लोग उत्पन्न होते है। प्रतिनिधियो का काम है समाज-हितकारी नियम बनाना और शासक-वर्ग का काम है उनका व्यवहार करना। वास्तव मे तो इन प्रतिनिधियो मे से ही शासक भी उत्पन्न होते है। जो प्रतिनिधि शासन की जिम्मेदारी लेते है वे शासक और जिन पर शासन-सुधार की जिम्मेदारी आ जाती है वे आन्दोलनकारी हो जाते है। कभी-कभी ये एक-दूसरे के घोर विरोधी भी बन जाते है, परन्तु दोनो का उद्देश्य एक ही होना चाहिए, समाज-हित। इसके बदले जब व्यक्तिगत स्वार्थ इनके मूल मे प्रविष्ट कर जाता है तब दोनो अपने उच्च उद्देश्य से गिर जाते है और समाज के दण्ड-पात्र होते है।

तो स्वतन्त्रता-प्रेमी के सामने सबसे पहले दो प्रश्न उपस्थित होते

है—सरकारी अधिकारी बने या लोक-सेवक बने ? जहा सरकार सुव्यवस्थित है—लोक-हित के लिए लोक-प्रतिनिधियो द्वारा सचालित होती है वहा तो सरकारी अधिकारी बनना उतने ही गौरव की बात है जितना लोक-सेवक बनना, परन्तु जहा राज-सस्था ऐसे लोगो ने हथियाली हो जो अपनी स्वार्थ-साधना के लिए उसका उपयोग कर रहे हो, न लोक-हित की परवाह है, न लोक-मत की पूछ, वहा सरकारी अधिकारी बनना लोक-द्रोह करना है । वहा तो लोक-सेवक बनना ही प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है । सरकारी नौकरियो के लिए—भिन्न-भिन्न उच्च पदो के लिए परीक्षाए नियत होती है । पहले उन्हे पास करके अपनी रुचि और योग्यता के अनुकूल काम ग्रहण करना चाहिए और उसे ईमानदारी के साथ समाज-हित का पूरा ध्यान रखते हुए, अपने को समाज का एक तुच्छ सेवक समझते हुए, करना चाहिए । एक ओर से कठिन आपदाओ का भय और दूसरी ओर से अनेक प्रलोभनो की मोहिनी के रहते हुए भी अपने कर्तव्य-पालन से न चूकना चाहिए । इन दोनो विपत्तियो से सदा सावधान रहना चाहिए । द्रव्य, स्त्री और नशा ये तीन चीजे ऐसी है जिन्हे स्वार्थी लोग दूसरे को कर्तव्य-भ्रष्ट करने के लिए इस्तैमाल करते है । जो इनसे बचता रहेगा वही सफल और विजयी होगा । शिक्षा और न्याय-विभागो के द्वारा समाज की शारीरिक सुख-सुविधाओ की पूर्ति होती है, किन्तु इन दो विभागो के द्वारा उनकी मानसिक, बौद्धिक और नैतिक प्रगति की जाती है । फिर भी चुनाव तो व्यक्ति को अपनी रुचि और योग्यता को देखकर ही करना चाहिए ।

लोक-सेवक के बारे मे अगले प्रकरण मे विस्तार से विचार करना ठीक होगा ।

२ : नेता और उसके गुण

लोक-सेवक के तीन विभाग किये जा सकते है—(१) नेता, (२) सयोजक और (३) कार्यकर्त्ता या स्वय-सेवक । नेता का काम है—लोगो का ध्यान लक्ष्य की ओर बनाये रखना, लक्ष्य की ओर बढने के लिए आवश्यक

बल और उत्साह की प्रेरणा करना, स्वयं उनके आगे रहकर लक्ष्य-सिद्धि के लिए उद्योग करना, लड़ना और उन्हें सफलता की ओर ले जाना। संयोजक का काम है नेता के बताये कार्यक्रम के अनुसार ग्राम, जिला या प्रान्त में संगठन करना, प्रचार करना और लोगों को एकसूत्र में बांधना एवं लक्ष्य-सिद्धि के लिए सामूहिक बल एकत्र करना। स्वयं-सेवक का काम है संयोजक की हर प्रकार से सहायता करना। नेता ही इनमें मुख्य होता है, इसलिए उसकी योग्यता का हम अच्छी तरह विचार कर ले। नेता में इतने नैतिक बौद्धिक, शारीरिक और व्यावहारिक गुण आवश्यक है

नैतिक गुण—सत्यशीलता, न्यायपरायणता, प्रेममयता, साहस निर्भयता, उत्साह, सहनशीलता, उदारता, गम्भीरता, स्थिर और शान्त-चित्तता, आशावादिता, निःशंकता, निर्व्यसनता।

बौद्धिक गुण—दूरदर्शिता, प्रसंगावधान, समयसूचकता, शीघ्र-निर्णयता, विवेकशीलता, आज्ञादायित्व।

शारीरिक गुण—नियम-निष्ठा, कष्ट-सहिष्णुता, आरोग्यता, फुरतीलापन।

व्यावहारिक गुण—मिलनसारी, साधन-प्रचुरता, भाईचारापन, कुशलता, सभा-चातुरी, हरदिल अजीजी।

नेता अपने युग की आत्मा समझा जाता है—इसलिए न केवल अपने समाज की तमाम अच्छाइयों का प्रतिबिम्ब उसमें होना चाहिए, बल्कि उसके कष्ट और पीड़ा का भी वह दर्पण होना चाहिए एवं उसके अभावों की आशा-ज्योति उसमें जगमगानी चाहिए। वह प्रायः हर गुण में अपने अनुयायियों से आगे रहता है। सत्यशीलता उसका सबसे बड़ा गुण है। वह सत्य को शोधेगा, सत्य को ग्रहण करेगा, सत्य पर दृढ़ रहेगा, सत्य का विस्तार करेगा, सत्य के लिए जीयेगा, सत्य के लिए मरेगा। व्यवहार में हम जिसे न्याय कहते है, वह सत्य का एक नाम है। दो आदमी लड़ते हुए आये, उसमें किसकी बात सच है, कौन सच्चा है और कौन झूठ बोलता है, इसी निर्णय का नाम है

न्याय। न्याय का नाम है सत्य-निर्णय। जो न्यायी है उसे सत्य का अनुयायी होना ही पडेगा। वह नेता कैसे जन-समाज के आदर को प्राप्त कर सकता है यदि वह न्यायी और सत्य-परायण नही है। सत्यशीलता के द्वारा वह अपने दावे को मजबूत कर लेता है और शत्रु तथा प्रतिपक्षी तक को उसे मन मे मानना ही पडता है। इस कारण लोकमत दिन-दिन उसके अनुकूल होता ही चला जाता है। अपने राष्ट्र और समाज की दृष्टि से सत्य किस बात मे है, हित किस बात मे है, इसका निर्णय उतना कठिन नही है जितना इस बात का निर्णय कि प्रतिपक्षी या शत्रु, या कोई तटस्थ व्यक्ति जिससे हमारा मुकाबला है, या साबका पडा है वह किस हद तक सत्य और न्याय से प्रेरित हो रहा है, उसके व्यवहार मे कौन-सी बात शुद्ध भाव से की जा रही है और कोन-सी अशुद्ध भाव से, क्योकि यदि किसी नेता ने इसकी परवाह न की और उनके पत्येक व्यवहार को असत्य और दुर्भाव-पूर्ण ही वह मानता चला जायगा तो वह असत्य और अन्याय के पथ पर चल पडेगा, जिसका फल यह होगा कि एक तो उसके पक्ष मे ही सत्य और न्याय पर चलनेवाले लोग उससे उदासीन हो जायगे और दूसरे विपक्षी दल के भी उससे सहानुभूति रखनेवाले लोग विरक्त हो जायगे। स्वय शत्रु भी, जो मन मे उसकी सच्चाई को मान रहा होगा और इसलिए उसे आदर की दृष्टि से देख रहा होगा, उसके दिल से दूर हट जायगा। जो तटस्थ होगे उनकी सहानुभूति शत्रु की ओर होने लगेगी। इस प्रकार क्रम-क्रम से उसका बल कम होता जायगा और फिर केवल पशुबल ही भले उसका साथ दे सके। सो नेता को सबसे अधिक सावधानी इस बात की रखनी चाहिए कि विपक्षी के प्रति अन्याय न हो, परन्तु यदि इतनी उदारता से काम लिया जाय तो सभव है, शत्रु हमारी सज्जनता से लाभ उठाकर हमको चकमा देता रहे—हम तो रहे अपनी सज्जनता मे और वह दिन-दिन प्रबल होता रहे। सो सज्जनता का अर्थ 'अन्धता' नही है। सत्य और न्याय अन्धा नही होता। हाँ, उसके पास पक्षपात नही होता। यही उसकी विशेषता और सबसे बडा गुण है। इसीके कारण सबके हृदय पर इनका राज्य है। और इस आशका से बचने के लिए सरल उपाय यह है कि

आप प्रत्येक मनुष्य के व्यवहार को अच्छी और बुरी दोनो दृष्टियो से देखने की आदत डाल ले, भले ही पहले आप उसके व्यवहार को बुरे भाव मे ग्रहण कर ले। यह सोचिए कि इस बुरे उद्देश्य का मुझ पर बुरे-से-बुरा क्या परिणाम हो सकता है? आवश्यकता पडने पर यहा तक कल्पना कर लीजिये कि इससे आप और आपका सारा काम चौपट हो जायगा। अब इस दुष्परिणाम के लिए अपने मन को, अपने साथियो को तैयार कर रखिए। यह भी सोच लीजिए कि यदि हार ही हो गई, यदि असफलता ही मिली, यदि अन्त तक दुःख और क्लेश में ही जीवन बीता तो परवा नहीं—दुनिया मे हमेशा ही सबको सफलता और विजय नही मिला करती। इससे दो लाभ होंगे—एक तो आप सतर्क हो जायगे और दूसरे विफलता मिलने पर हताश न होंगे। अब यह सोचिए कि इससे बचने का क्या उपाय है? कितनी तैयारी की जरूरत है? कहा-कहा मजबूती रखना जरूरी है? कहा कैसी पेशबन्दी करनी चाहिए? जैसी जरूरत दीखे वैसा प्रबन्ध कर लीजिए।

इसके बाद यह विचार कीजिए कि ऐसे दुर्भाव की कल्पना करके हम उसके साथ अन्याय तो नही कर रहे है? तब यह कल्पना कीजिए कि उसने यह शुभ-भाव से किया होगा। अब अन्दाज लगाइए कि क्या शुभ-भाव हो सकता है? शत्रु, उदासीन और मित्र की स्थिति का विचार करके आप भिन्न-भिन्न निर्णयो पर पहुचेगे। यदि व्यवहार शत्रु का है तो शुभ भाव की आशा कम रखिए। यदि तटस्थ पुरुष का है तो उससे अधिक और मित्र का हो तो उससे भी अधिक रखनी चाहिए। हर दशा मे, बुरे परिणाम की पूरी तैयारी करके, शुभ भाव की ओर झुकता हुआ निर्णय करना अच्छा है। यदि व्यवहार परोक्ष मे हुआ है तो बिलकुल शुद्ध निर्णय कठिन है, इसलिए संशय का लाभ दूसरे को देना सज्जनता और वीरता दोनो है। हा, विपरीत परिणाम की अवस्था मे अपनी तैयारी पूरी रखनी चाहिए—इसमे गफलत न रहे। ऐसा करने से आपकी सत्य-शीलता और न्याय-परायणता को किसी प्रकार आघात न पहुचेगा। इतना ही नहीं, बल्कि उनकी वृद्धि होगी और वृद्धि के साथ-ही-साथ नेता को उनका वर्ध-

मान लाभ भी मिलेगा ।

नेता का हृदय **प्रेम-परिपूर्ण** होने की आवश्यकता इसलिए है कि वह मनुष्य है। मनुष्य प्रेम का पुतला है। वह नेता है इसलिए उसमें प्रेम भी उतना ही अधिक होना चाहिए। प्रेम के जादू से ही अनुयायी उसकी ओर खिचते है—वरवस खिचते चले आते है। सत्य अन्त करण का वल है तो प्रेम हृदय का वल है। सत्य और न्याय हमे कायल कर देता है कि हम उसका साथ दे। परन्तु प्रेम हमे दौड कर उसके पास ले जाता है और खुशी-खुशी वलिवेदी पर स्वाहा करवा देता है। प्रेम के ही कारण नेता समाज के दु ख को अनुभव करता है और उसे मिटाने के लिए व्याकुल रहता है। नेता का प्रेम व्यक्ति, कुटुम्व मे सीमित नही होता। राष्ट्र और समस्त विश्व मे व्याप्त होता है। इस कारण उसके प्रेम का प्रभाव तटस्थ और शत्रु पर भी पडे विना नही रह सकता। वास्तव मे उसकी शत्रुता किसी से नही होती। वह तो वहुतो के दु खो को दूर करने के लिए, वहुतो को सुधारने के लिए, कुछ लोगो को कष्ट पहुचने देता है—उसके वश मे हो तो वह इतना भी कष्ट न पहुचने दे। परन्तु एक तो खुद ही वह अपूर्ण है और दूसरे, सारी प्रकृति पर उसकी सत्ता नही चलती है। विना इस प्रेम के नेता एक मशीन का पुतला है जिससे किसी को जीवन, उत्साह और स्फूर्ति नही मिलती।

यदि नेता मे **साहस और निर्भयता** न हो तो वह खतरे के मौके पर पीछे हट जायगा और वलवान शत्रु हो तो दव जायगा। खतरे के मौके पर नेता को सदा आगे रहने का साहस होना चाहिए। जनता को भी उसे विकट परिस्थितियो मे साहस दिखाने और प्राण तथा शरीर का जहा भय हो वहा वे-खटके आगे कदम वढाने के लिए प्रेरित करना चाहिए। उसे सदा यह ध्यान मे रखकर चलना चाहिए कि मै कोई काम किसी से दवकर, किसी खतरे से डरकर तो नही कर रहा हूँ और यदि कही ऐसा प्रतीत हो तो फौरन अपने को सभालना चाहिए ।

उत्साह नेता का जीवन है। उसका शरीर और मन ऐसा होना

चाहिए जो थकावट को न जानता हो । उत्साह आत्म-विश्वास से उत्पन्न होता है । आत्म-विश्वास अपने कार्य की सत्यता से आता है । जब उत्साह भग होने का अवसर आवे तो उसे सोचना चाहिए कि मेरा कार्य गलत तो नही है । यदि मूलत कार्य सही है तो फिर अनुत्साह या तो उसकी मानसिक दुर्बलता है या किसी शारीरिक रोग का परिणाम है । उसे चिन्ता रखकर इसका उपाय करना चाहिए । उत्साह उस गुण का नाम है जो मनुष्य को सदा सक्रिय और तेज-तर्रार बनाये रखता है । वह जिसकी ओर देखता है उसमें जीवन आने लगता है । वह सोते हुआ को जगा देता है, जागे हुओ को खडा कर देता है और खडे हुओं को दौडा देता है । उत्साह के ही कारण नेता उम्र मे बूढा होने पर भी जवान मालूम होता है ।

दुर्दमनीयता वह गुण है जो बाधाओ और कठिनाइयो को चीर-कर अपना रास्ता निकाल लेता है । दुर्दमनीय यह नही कहता कि क्या करू, परिस्थिति ही ऐसी थी । उचित और सत्य बात पर वह परमेश्वर से भी दबना न चाहेगा । परन्तु यदि वह गलत बात पर अड जायगा तो उसकी अदम्यता अधिक दिनो तक न चलेगी । आवेश, आवेग, क्रोध, उन्माद या मिथ्याभिमान ठडा होने पर अपने आप उसका दिल बैठने लगेगा । उसका तेज कम पडने लगेगा ।

प्रतिज्ञा-पालन के बिना वह अपने साथियो और अनुयायियो का विश्वासपात्र न रहेगा और इस विश्वास-पात्रता के बिना उसका नेतापन एक दिन नही टिक सकता। प्रतिज्ञा करने के पहले वह सौ दफा विचार कर ले, पर कर चुकने पर उसे हर तरह निभावे । यदि कोई ऐसा ही विशेष कारण आ पडा हो तो वह इतना सबल होना चाहिए कि साथियो और अनु-यायियो को भी जच सके । यदि कोई व्यक्तिगत कष्ट या असुविधा उसके मूल मे हो तो यह बहुत कमजोर कारण समझा जायगा ।

निश्चलता, दृढता और धीरज कठिनाइयो, सकटो के समय मे महौषधि का काम देते है । तूफान के समय मे लगर जो सेवा जहाज और

यात्रियो की करता है वही ये गुण विपत्ति और खतरे के समय करते है। चचल मनुष्य यो भी विश्वास और आदर-पात्र नही हो सकता। एक काम को पकड लिया तो फिर उसे जबरदस्त कारण हुए विना न छोडने का नाम है दृढता। काम की शुरुआत करने के पहले खूब सोच लो, शुरू करने के बाद उसी अवस्था मे उसे बदलो या छोडो, जब यह विश्वास हो जाय कि अरे, यह तो अच्छाई के भरोसे बुराई कर बैठे, पुण्य के खयाल से पाप-कार्य में लिप्त हो गये। कठिनाइयो मे न घवराने का नाम धीरज है। फल जल्दी न निकलता हो तो शान्ति रखने और ठहरने का नाम धीरज है। कठिनाइया तब तक आती ही रहेगी जबतक कुछ लोग तुम्हारे विरोधी होगे, फिर प्राकृतिक विघ्न भी तो आते रहते है। दोनो दशाओ मे घवराने की क्या जरूरत है? यदि विघ्न मनुष्य-कृत है तो उनका मूल और उपाय कठिन नही है। यदि प्राकृतिक है और हमारे वस के बाहर है तो फिर घवराने से क्या होगा? वस की बात हो तो उसका उपाय करो—घवराकर बैठ जाना तो पशु से नीचे गिर जाना है। फल तो किसी कार्य का समय पाकर ही निकलता है। जितनी ही हमारी लगन तेज होगी, जितने ही अधिक हमारे साथी और सहायक होगे, जितने ही कम हमारे विरोधी होगे, जितनी ही अधिक हमारी तपस्या होगी जितने ही अधिक अनुकूल अन्य उपकरण होगे, उतनी ही जल्दी सफलता मिलेगी। सो यदि फल वाछित समय तक न निकलता हो तो पूर्वोक्त बातो मे से ही एक या अधिक बातो की कमी उसका कारण होगी। वह हमे शोधना चाहिए और यह विश्वास रखना चाहिए कि कार्य का फल अवश्य मिलता है।

सहनशीलता, विपक्षियो को नि शस्त्र करने मे और अपने बडप्पन का प्रमाण जगत् को देने के लिए बहुत आवश्यक है। जब कोई हम पर वार करता है या हमे कष्ट पहुचाता है तब हम यदि बदले मे उस पर वार नही करते है या उसे कष्ट नही पहुचाते है, उस कष्ट या वार को शान्ति से पी जाते है तो उसे सहनशीलता कहते है, परन्तु यदि हमने डरकर या दबकर ऐसा किया तो वह सहनशीलता नही, दब्बूपन है। सहनशीलता तभी कही

जायगी जब उसे कष्ट पहुचाने या प्रहार करने का सामर्थ्य या साधन हमारे पास हो और फिर हम सहन कर जाय। किसी के अपराध को सहन करने के बाद भूल जाना क्षमा कहलाती है और जब हम उसके साथ पूर्ववत् ही सज्जनता का व्यवहार करते है तब वह उदारता हो जाती है। सहनशीलता और उदारता की जितनी आवश्यकता अपने लोगो के लिए है उससे अधिक तटस्थो या विपक्षियो के लिए है, क्योकि अपनो की ओर तो इन गुणो का प्रवाह सहज ही होता है, परन्तु जब दूसरो की ओर हो तब उनकी विशेषता और मूल्य बढ जाता है। लोग जितना ही अधिक यह अनुभव करेगे कि तुम अपने प्रतिपक्षी से अधिक न्यायी, अधिक शान्तिमय, अधिक नीतिमान, अधिक सभ्य, अधिक सज्जन हो, उतना ही तुम्हारा पक्ष अधिक प्रबल होगा, उतनी ही तुम्हारी अधिक सहायता वे करेगे और यह सहनशीलता और उदारता के ही बल पर हो सकता है।

गम्भीरता एव स्थिर और शान्त-चित्तता से नेता का ठोसपन और मानसिक समतोलता सूचित होती है। गम्भीरता का मतलब कपटा-चरण नही है, बल्कि किसी की बात को पेट मे रखने, उसके सब पहलुओ पर धीरज के साथ विचार करने की शक्ति है। यदि आपके साथियो और अनुयायियो को यह शका रहती है कि आपके मन मे बात समाती नही है, आप चटपट ही बिना आगा-पीछा सोचे और गहरा विचार किये ही कुछ कह डालते और कर डालते है तो आपके निर्णयो पर उनकी श्रद्धा नही बैठेगी और आपकी बातो को वे शका की दृष्टि से देखते और दुविधा मे पडते रहेगे।

आशावादिता और नि शकता अन्त करण की स्वच्छता का चिन्ह है। जिसका हृदय मलिन नही है, उसे अपने कार्य की सफलता पर अवश्य ही श्रद्धा रहेगी और दूसरो की ओर से उसे सहसा खटका न रहेगा। जिसका चित्त शुद्ध है, वह दूसरो की सत्प्रवृत्तियो को ही अधिक देखता है और इसलिए आशावान् तथा नि शक रहता है। जिसे दूसरो की दुष्प्रवृत्तिया

अधिक दिखाई देती है वह निराशावादी क्यो न होगा ? परन्तु दूसरे के दोषो को देखनेवाला नायक नही बन सकता। जो खुद ही आशा-निराशा से पद-पद पर चलित होता रहता है उससे दूसरे आशा का सन्देश कैसे पा सकते है ?

व्यसनो मे फसना इन्द्रियो के अधीन होना है। जो इन्द्रियो का गुलाम है, समझ लीजिए, उसे दूसरो से अपने साथियो या अनुयायियो से एव विरोधियो से भी कही-न-कही अनुचित रूप से दब जाना पडेगा और विरोधी तो उसके इस ऐब से जरूर बहुत फायदा उठा सकता है एव उसे पछाड सकता है।

ये तो हुए नेता के आवश्यक नैतिक गुण। बौद्धिक गुणो मे दूर-दर्शिता इसलिए आवश्यक है कि वह अपने साथियो और अनुयायियो को दूर के खतरो से बचाता और सावधान करता रहे। प्रसगावधान इसलिए उपयोगी है कि कठिन समय पर, विषम परिस्थिति मे, ठीक निर्णय कर सके। शीघ्रनिर्णयता के अभाव मे 'समय निकल जाने पर' पछताना पडता है। जो निर्णय करने मे मन्द तथा आलसी है उसका प्रभाव अपने तेज-तर्रार सैनिको पर नही पड सकता और उसे खुद भी सदा आनन्द और उत्साह की प्रेरणाए नही होती, बल्कि यो कहना चाहिए कि हृदय के सर्वदा सजीव और जाग्रत तथा उत्साहयुक्त रहने से ही शीघ्र निर्णय-शक्ति मनुष्य मे आती है। जो सदा प्रसन्न और जागरूक रहता है उसकी बुद्धि खाडे की धार की तरह दोनो तरफ के तर्कों और विचारो को काटती हुई खट् से निर्णय कर देती है। विवेकशीलता के मानी है सदा सार और असार का, लाभ और हानि का, कर्तव्य और अकर्तव्य का, औचित्य और अनौचित्य का विचार करते रहना, अपनी मर्यादाओ एव देश, काल, पात्र का विचार रखना। जो इतना विवेकी और विचारशील नही है, वह पद-पद पर सकटो, निराशाओ और असफलताओ से घिरा रहता है। शीघ्र निर्णय तो हो, पर हो वह विवेकपूर्वक। विवेक की मात्रा जितनी अधिक

होगी, निर्णय भी उतना ही शीघ्र और शुद्ध होगा। आज्ञादायित्व के बिना तो नेता का काम एक मिनट नहीं चल सकता। उसे दूसरा से काम कराना पड़ता है और सो भी बहुभाग में आज्ञा देकर ही। इसमे वही सफल हो सकता है जो आज्ञा-पालन के महत्व को जानता हो, जो स्वय स्वेच्छा से दूसरो की आज्ञा मे रह चुका हो। यदि हमने कोई आज्ञा दी और पालन करनेवाले के सिर पर वह एक बोझ बनकर बैठ गई तो उसमे न लाभ है, न लुत्फ। नेता की आज्ञा और अनुयायी की इच्छा, दोनो घुल-मिल जानी चाहिए। अनुयायी की भाषा में यह आज्ञा भले ही हो, नेता के स्वभाव में वह प्रेम का सन्देश हो जाना चाहिए। अनुयायी की स्थिति, शक्ति, योग्यता का सतत विचार करते रहने से ही ऐसी मानसिक स्निग्धता आ जाती है कि नेता का इंगित, तृषित अनुयायी के लिए, पानी की बूद हो जाता है। ऐसे स्नेह-मय सम्बन्ध के बिना आज्ञा-दायित्व 'फौजी कानून' का दूसरा नाम हो जाता है और केवल पेट-पालू ही, यन्त्र की तरह, उसका किसी तरह पालन कर देते है। नेतृत्व की सफलता के लिए यह स्थिति बिलकुल हानिकर है।

शारीरिक और व्यावहारिक गुणो के लाभ स्पष्ट है। ये बौद्धिक और नैतिक गुणो से उत्पन्न होने या बननेवाली प्रवृत्तिया अथवा आचार है। **नियमनिष्ठा** सत्यशीलता का एक उप-गुण है और सुव्यवस्थित रहने और रखने के लिए बहुत उपयोगी है। प्रकृति में नियम और व्यवस्था है। नियमित जीवन मे सुव्यवस्थितता आती है। बाहरी अव्यवस्था जरूर ही किसी अन्दरूनी बिगाड की सूचक है। ऐसे लोग भी पाये जाते है जो अन्दर से बिलकुल अच्छे किन्तु बाहरी बातो मे उदासीन होते है। लेकिन उनमे और अनियमित या अव्यवस्थित आदमी मे भेद होता है। उनकी उदासीनता बाह्य बातो मे विरक्ति का फल है। वह उनके जीवन में हर जगह दिखाई देगी। परन्तु अव्यवस्थितता और अनियमितता मानसिक दुर्बलता का चिह्न है और दोष है। **कष्ट-सहिष्णुता** साहस का परिणाम है। जिनके शरीर को कष्ट उठाने का अभ्यास नही है वह साहस से जी चुराने लगेगा और

अन्त को कायर बन जायगा। **आरोग्यता-फुरतीलापन** नियम-पूर्ण जीवन से आता है और शरीर को कार्यक्षम बनाये रखने के लिए अनिवार्य है। बीमार और सुस्त नेता अपने साथियो और अनुयायियो के सिर पर एक बोझ हो जाता है। **मिलनसारी** और **हरदिल-अजीजी** प्रेममय जीवन और सहनशीलता से बननेवाला स्वभाव है। जिसने अपने हृदय को मधुर बना लिया है, उसकी तमाम कटुता, तीखापन और मलिनता निकाल दी है वह मिलनसार, और जिसने दूसरो के लिए अपनी घिसाई-पिसाई को जीवन का धर्म बना लिया है वह हरदिलअजीज क्यो न होगा ? इनके बिना दूसरो के हृदय को जीतने का अवसर नेता को नही मिल सकता। **भाईचारापन** मिलनसारी और कौटुम्बिकता का दूसरा नाम है। भ्रातृ-भाव मे समान और स्नेहपूर्ण व्यवहार तथा कौटुम्बिकता मे समान-स्वार्थ की भावना है। यह नेता की विशाल-हृदयता का सूचक है। इस भावना के कारण नेता किसी को अपना शत्रु नही समझ सकता और वह अजेय हो जाता है। **कुशलता** सत्य और अहिंसा के सम्मिश्रण से पैदा होती है। तेज के साथ जब हृदय की मिठास मिलती है तो जीवन मे कुशलता अपने-आप आने लगती है। कोरा सत्य-व्यवहार उद्दण्डता मे परिणत हो सकता है। अहिसा की मिठास उसको मर्यादा मे रखती और रुचिकर बना देती है। प्रसग को देखकर बरतने, निश्चित प्रभाव डालने और इच्छित परिणाम निकालने के यत्न का नाम कौशल है। यह चित्त की समता से प्राप्त होता है। **सभा-चातुरी** कुशलता का ही एक अग है। जिसे समाज के शिष्टाचारो का ज्ञान नही है, जिसे मानसिक जगत् के व्यापारो से परिचय नही है, वह सभा-चतुर नही हो सकता। और जिसे समाज की भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियो, रुचियो और विचारो के लोगो से काम लेना है, सामूहिक रूप मे काम करना और कराना है, उसमे सभा-चातुरी का गुण बहुत आवश्यक है।

३ : नेता के साधन

सयोजक और कार्यकर्ता या स्वयसेवक तो नेता के साथी हुए, उनके गुण उसकी मूल सम्पत्ति हुई। उसका व्यावहारिक ज्ञान, धन और समाचार-पत्र उसकी सफलता के जबरदस्त साधन है। जनता को ज्ञान-दान करने के लिए उसे विद्वत्ता की और उत्थान-सामग्री देने के लिए भावुकता की आवश्यकता है। उसमे मौलिकता भी होनी चाहिए। हम मानते है, 'सत्य ज्ञान-मनन्तम्'—अर्थात् यह जगत् सत्यमय है, ज्ञानमय है, ब्रह्ममय है। ऐसी दशा मे इस ज्ञान से बढकर मौलिकता और क्या होगी ? पर सत्य, ज्ञान, ब्रह्म, या आत्मा के समस्त स्वरूपो को, अगो को, सम्पूर्ण प्रकाश को समय की आवश्यकता के अनुसार समाज के सामने रखने मे अवश्य मौलिकता आती है। महात्मा गाधी का ही उदाहरण लीजिए। अहिंसा का सिद्धात आर्य-जीवन मे कोई नई बात नही है, किन्तु उन्होने उसे सर्वसाधारण राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन मे प्रविष्ट करके एक नई ज्योति ससार को दी थी।

पर यह मौलिकता केवल अध्ययन से नही आ सकती। मनन उसका मुख्य आधार है। अध्ययन मनन के लिए किया जाता है। अध्ययन से ज्ञान मे व्यापकता आती है, किन्तु मनन ज्ञान मे व्यक्तित्व लाता है। अध्ययन और मनन की पूर्णता की कसौटी यह है कि उस विषय मे हम बिना किसी से पूछे स्वय निश्चित राय और निर्णय दे सके और बिना किसी ग्रन्थ या गुरु के वचनो के प्रमाण के स्वत अपने बल पर अपने मत को प्रतिपादित और सिद्ध कर सके। इतनी पूर्णता के बाद ही ज्ञान मे नवीनता या मौलिकता आ सकती है।

अपनी मानसिक अवस्था से जगत् की मानसिक अवस्था की सतत तुलना करते रहने से ही व्यावहारिक ज्ञान आता है। अपना और जगत् का—समाज का—समन्वय ही व्यावहारिकता है। नेता को इतनी बातो का व्यावहारिक ज्ञान अवश्य होना चाहिए

(१) समाज को कहा ले जाना है ?

(२) समाज की वर्तमान दशा क्या है ?

(३) कौन-कौन से पुरुष या सस्था समाज को प्रभावित कर रहे है ?

(४) उनसे मेरा सम्बन्ध या उनके प्रति मेरा रुख क्या होना चाहिए ?

(५) कौन लोग मेरे विचार या कार्यक्रम के विरुद्ध है ?

(६) उन्हे मै अपने अनुकूल किस तरह बना सकता हू ?

(७) जो अनुकूल है उनसे किस-किस प्रकार से सहायता ली जाय ?

(८) सर्व-साधारण शिक्षा और सस्कार की किस सतह पर है ?

(९) समाज के सूत्र जिनके हाथो में है उनका समाज पर कितना और कैसा प्रभाव है ?

(१०) मेरे प्रति या मेरे विचारो के प्रति उनके क्या भाव है ?

(११) किस हद तक उनका विरोध करना होगा ?

(१२) विरोध मे जनता कहा तक सहायक होगी ?

(१३) जनता को विरोध के लिए कैसे तैयार किया जाय ?

(१४) वे कौन-सी बाते है जिनसे जनता को कष्ट है और जिनके कारण जनता उनसे दुखी या अप्रसन्न है ?

(१५) विरोधी प्रबल हुए तो सकट-काल मे क्या-क्या करना उचित है ?

(१६) उस समय जनता क्या करे ?

(१७) दूसरे समाज या देश के कोन लोग या सस्थाए मेरे उद्देश्य से सहानुभूति रखती है ?

(१८) उनका मेरे समाज या राज्य से क्या और कैसा सम्बन्ध है ?

(१९) मेरे उद्देश्य या कार्यक्रम के पोषक पूर्ववर्ती ग्रन्थ, व्यक्ति कौन-कौन है और युक्तिया क्या-क्या है ?

(२०) समाज मे प्रचलित धर्म, सस्कृति, परपरा और रूढिया क्या-क्या है, लोगो की मनोभावनाए कैसी है—वे भावुक है, ठोस है, बहादुर है, पोच है ? उनके त्योहार और मान्यताए क्या-क्या है ?

(२१) उनके दोष और दुर्व्यसन क्या-क्या है ? आदि-आदि ।

धन भी नेता का एक साधन जरूर है, पर मानसिक और नैतिक साधन-सम्पत्ति तथा विश्वासी साथियो के मुकाबले मे यह बहुत गौण है। फिर भी उसके ऐसे धनी मित्र जरूर हो, जो समय-समय पर उसके अर्थभार को घटाते रहे, किन्तु उसके धन का असली जरिया तो जनता का हृदय ही होना चाहिए। अधिकारियो में भी उससे मित्रता और सहानुभूति रखने वाले कई लोग होने चाहिए। ये उसके चरित्र की उच्चता से ही मिल सकते है। चरित्र में मुख्यत तीन बाते आती है (१) बात की सफाई, (२) गाठ की (धन की) सचाई और (३) लगोट की सचाई।

उद्देश्य तो नेता का महान् और जन-हितकारी होता ही है। स्वभाव भी उसका मधुर और प्रकृति मिलनसार होनी चाहिए। सच्चाई, अच्छाई और गुण के प्रति प्रीति और अत्याचार, अन्याय, झुठाई, बुराई के प्रति मन में तिरस्कार और प्रतिकार का भाव होना चाहिए। पहला गुण उसे भले आदमियो का मित्र बनावेगा और दूसरा बुरो को मर्यादित तथा हतबल। संकट का अवसर हो तो पहले सबसे आगे होने की और यश तथा पुरस्कार का प्रसग हो तो पीछे रहने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। आत्म-विज्ञापन उतना ही होने दे, जितना कि उद्देश्य-सिद्धि के लिए आवश्यक है। सदा अपने हृदय पर चौकी बिठा रक्खे कि अपनी निजी प्रशसा या बडाई का भाव तो आत्म-विज्ञापन की प्रेरणा नही कर रहा है।

४ : पत्र-व्यवसाय

समाचार-पत्र यो तो साहित्य-जीवन का एक अग है। साहित्य का जीवन में वही स्थान और काम है जो मनुष्य-शरीर मे दिल और दिमाग का होता है। साहित्य न केवल ज्ञान-सामग्री ही समाज को देता है, बल्कि हृदय-बल भी देता है। मनुष्य के मन मे एक बात पैदा होती है वह उसे लिख कर या कहकर प्रकट करता है। उसका भाव या विचार अक्षर-बद्ध कर लिया जाता है, यही साहित्य है। ससार मे जो कुछ वाक्मय—वाङ्मय—है वह सब साहित्य है। इसमे आध्यात्मिक ज्ञान देनेवाले वेद, दर्शन, उपनिषद्

भी है, भौतिक और लौकिक ज्ञान देनेवाले विज्ञान तथा आचार-शास्त्र भी है और हृदय को उत्साहित, आनदित, रमणीय एव बलिष्ठ बनानेवाले काव्य-नाटकादि भी है। इस तरह सार्वजनिक जीवन के बहुत बडे आधार सामयिक पत्र-पत्रिकाए भी साहित्य के ही अन्तर्गत हैं। साहित्य के बिना जीवन यदि असभव नही तो सस्कारहीन और निर्जीव होकर रहेगा। यदि साहित्य न हो तो मानव-शिक्षा और सुधार कठिन हो जाय। साहित्य जीवन का केवल पथ-प्रदर्शक और उत्साही साथी ही नही, बल्कि उसकी आखे भी है। साहित्य समाज का प्रतिर्बिब भी होता है। जो कुछ हमारे जीवन और समाज मे होता है उसे हम साहित्य के द्वारा ही देख सकते है। प्राचीन जीवन को हम इतिहास-साहित्य के द्वारा देखते और लाभ उठाते है एव वर्तमान जीवन को सामयिक पत्रो के द्वारा बनाते है।

इस कारण पत्र-व्यवसाय भी नेता के कार्य का एक वृहत् अग हो गया है। आधुनिक जगत् मे समाचार-पत्र एक महती शक्ति है। वह जन-समुदाय की बलवती वाणी है। अपने विचारो, भावो को जन-समुदाय तक पहुचाने के वाहन है। लोकमत को जाग्रत करने के साधन है। जन-शक्ति के प्रतिकार-अस्त्र है। इनका उपयोग, प्रयोग या व्यवहार करना साधारण बात नही है। जो चीज जितनी ही प्रभावशालिनी होगी उसका उपयोग उतना ही जिम्मेदारी और सोच-समझ के साथ करना होगा। यदि किसी बात का असर सैकडो लोगो पर पडनेवाला हो तो उसका उपयोग करने के पहले पत्रकार को बीस दफा उसके एक-एक अक्षर पर विचार करना होगा। आजकल पत्र-व्यवसाय बहुत मामूली धन्धा बन गया है। जिसे और कोई काम न मिला, उसने झट एक अखबार निकाल लिया— ऐसी कुछ दशा हो रही है। या जरा चटपटा लिखने की कला सध गई, किसी की धूल उडाने की जी मे आ गई, किसी से झगडा हुआ और विरोध करने को तबियत चाही और अखबार निकाल दिया। ऐसी हलकी हालत असल मे पत्र-व्यवसाय की न होनी चाहिए। यह स्थिति समाज की समझदारी के प्रति कोई ऊचा खयाल नही बनने दे सकती। वास्तव मे पत्र-व्यवसाय

उन्ही लोगो के हाथो मे होना चाहिए, जो बहुत दूरदर्शी, प्रभावशाली, अनुभवी, विश्वसनीय, विचारक, आदर्श-चरित्र और विवेकशील हो ।

पत्र-व्यवसाय में सपादक मुख्य है । यह काम या तो नेता स्वय करता है, या उसका कोई विश्वस्त साथी । पत्र-व्यवसाय दो भागो मे बट जाता है है—एक तो दैनिक और साप्ताहिक पत्र, दूसरे मासिक और त्रैमासिक पत्र—या यो कहे कि एक तो समाचार-पत्र और दूसरे विचार-पत्र । दोनो के सपादक भिन्न-भिन्न श्रेणी के होते है । पहले प्रकार का सपादक प्रधानत आन्दोलनकारी होता है और दूसरे प्रकार का विचार-प्रेरक । सामाजिक पत्रकार समस्याओ को सुलझाता है, दूरवर्ती परिणाम निकालने वाली घटनाओ की विवेचना करता है, विचार-जगत् मे काम करता है, तहा समाचार-पत्रकार प्रत्यक्ष या कार्य-जगत् में काम करता है, घटनाओं का सग्रह करता है और उन्हे अपने प्रभाव के साथ जनता तक पहुचाता है । समाचार-पत्रकार जो सामग्री उपस्थित करता है उसके दूरवर्ती परिणामो और तत्वो की छान-बीन सामयिक पत्रकार करता है । या यो कहे कि सामयिक पत्रकार जिन बीजो को विचार-जगत् मे बोता है उन्हे समाचार-पत्रकार कार्य-जगत् मे पल्लवित, पुष्पित और फुल्लित करता है । समाचार-पत्र की दृष्टि आज पर रहती है और सामयिक पत्र की कल पर। एक योद्धा है और दूसरा विचारक । एक क्षत्रिय है, दूसरा ब्राह्मण । एक में शक्ति है, दूसरे मे शान्ति । चूकि दोनो के क्षेत्र और कर्तव्य भिन्न है इसलिए दोनो की योजना भी भिन्न-भिन्न होनी चाहिए । एक कर्म-प्रधान और दूसरा विचार-प्रधान होना चाहिए। दोनो दशाओ में सम्पादक उच्च कोटि का होना चाहिए, क्योकि हजारो के जीवन के सुख-दु ख की जोखिम उसके हाथ मे है । लेखक के गुणो के साथ-साथ सम्पादक मे प्रचारक के गुण भी होने चाहिए । उसमें ऊचे दर्जे के मानसिक, नैतिक और बौद्धिक गुण होने चाहिए । नेता में और सम्पादक मे इतना ही अन्तर है कि नेता कार्यो मे प्रत्यक्ष पडकर जनता को अपने साथ ले जाता है और सम्पादक केवल पत्र-द्वारा उन्हे प्रेरित और जाग्रत करता है । आजकल की आवश्यकताए ऐसी है कि नेता प्राय सम्पादक होना

है। जिसके पास पत्र नही वह सफल नेता नही हो सकता। इसका यह अर्थ नही है कि सभी सम्पादको मे नेता की योग्यता होती है, परन्तु नेता में सम्पादक की योग्यता अवश्य होनी चाहिए।

सम्पादक के पास एक अच्छा पुस्तकालय और एक अच्छा विद्वानो और प्रभावशाली लोगो का मित्र-मण्डल होना चाहिए। समाचार लाने वाले स्थानिक तथा प्रान्तीय कई सवाददाता होने चाहिए। ये उसकी आखें है। इसलिए ये वहुत जचे हुए आदमी होने चाहिए। प्रभावशाली सम्पादक के पास अपना निजी प्रेस होना वहुत आवश्यक है। कम-से-कम एक साथी ऐसा जरूर हो जिसके भरोसे वह बाहर जा-आ सके। एक ऐसा विश्वसनीय साथी भी हो जो प्रवन्ध-विभाग की ओर से सम्पादक को निश्चिन्त रखता रहे।

लेखन-शैली स्पष्ट, ओजस्विनी और तीर की तरह सीधी, दिल की सतह तक पहुचनेवाली हो। कैसा भी क्षोभ और घवराहट का समय हो उसे शान्त और एकाग्र चित्त से लेख लिखने का अभ्यास होना चाहिए। लेख और टिप्पणी के विषयो को महत्त्व के अनुसार छाटने की त्वरित-शक्ति उसमे होनी चाहिए। थोडे मे उनकी मुख्य-मुख्य वाते अपने साथियो को समझा देने की योग्यता होनी चाहिए। शीघ्र निर्णय का गुण सम्पादक मे होना चाहिए। एक सरसरी निगाह मे सवकुछ देख लेने का अभ्यास होना चाहिए। सम्पादक अपने दफ्तर मे आख खोलकर आता है और अपने कमरे मे एक ऐंजिन की तरह वैठता है।

दफ्तर मे दो आदमियो से उसका काम विशेष पडता है—व्यवस्थापक और उप सपादक। इन दोनो के सुयोग्य होने से सपादक का वोझ वहुत कम हो जाता है। वडे सौभाग्य से ही ये दो व्यक्ति सम्पादको को मिला करते है। इन्हीके द्वारा वह सारे दफ्तर और पत्र के तमाम कामो का सचा-लन करता है।

ताजे अखवार सपादक का जीवन है। दफ्तर मे आते ही सपादक सवसे पहले डाक और ताजे अखवार पर हाथ डालता है। खास-खास

लेख, पत्र मपादक खुद अपने हाथो मे लिखता है। मपादक रोज चाहे अपने दफ्तर की छोटी-छोटी वातो को न देखे, परन्तु उमे हर छोटी-से-छोटी वात का स्वय ज्ञान और अनुभव होना चाहिए। छोटी वातो की उपेक्षा तो वह हरगिज न करे। आलस्य और गफलत ये दोनो मपादक के शत्रु है। वह फुर्तीला हो, पर लापरवाह नही, वेगार काटने की आदत विल्कुल न हो। उसे सदैव स्मरण रखना चाहिए कि उसके सारे गुण-दोपो का असर अकेले दफ्तर पर ही नही, उसके सारे पाठकवर्ग पर पडता है। इसलिए उसे अपने आचार-विचार के वारे मे सदा जागरूक और सदा सावधान रहना चाहिए। वह खुद जैसा होगा वैसा उसका पत्र, उसका दफ्तर और अन्त मे उसके पाठक होगे। इसलिए मपादक के लिए यह परमावश्यक है कि वह सदा अपने आदर्शो से अपनी तुलना करता रहे और उस तक पहुचने का प्रयत्न वडी तत्परता से करे। जितना ही वह ऐसा करेगा उतना ही अपने पाठको—अपने समाज—को उस तरफ ले जा सकेगा। हम निश्चय रखें कि हमारी कृति हमसे वढकर नही हो सकती। हम विश्वास रखें कि हमसे वढकर योग्य पुरुप सहसा हमारे पास नही टिकेगा। इसलिए अपनी योग्यता वढाने की चिन्ता सदैव सपादक को रखनी चाहिए। उसका यह स्वभाव ही वन जाना चाहिए कि इस नये आदमी के मुकावले मे मुझमे किन-किन वातो की कमी है। अपनी कमी को उसे प्रसगानुसार स्वीकार भी करते रहना चाहिए। इससे उसमें वृथा अभिमान भी न पैदा होगा और उससे अधिक योग्य साथी उससे सच्चा प्रेम रखेंगे। मिथ्या-भिमानी पुरुप योग्य साथियो को खो देता है।

सपादक रोज अपने दफ्तर के सव कर्मचारियो से चाहे मिले नही, पर किसीको कोई कष्ट तो नही है, किसी के यहा कोई वीमार तो नही है, इसकी जानकारी उसे अवश्य रखनी चाहिए और ऐसे अवसरो पर विना उनके चाहे भी उसकी प्रकृत सहानुभूति उनपर प्रकट होनी चाहिए।

सम्पादक को चाहिए कि जो कुछ लिखे परिश्रम करके, सोच-समझकर

लिखे । ऊट-पटाग या अनुपयोगी कुछ न लिखे। उसके ज्ञान मे यदि मौलिकता न हो तो उसके प्रतिपादन और विवेचन मे अवश्य उसके व्यक्तित्व की छाप होनी चाहिए। कुछ-न-कुछ चमत्कार या विलक्षणता होनी चाहिए। किसी की लेखन-शैली या भाषा-प्रणाली का अनुकरण करने की अपेक्षा उसे अपनी विशेषता का परिचय देना चाहिए। वह अपने विषय में डूब जाय—उसे आत्मसात् कर ले । फिर हृदय मे जैसा स्फुरण हो वैसा लिख डाले। उसमे जरूर विशेषता होगी—अपनापन होगा। मन मे मन्थन होते-होते एक बात दिल मे उठी । जिस जोर के साथ वह पैदा हुई, जिस सचाई के साथ आप के दिल मे वह रम रही, जिस गहराई के साथ वह जड पकडे हुए है उसीके साथ आप लिख दीजिए—आपका लेख प्रभावशाली होगा, उसमे ओज होगा, उसमे चमत्कार होगा। यदि चीज पूरे बल के साथ आपके हृदय की तह से निकली है तो वह जरूर दूसरे के दिल पर चोट कर देगी। बस, आप सफल लेखक हुए। जिन-जिन कारणो से आप अपने निष्कर्ष पर पहुच है उन्हे भी आप लोगो को समझाने के लिए लिख दीजिए—आपका लेख युक्तिसगत होगा । क्यो, आप उस लेख या पुस्तक को लिखे बिना और समाज मे उसे उपस्थित किये बिना रह नही सकते—यह आप लोगो को समझाएँ, आपके लेख या पुस्तक को वे चाव से पढेगे। आपको यह भी सोचना होगा कि भाषा कैसी हो। यदि लेख सर्व-साधारण के लिए है तो भाषा बहुत सरल, सुबोध लिखनी होगी। लेख लिखकर आप अपने घर की स्त्रियो को पढ सुनाइए—उनकी समझ मे आ जाय तो अपनी भाषा को सरल समझ लीजिए। एक-एक बात खोलकर समझानी होगी। ठेठ तह तक पाठक को पहुचा देना होगा। यह आप तभी कर सकेगे जब आप खुद उस चीज को अच्छी तरह समझे हुए होगे। छोटे-छोटे वाक्य और बोल-चाल के शब्द होगे। क्लिष्ट शब्दो और लम्बे-लम्बे वाक्यो का प्रयोग एव उलझी हुई भाषा लिखना आसान है। सरल शब्द, छोटे वाक्य और सुलझी हुई स्पष्ट भाषा लिखना बहुत कठिन है। भाषा मे यह गुण चिन्तन-मनन से आता है। जब कोई चीज हमारी आखो के सामने

हो तो उसका सीधा-सादा वर्णन करना आसान होता है। इसी तरह जब किसी विषय का सारा चित्र हमारे मन की आँखो के सामने खिचा रहे तो उसका परिचय पाठको को बहुत सरलता से कराया जा सकता है, पर यह तभी सभव है जब उस विषय पर इतना आधिपत्य कर लिया हो कि विषय का ध्यान आते ही उसकी तस्वीर सामने खडी हो जाय।

यदि श्रेणी विशेष के लिए लिखना हो तो भाषा उनकी योग्यता के अनुरूप होनी चाहिए। फिर गहन और शास्त्रीय विषय की भाषा में थोडी-बहुत क्लिष्टता आ ही जाती है। पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है, किन्तु आमतौर पर भाषा में तीन गुण होने चाहिए—सरलता, सुन्दरता, सक्षिप्तता। सरलता का अर्थ ऊपर आ चुका है। सुन्दरता का अर्थ है रोचकता और प्रभावोत्पादकता। भाषा ऐसी मनोहर हो कि हृदय में बैठती चली जाय। भाषा हमारे अन्त करण का प्रतिबिंब है। दूसरे से हमारे हृदय को मिलानेवाला साधन है। अतएव भाषा को मनोहर बनाने के लिए अन्त करण को मनोहर और रुचिकर बनाना चाहिए। हृदय जितना ही सुरुचिपूर्ण, सुसस्कृत, मधुर होगा उतनी ही भाषा मनोहर होगी। सुन्दरता का अर्थ कोरे शब्दालकार नही, वागाडम्बर नही। सच्चे हृदय की व्याकुल वाणी मे असर होता है। शब्द-सौन्दर्य की अपेक्षा भाव-सौन्दर्य पर मुख्य ध्यान देना चाहिए। भाव भाषा को अपने-आप चुन लेते है और अपने साचे में ढाल लेते है। भाषा पर अधिकार पाने के लिए सब से जरूरी बात है शब्दो, मुहावरो, लोकोक्तियो का सग्रह। यह अच्छे-अच्छे लेखको की रचनाओ को पढते रहने से होता है। एक ही अर्थ के कई शब्दो की ध्वनियो को अच्छी तरह समझना चाहिए। पुनरुक्ति से भाषा को बचाना चाहिए। ग्राम्य शब्दो का प्रयोग बिना आवश्यकता के न करना चाहिए।

सक्षिप्तता का अर्थ यह है कि काम की और आवश्यक बाते ही लिखी जाय। सक्षिप्त भाषा वह है जिसमे से न एक शब्द निकाला जा सके, न जोडने की आवश्यकता रहे। लिखते समय मुख्य और गौण बात

का भेद सदैव करते रहना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि यह बात यदि न लिखी जाय तो क्या काम अड जायगा ? अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें ही लिखी जाय। साधारण बाते तभी लिखी जाय जब वे महत्त्वपूर्ण बातों की पुष्टि के लिए आवश्यक हो। बात जो लिखी जाय वह सच्ची हो। क्रोध में कोई बात न लिखनी चाहिए। क्रोधावेश मे जितना लिखा गया हो उसे बेरहम बनकर काट देना चाहिए। क्रोध या द्वेषवश लिखी गई भाषा यदि सुन्दर बन गई हो तो भी वह अभीष्ट परिणाम न पैदा करेगी। वह पाठक के मन में क्रोध और द्वेप पैदा करेगी। भाषा का यह गुण है कि आप जिस भाव से लिखेंगे वही वह पाठक के मन मे पैदा करेगी। जो भाषा हमारे हृदय के भाव दूसरे के हृदय मे तद्वत् जाग्रत कर देती है उसे प्रभावशालिनी कहते है। लेखक जितना ही समर्थ होगा उतना ही उसकी भाषा मे प्रभाव होगा। क्रोध, द्वेष, असूया ये मानव-हृदय के दुर्विकार है और इन से लेखक या पाठक किसी का लाभ नही है। अपने हृदय की बुराई सैकड़ों-हजारो घरो मे पहुचाना साहित्य और समाज की घोर असेवा करना है। इसलिए लेखक को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके भाव समाज का कल्याण करनेवाले हो। उत्साह और प्रसन्न-चित्त होकर निर्विकार भाव से लिखने बैठेगे तो भाषा साधु, सजीव और प्रभावोत्पादक होगी। हम जैसे होगे वैसी ही हमारी भाषा होगी। इसलिए भाषा-सौन्दर्य के बाह्य साधनो की अपेक्षा लेखक को अपने आन्तरिक सौन्दर्य की वृद्धि का ही सदा ध्यान रखना चाहिए।

लेख मे सरलता और सक्षिप्तता लाने के लिए दिमाग मे हर चीज के टुकडे-टुकडे करके देखने का गुण होना चाहिए। इससे विषय का असली स्वरूप और महत्त्व समझ मे आ जाता है और गेहूं मे से भूसी को अलग करना आसान हो जाता है। आप अपने मतलब की बाते चुनकर ठीक सिलसिले से रख दीजिए। आपका लेख सक्षिप्त रहेगा और सरल भी बन जायगा। जैसे एक डाक्टर शरीर को चीरकर हरएक रगोरेशे को देख लेता है उसी तरह सम्पादक को अपने विषय की एक-एक नस देख लेनी चाहिए।

सम्पादकों को चाहिए कि वे अपने को जनता का सेवक समझें। सम्पादक यों तो सुधारक होता है, परन्तु सुधारक की भावना में अहम्मन्यता बढ़ सकती है। अहम्मन्यता में मनुष्य उच्छृंखल बन जाता है और फिर अन्याय और अत्याचार तक करते हुए नहीं हिचकता। सेवक में नम्रता होनी है। जनता के पथ-दर्शक होने की योग्यता होते हुए भी जब वह उसके सेवक के रूप में रहता है तब उस पर यह जिम्मेदारी रहती है कि वह अपनी सेवा का अच्छा हिसाब जनता को दे। जनता को अपनी बात समझाने का भार उस पर रहता है। इस कारण वह स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। उसे सर्वदा जनता के हित का ही विचार करना पड़ेगा। जिसका हित-साधन उसे करना है उसकी राय भी उसे लेनी पड़ेगी। इस तरह अपने को सेवक माननेवाले पर लोक-मत का अंकुश रहता है जो कि दोनों के हित के लिए उपयोगी है।

सुधार या परोपकार का भाव है तो अच्छा ही, परन्तु सेवा का भाव इससे अधिक निर्दोष और सात्त्विक है। दूसरे की सेवा की अपेक्षा आत्म-विकास की भावना और भी निरापद एवं उच्च है। सेवा में फिर भी दूसरे का भला करने का 'अहं' भाव छिपा हुआ है, किन्तु आत्म-विकास में वह नहीं रह जाता। मैं जो कुछ करता हूँ अपनी आत्मा के विकास या कल्याण के लिए करता हूँ, यह भावना मनुष्य को मान-बड़ाई आदि बहुत से गड्ढों और खाइयों में गिरने से बचा लेती है। उसके लिए समाज-सेवा, देश-भक्ति, राष्ट्र-हित ये सब आत्म-विकास के साधन हैं। वह अपने प्रत्येक कार्य को अन्त में यह हिसाब लगाकर देखता है कि इससे मेरे आत्मिक विकास में क्या सहायता मिली? लोग ऐसे मनुष्य को बड़ा देश-भक्त, समाज-सेवक, राष्ट्रोद्धारक मानेंगे, पर वह अपने को आत्म-कल्याण का एक साधक मानेगा और इन विशेषणों को अपनी साधना के मार्ग की मोहिनी विभूतियां समझकर 'कृष्णार्पण' कर देगा।

परन्तु इसमें एक बात की सावधानी रखने की जरूरत है। यदि परोपकार का भाव प्रबल रहा तो जिस प्रकार अभिमान, मान-बड़ाई के

फेर में पड़ जाने का डर है उसी प्रकार आत्म-हित की दृष्टि प्रधान होने से स्वार्थ-भावुता आने या बढ़ जाने की आशंका रहती है। इन गड्ढों से बचने का सबसे बढ़िया उपाय यह है कि आत्म-हित और समाज-हित को हम मिला लें। समाज-हित में ही हमारा आत्म-हित छिपा या समाया हुआ है। अथवा समाज-हित करते-करते ही हम आत्म-साधना में सफल होंगे, यह धारणा इसका स्वर्ण-मार्ग है। तात्त्विक दृष्टि से भी इनमें कहने लायक अन्तर नहीं है। यदि दूसरे के और हमारे अन्दर एक ही आत्मा है तो दूसरे का हित मेरा ही हित है। गुण-विकास भी दूसरे का हित साधन करते हुए जितना हो सकता है उतना कोरी आत्म-साधना—ध्यान-धारणा—में नहीं। दूसरे में अपने को सब तरह मिला देना आत्मार्पण है, दूसरे के लिए अपने को सब तरह मिटा देना निर्भयत्व है। आत्मार्पण और निर्भयत्व के आत्म-प्रकाश, चैतन्य, निर्वाण, कैवल्य, मोक्ष, पूर्णस्वातन्त्र्य, परमपद, निरानन्द, ब्राह्मीस्थिति, स्थित-प्रज्ञता, के मुख्य द्वार हैं।

कर्त्तव्य का भाव भी सम्पादक के मन में हो सकता है। न तो आत्म-कल्याण के लिए, न परोपकार के लिए, मैं तो अपना कर्त्तव्य समझकर संपादन-कार्य कर रहा हूँ, ऐसा कोई संपादक कह सकता है। पर यह पूछा जा सकता है कि आखिर इसे अपने कर्त्तव्य क्यों बनाया ? धन के लिए, कीर्ति के लिए, जन-हित के लिए, आत्म-सतोष के लिए, या और किसी बात के लिए ? यदि धन और कीर्ति इसका उत्तर है तो वह संपादक नीचे दरजे का हुआ। यदि दूसरे दो उत्तर हैं तो उनका समावेश परोपकार, सुधार, सेवा, आत्म-कल्याण इनमें हो जाता है। इसलिए परोपकार या आत्म-कल्याण यही दो भावनाएं असली हैं। साधारण व्यवहार की भाषा में इन्हें परमार्थ और स्वार्थ कहते हैं। स्वार्थ की परिधि की ओर जावें तो वह परमार्थ हो जाता है और परमार्थ के केन्द्र की ओर चलें तो वह स्वार्थ हो जाता है। दोनों दृष्टियों से हम एक ही सत्य पर पहुंच जाते हैं—इसीसे कहते हैं कि जगत में अन्तिम सत्य एक है।

एक यह भी प्रश्न है कि संपादक जनता का प्रतिनिधि है या पथ-दर्शक ?

प्रतिनिधि तो मनुष्य अपने आप नही बन सकता। किसी सम्पादक को जनता ने अपना प्रतिनिधि बनाकर सम्पादक चुना हो, ऐसा तो कोई उदाहरण नही देखा जाता। हा, बरसो की सेवा के बाद कोई सम्पादक जनता के किसी एक विचार, आदर्श या कार्यक्रम का नैतिक प्रतिनिधि हो सकता है—पर सभी सम्पादको को यह पद नही मिल सकता। पथ-दर्शक तो अपने पास की कोई चीज हमें दिखाता है—वह हमें अच्छी मालूम देती है और हम उसके पीछे जाते है। वफादार और सच्चा पथ-दर्शक बाद को भले ही प्रतिनिधि बन जाय या बना दिया जाय। जिनके पास न तो कोई अपनी चीज जनता को देने के लिए है, न जनता ने जिन्हे अपने प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया है, उन्हे सम्पादक इसीलिए कहा जा सकता है कि वे एक अखबार निकालते हैं, सनसनी-भरी खबरें छापते है, जोश-खरोश भरी टिप्पणिया लिखते है और कुछ कापिया बेच लेते है। उनका समाज पर, राज्य पर कोई असर नही होता है।

नेता लोक-रजन के लिए नही, बल्कि लोक-कल्याण के लिए पत्रकार बनता है, बल्कि मेरी राय में तो एक-मात्र लोक-कल्याण ही सब प्रकार के पत्रो का उद्देश्य होना चाहिए। मनोरजन को पत्रो के उद्देश्य में स्थान नही मिल सकता, न मिलना चाहिए। लोक-हृदय ठहरा बाल-हृदय। जटिल और गूढ ज्ञान-तत्त्व यदि नीरस और क्लिष्ट भाषा मे उसके सामने उपस्थित किये जाय तो उन्हे सहसा आकलन और ग्रहण नही कर सकता। इसीलिए कुशल लेखक मनोरजन की पुट लगाकर उसे उसके अर्पण करता है। यही उसकी कला है। यही और इतना ही मनोरजन का महत्व है।

इसके सम्बन्ध मे दो मत है। एक मत के लोग कहते है, पत्र-सचालन और व्यवसायो की तरह एक व्यवसाय है। यद्यपि वह औरो से श्रेष्ठ है, उसके द्वारा ज्ञान और शिक्षा-लाभ होता है, तो भी वह है व्यवसाय ही। व्यवसायी का मुख्य काम होता है ग्राहक की रुचि देखना, उसकी रुचि और पसन्दगी के अनुसार तरह-तरह की चीजे रखना। चीजो को वह सजाता भी इस तरह है कि लोग उसीकी दूकान पर खिचकर चले आवें। इसके लिए

उसे अपनी चीज की खासतौर पर तारीफ भी करनी पडती है। इन सब बातो के करने में उसे उसी बात का सबसे बडा खयाल रहता है कि ग्राहक कहीं नाराज न हो जाय, कही हमारी दूकान न छोड दे। यह निर्विवाद बात है कि सर्वसाधारण जन उसी चीज की ओर ज्यादा आकर्षिक होते है जो चमकीली हो, चटकीली हो, फिर वह घटिया हो तो परवाह नही। इसलिए व्यवसायी ऐसी ही चीजो को अपनी दूकान में ज्यादा रखता है। दूसरी बढिया अच्छी और ज्यादा उपयोगी चीजें भी वह रखता है, पर वे उसके नजदीक गौण है, क्योंकि वह कहता है, इसके खरीददार थोडे होते है।

दूसरे मत के लोग पत्र-सचालन को एक 'सेवा' समझते है। वे कहते है कि पत्र-सम्पादक साहित्य के चौकीदार है, जनता के वैद्य है, शिक्षक है, पथ-दर्शक है, नेता है। वे अपने सिर पर बडी भारी जिम्मेदारी समझते है। उन्हे सदा-सर्वदा इस बात का खयाल रहता है कि कही ऐसा न हो कि हमारे किसी वचन, कृति या सकेत से जनता का अकल्याण हो, वह बुरे रास्ते चली जाय, बुरे और गन्दे भावों, विचारो और कार्यों को अपना ले, ऐसे कामो में लग जाय जो उसे प्यारे मालूम होते हो, पर जो वास्तव में उसके लिए अकल्याणकारी हो। वे इस बात की तरफ इतना ध्यान नही देते कि लोगो को कौन-सी बात प्रिय है, बल्कि इसी पर उनका मुख्य ध्यान रहता है कि उसका कल्याण किस बात में है। वह अपने को प्रिय नही, श्रेय-साधक मानते है, इसलिए वे लोक-रुचि का अनुसरण उसी हद तक गौण या प्रधान रूप से करते है, जिस हद तक उसके द्वारा वे जनता के कल्याण को सिद्ध होता हुआ देखते है। बहुत बार ऐसा भी होता है और इतिहास इस बात का खूब साक्षी है कि उन्हे लोक-रुचि के खिलाफ सरेदस्त आवाज उठानी पडती है और लोग पीछे से मानते है कि हा, उनकी बात ठीक थी। ऐसे पत्रकार पत्र-संचालन का उद्देश्य, फिर वह दैनिक हो, मासिक हो, या साप्ताहिक हो, 'लोक-रजन' नही, 'लोक-कल्याण' मानते है और इसीलिए वे लोक-रजन या मनोरजन को गौण स्थान देते है। लोकरजको से जनता शुरू में खुश भले ही हो, लोकरजक कुछ काल के लिए लोकप्रिय भी भले

ही हो, वह सफल भी भले ही होता हुआ दिखाई दे, लाखो रुपये भी भले ही पैदा कर ले, परन्तु उससे सर्वसाधारण की सेवा ही होती है, कल्याण ही होता है, यह बात नही। तुलसी और सूर की लोक-प्रियता पर कोई सवाल उठा सकता है? क्या वे 'लोकरजन' के अनुगामी थे? लोक-कल्याण किस बात में है इसके जानने का आधार 'लोक-रुचि' नही, बल्कि लोक-शिक्षक की विद्या, बुद्धि, ज्ञान और अनुभव है। लोक-शिक्षक जितना ही अधिक त्यागी, सयमी, नि स्वार्थ, कष्ट-सहिष्णु, सदाचारी और प्रेम-मय होगा उतना ही अधिक वह पत्र-सचालन के योग्य होगा।

ससार मे दो तरह के आदमी देखे जाते है। एक कल पर दृष्टि रखता है, दूसरा आज मे मगन रहता है। एक ऊपर देखता है, आगे उगली दिखाता है, दूसरा आस-पास देखता है। एक देने के लिए तैयार रहता है, छोडने मे लेने से बढकर सुख देखता है, दूसरा रखने मे और चखने मे आनन्द पाता है। एक सयम मे जीवन की सार्थकता मानता है, दूसरा स्वच्छन्दता मे। एक त्यागी है, दूसरा भोगी। ये दोनो एक-दूसरे के सिरे पर रहनेवाले लोग है। इनके बीच मे एक तीसरा दल भी रहता है। उसे एक की उग्रता और दूसरे की शिथिलता, दोनो पसन्द नही। इधर त्याग की आग के पास जाने की भी हिम्मत उसे नही होती, उधर भोग के रोग से भी घबराता है। कल उसे बहुत दूर—इतना दूर कि शायद उसे पहुचने की भी आशा न हो—दिखाई देता है और आज नीरस मालूम होता है। आगे उँगली उठाने में उसे खतरा जान पडता है और आसपास देखते रहना निरर्थक। देने और देते रहने मे उसे अपने दरिद्र हो जाने का डर रहता है और केवल रखने और चखने से उसे सन्तोष नही होता। वह जीवन को न सग्राम-भूमि बनाना चाहता है, न असहयोग का अखाडा और न फूलो की सेज। वह न इधर का होता है, न उधर का। वह आराम से चाहे रह सके, पर उन्नति ही करता रहेगा, यह नही कह सकते। वह सन्तुष्ट चाहे रहे, पर पुरुषार्थ भी दिखावेगा, यह निश्चय नही। बिना खतरे का सामना किये, बिना जान जोखिम मे डाले, दुनिया मे न कोई आदमी आगे बढ सकता है, न दूसरे को बढा सकता है।

परन्तु यह मध्य-दल तो अपने आस-पास हमेशा किलेबन्दी करता है, फूक-फूककर कदम रखता है, सम्हल-सम्हलकर चलता है। इसे वह विवेक समझता है। जो हो, 'लोक-रजन' के अनुगामी अधिकाश में दूसरी और तीसरी श्रेणी में हुआ करते है। 'लोक-शिक्षक' पहली ही श्रेणी में अधिक होते है। दोनों में मुख्य भेद यही है कि एक का मुख्य ध्यान 'लोक-कल्याण' की ओर होता है और दूसरे का मुख्यत 'लोक-रुचि' की ओर। सच्चा कलाविद् ही सच्चा शिक्षक हो सकता है और सच्चे शिक्षक होते है कला-मर्मज्ञ। यह सच है कि वे अपने आसन से उतर कर जनता के पास जाते है, उनसे मिलते है, और अपनी सहानुभूति जोडते है, पर उतरते है, उन्हे अपने आसन पर—ऊपर लाने के लिए, सहारा देने के लिए, उनपर अपना रग जमाने के लिए, जाकर रह जाने के लिए नही, और उन्हींके रग में रग जाने के लिए तो हरगिज नही।

जहा पत्रकार या शिक्षक 'लोक-रजन' के फेर मे पडा कि वह 'लोक-सेवक' न रहा, व्यवसायी हो गया।

५ : नेता की जिम्मेदारियाँ

नेता युगधर्म की प्रेरणा होता है। युगधर्म जनता की पीडा की पुकार है। वह मनुष्य नही है जिसके मन में उसे सुनकर हलचल न हो। हा, पीड़ा से व्याकुल होकर नेता को उसका इलाज जल्दी या क्रोध में आकर ऐसा न करना चाहिए कि जिससे जनता का जीवन अन्तिम लक्ष्य से इधर-उधर हो जाय। एक तरह की पीडा मिटने लगे तो दूसरी पीडा की नीव पड जाय। इसीलिए समाज में दूरदर्शी नेताओ की आवश्यकता होती है। नेता समाज की तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति होता है—पीडा का वैद्य होता है।

जीवन का मूलभूत तत्त्व चाहे एक हो, किन्तु जीवन जगत् मे आकर विविध हो गया है, वह एक से अनेक हुआ है और अनेक से एक होने की तरफ जा रहा है। यह दो तरह से होता है—विविध भावो के विकास के द्वारा अथवा भाव-विशेष की एकाग्र साधना के द्वारा। एक का

उदाहरण भक्ति और दूसरे का योग हो सकता है। नेता के जीवन मे भक्ति और योग का सम्मेलन होना चाहिए। व्यापकता और एकाग्रता दोनो ओर उसकी गति और विकास होना चाहिए।

एक वैद्य, योगी, योद्धा, सुधारक, किसी भी स्थिति मे नेता की जिम्मेदारिया महान् है। वह यदि सचमुच अपनी जिम्मेदारियो को पूरा करना चाहता है, अपने गौरव की रक्षा करना चाहता है, अपने पद को सार्थक करना चाहता है, तो उसे यह मानकर ही चलना चाहिए कि उसका जीवन सदा सकटो मे घिरा हुआ है। यदि काम आसानी से हो जाय और सकट मे न पडना पडे तो उसे आनद नही, आश्चर्य होना चाहिए और ईश्वर का अहसान मानना चाहिए।[१] निन्दा, कटूक्ति, आर्थिक कष्ट, गालिया, मार, जेल, अपमान और अन्त में मृत्यु—एव मृत्यु से भी अधिक दुखदायी असफलता ये पुरस्कार अपनी सेवाओ का पाने के लिए उसे सदा तैयार रहना चाहिए। यह समाज की अनुदारता पर टीका नही है, बल्कि नेता किन-किन कसौटियो पर प्राय कसा जाता है उनका दिग्दर्शन है। समाज के पास नेता की सच्चाई की परीक्षा के यही साधन है। इनका सामना करते हुए भी नेता जब अपने उद्देश्य से पीछे नही हटता तब समाज उसकी बात मानता है। सच्चे आदमी को इतने कष्ट-सहन के बाद समाज अपनावे—यह है तो एक विचित्र और उलटी बात, पर समाज मे झूठे, पाखडी, स्वार्थ-साधु लोग भी होते है—उनके धोखे से बचने के लिए समाज के पास यही उपाय रह

---

[१] यहा देशभक्तो के जीवन के सम्बन्ध में महाराष्ट्र में प्रचलित दो गान उपयोगी होगे—

(१) जो लोक कल्याण, साधावया जाण, घेई करी प्राण, त्या सौख्य कैंवें?
निन्दाजनी त्रास, अपमान, उपहास, अर्थो विपर्यास, हें व्हावयाचें।
बहुकष्ट जीवास, दुष्प्रान्न उपवास, कारागृहींवास, हे भोग त्याचें॥

(२) देशभक्ता प्रासाद बन्दिशाला। शृखलेच्या गुफिल्या पुष्प-माला॥
चिता-सिहासन शूल राजदण्ड। मृत्यु दैवत दे अमरता उदण्ड॥

गये है। उनके अस्तित्व का दण्ड सच्चे आदमी को तबतक भुगते बिना छुटकारा नही है जबतक समाज मे झूठो, पाखडियो और ठगो का जोर बना रहेगा।

दूसरे, जनता के स्वागत, सहयोग और अनुकरण पर से अपने कार्य की शुद्धता का अनुमान या निर्णय न करना चाहिए। जनता तो सदा अपने तात्कालिक लाभ को देखती है। आपके मूलत अशुद्ध कार्य से भी उसका उस समय लाभ होता हुआ दीखेगा तो वह आपके पीछे दौड पडेगी, परन्तु इसी तरह जब उसका कु-फल भोगने का अवसर आवेगा तब वह आपको कही का न रहने देगी। ससार मे आमतौर पर सब अच्छे के साथी होते है—बुरे के बहुत कम—और होने भी क्यो चाहिए ? कार्य की शुद्धता जानने के लिए एक तो उसे अपने हृदय को देखना चाहिए और दूसरे यह देखना चाहिए कि कार्य का स्वरूप अनैतिक तो नही है। वह ऐसा तो नही है जो उसके ध्येय और निश्चित नीति तथा दावो के प्रतिकूल हो। मनुष्य कुटुम्ब, समाज और जगत् को धोखा दे सकता है, परन्तु अपने हृदय मे छिपे सतत जाग्रत चौकीदार को धोखा नही दे सकता। मै किसी के घर मे चोरी करने के भाव से गया हू अथवा उसका कोई भला करने गया हू, उसे मेरा दिल जितना अच्छी तरह जान सकता है उतना और कोई नही। हा, कर्त्तव्य-मूढता की बात दूसरी है। कभी-कभी मनुष्य की समझ मे ठीक-ठीक नही आता कि इस समय मेरा क्या कर्त्तव्य है। कभी-कभी उसके निर्णय मे भूल भी हो जाती है, पर यह तो क्षन्तव्य और सुधारणीय है। यदि नेता तनिक भी विचारशील है तो फौरन उसे अपनी गलती मालूम हो सकती है।

यदि स्वय भूल न मालूम हो, पर दूसरा दिखा दे तो उसे सरल और कृतज्ञ-हृदय से मान लेना चाहिए। भूल मालूम होने पर उसे न मानने, न सुधारने मे खुद अपनी ही हानि है। अभिमान, मिथ्या बडप्पन का भाव, कई मनुष्यो को भूल-स्वीकार करने से रोक देता है, परन्तु नेता को तो इसके लिए 'सदा तैयार रहना चाहिए। कभी-कभी ऐसे प्रसग आ जाते है कि भूल सुधारने के लिए मनुष्य तैयार हो जाता है, परन्तु उसे प्रकट होने देना नही चाहता। इसमे क्षणिक लाभ हो सकता है—परन्तु वृत्ति तो उसे

तुरन्त स्वीकारने, प्रकट करने, और सुधारने अथवा जिसके प्रति भूल हुई है, या जिसको उससे हानि पहुची हो उससे क्षमा चाहने की ही जरूरी है। क्षमा-याचना से केवल दूसरे को ही सन्तोष नही होता, हमारे हृदय की शुद्धता का ही इत्मीनान नही होता, बल्कि हमारे मन को भी शिक्षा मिलती है। जहा तक अपने मन पर होनेवाले असर का ताल्लुक है, क्षमा-याचना एक प्रकार का प्रायश्चित्त ही है। प्रायश्चित्त का वह भाव, जो दूसरे की हानि को अनुभव करता है और इसलिए उस पर अपनी ओर से खेद और पश्चात्ताप प्रदर्शित करता है, क्षमा-याचना कहलाता है। कभी-कभी स्थिति को सुलझाने के लिए भी मस्लहतन् माफी माग ली जाती है, परन्तु इससे दोनो के दिलो पर कोई अच्छा और स्थायी असर नही होता। न क्षमा मागनेवाले का सुधार होता है, न क्षमा चाहनेवाले को सच्चा सन्तोष। उल्टा उसके मिथ्याभिमान की वृद्धि होने का भय रहता है। कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है जब मनुष्य भूल सुधारने के लिए तैयार हो जाता है, किन्तु क्षमा मागना नही चाहता। उसमे वह अपनी मान-हानि समझता है। इसका सरल अर्थ यह है कि वह सिर्फ अपने को सन्तुष्ट कर लेना चाहता है, अपना लाभ कर लेना चाहता है, परन्तु दूसरे के दुख, हानि की उसे इतनी परवा नही है। यह एक प्रकार की अहम्मन्यता ही नही, असानुपता भी है। अपने हाथ से किसी की हानि हो गई हो, किसी के दिल को चोट पहुच गई हो, हमने समझ भी लिया कि हमने ठीक नही किया, फिर भी उसके प्रति हम इतने भी विनम्र न हो—यह असानुपता नही तो क्या है? सच पूछिए तो इसमे हमारी अधिक हानि है, अधिक अपमान है, क्योकि हरएक समझदार और जानकार आदमी हमसे मन मे घृणा करने लगता है। अतएव नेता को यह सदैव ध्यान मे रखना चाहिए कि हृदय की सफलता और स्वच्छता से बढकर सफलता और विजय का अमोघ साधन ससार मे नही है। युक्तियो और तर्कों से आप मनुष्य को निरुत्तर कर सकते है, दिमागी चालाकी से आप साफ-पाक बेलौस दिख सकते है, परन्तु आप किसी के हृदय को नही जीत सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि दिमाग की अपेक्षा दिल

मे ही अन्तरात्मा ने अपना डेरा डाल रक्खा है। कई वार यह अनुभव होता है कि दिमाग साथ नही देता, समझा नही सकता, किन्तु दिल मे वात जच गई है। यदि हमने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया है कि बल आखिर सच्चाई मे है, भला आखिर सच्चाई मे है तो फिर दिमागी कतर-व्योत व्यर्थ है। सच्चाई और झुठाई छिप नही सकती।

नेता का एक सहकारी वर्ग तो होता ही है। वही आगे चलकर एक दल बन जाता है। जब दल सुसगठित होने लगता है तव नेता पर विशेष जिम्मेदारी आ जाती है। जनता के हित के साथ उसे अव अपने दल के हित का भी खयाल रहने लगता है। फिर वह यह मानने लगता है कि मै अपने दल को बढाकर और मजबूत रखकर ही जनता की सेवा अच्छी तरह कर सकता हू, इसलिए जनता के हित से भी अधिक चिन्ता दल की रखने लगता है। कभी-कभी ऐसा अवसर भी आता है कि दल के हित और जनता के हित मे विरोध दीखने लगता है। यदि जनता के हित पर ध्यान देता है तो दल से हाथ धो बैठना पडता है। यदि दल का हित देखता है तो जनता के हित की उपेक्षा करनी पडती है। ऐसी दशा मे सच्चे नेता का कर्त्तव्य है कि वह जनता के हित पर अडा रहे। दल जब कि जनता के ही हित के लिए वना है तब दल का ऐसा कोई स्वतन्त्र हित नही हो सकता जो जनता के हित का विरोधी हो। दल मे यदि व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षाए नही है तो ऐसे विरोध की सभावना वहुत कम रहेगी। नेता के लिए यह परीक्षा का अवसर है। दल से उसे अपने को पृथक् करना पडे, अथवा दल को तोड देना पडे—तो उसे इसमे जरा भी हिचकिचाहट न होनी चाहिए। दल जनता के हित का साधन है और उसे सदा इसी मर्यादित स्थिति मे रहना चाहिए।

समाज या देश मे दूसरे दल भी हुआ ही करते है। वे भी उतने ही जनता के हित का दावा और कार्यक्रम रखते है। एक दल अपने को श्रेष्ठ और दूसरे को कनिष्ठ दिखाने की गलती न करे। जनता का हित जिस दल के द्वारा अधिकाधिक होगा उसे जनता अपनाती चली जायगी। सब दल जनता के सेवक है, इसलिए उनके परस्पर विरोधी बनने का सहसा कोई

कारण नही है। उनका मार्ग जुदा हो सकता है, परन्तु परस्पर विरोध करके, लडकर और आपस मे तू-तू मैं-मैं करके अपना मार्ग अधिक सच्चा और हितकर साबित करने की अपेक्षा प्रत्येक जनता के हित को दृष्टि रखने का अधिक यत्न करे। धन या सख्या का बल दल का वास्तविक बल नही होता, बल्कि सेवा की मात्रा होता है। जो दल वास्तविक सेवा करेगा उसका बल अपने-आप बढेगा—लोग खुद आ-आकर उसमे शामिल होगे।

अतएव नेता को चाहिए कि दलबन्दियो की अनुदारता और एक-देशीयता से अपने को बचावे। देशभक्ति और सच्चाई का जितना श्रेय वह अपने दल को देता है उतना ही वह दूसरे दलो को भी देने के लिए तैयार रहे, उनके प्रति अधिक उदारता और सहिष्णुता का परिचय दे। अपने दल के साथ चाहे एक बार अन्याय होना मजूर कर ले, परन्तु दूसरे दलवालो के साथ न होने दे। इस वृत्ति से अपने दल के सकुचित और एकागी लोगो के असतुष्ट होने का अन्देशा अवश्य है, परन्तु यह जोखिम उसे उठानी चाहिए, अन्यथा उसका दल कभी फैल न सकेगा। प्रतिकूल या भिन्न मत रखनेवालो को अपने मत की श्रेष्ठता आप नही जचा सकते, यदि आप उनके प्रति सज्जनता, न्याय, सहिष्णुता और उदारता का व्यवहार नही रखते है। भिन्न या विरोधी मत होने के कारण हमारे हाथो उनके प्रति अन्याय हो जाना सहज है—इसलिए इस बात की बहुत आवश्यकता है कि हम इस विषय मे जागरूक रहे। यदि हम सदैव सत्य पर दृष्टि रखेगे, सत्य की रक्षा, सत्य के पालन से बढ कर व्यक्तिगत या दलगत लोभो और हितो को समझेगे तो हम खतरे मे बहुत आसानी से बच जायगे, सत्य की साधना हमे कभी गलत रास्ते नही जाने देगी। हा, इसके लिए हमारे अन्दर काफी साहस, जोखिम उठाने का धीरज, बुरा, बेडा गर्क कर देनेवाला कहलाने की हिम्मत होनी चाहिए। ऐसे प्रसग आ जाते है जब विरोधी की बात ठीक होती है, पर हमारे दल के लोग नही पसन्द करते कि उस औचित्य को स्वीकार किया जाय। ऐसी स्थिति मे नेता यदि अपने दल की बात मानेगा तो विरोधियो को अपने नजदीक लाने का अवसर खो देगा, क्योंकि उसकी न्यायपरायणता पर से उनका विश्वास

हटने लगेगा। यदि अपने दल को खुश नहीं रखता है तो सारी जमीन ही पाव के नीचे से खिसकी आती है। अपने दल मे से उसकी जगह चली जा रही है और विरोधी दल मे पाव रखने की गुजाइश नही। वह 'न घर का न घाट का' रहने की स्थिति मे अपने को पाता है। ऐसी दशा मे एक-मात्र सत्याचरण, न्याय-निष्ठा ही उसकी रक्षिका हो सकती है। उसे यह विश्वास रखना चाहिए कि आखिर सत्य और न्याय को अनुभव करने की प्रवृत्ति सबमे होती है। आज यदि क्षणिक लाभ या सकुचित हित हमारे सत्य और न्याय के भावो को मलिन कर रहा है तो कल अवश्य दोनो दलो के लोग उसे अनुभव करेगे। यदि सार्वजनिक प्रतिष्ठा-भग होने का गलत खयाल उन्हे गुमराह करके उनसे उसी समय उसे न कहलावे तो कम-से-कम दिल उनका गवाही जरूर देगा कि इसने सच्चाई का साथ दिया है और यह बहादुर आदमी है। जो सच्चाई की खातिर अपना दल, मान, बडाई छोड देने के लिए तैयार हो जाता है, विरोधी ही नही, सारा जगत् उसको माने बिना नही रह सकता। इसलिए नेता सदा यह देखे कि भिन्न या विरोधी मत रखनेवालो का दिल मेरे लिए क्या कहता है? वे सर्वसाधारण के सामने, अपने व्याख्यानो, लेखो और वक्तव्यो मे उसके लिए क्या कहते है, इसकी अपेक्षा अपने मित्रो मे, घर मे तथा क्लबो मे, खानगी बातचीत मे मेरे लिए क्या राय रखते है यह जानना अधिक सत्य के निकट पहुचावेगा। यदि मै सच्चा हू, यदि मै न्याय-प्रिय और सत्पुरुष हू तो दूसरे लोग मुझे और क्या कैसे समझेगे? हा, उन्हे मुझे पहचानने मे देर चाहे लगे, पर अन्त मे उन्हे मेरे इन गुणो की कद्र करनी ही पडेगी। सत्य और न्याय की खातिर की गई मेरी साधना, मेरी तपस्या उन्हे सत्य की ओर लाये बिना न रहेगी।

अन्त मे नेता को अपनी भूलो, गलतियो के प्रति बहुत कठोर परन्तु साथियो और सहयोगियो के प्रति उदार होना चाहिए। अपने प्रति कठोरता उन्हे अपने-आप गाफिल न रहने की प्रेरणा करेगी और उनके प्रति उदारता उन्हे अपने हृदय-शोधन मे लगावेगी, नेता के प्रति स्नेह बढावेगी। पर इसका अर्थ यह नही कि उनकी गलतिया उन्हे बताई न जाय। भूल भयकर भी हो,

पर इसका अच्छा असर तभी होता है जब वह मधुरता, आत्मीय भाव और सहृदयता के साथ बनाई गई हो। बिगाड हो जाने पर बदले में साथी को हानि पहुचाना किसी भी दशा मे नेता का कर्तव्य नही है। भूल होना मनुष्य के लिए सहज बात है, बल्कि भूल के दुष्परिणाम से अपने साथियो और मित्रो को बचाने के लिए आवश्यक हो तो नेता को खुद सकट मे पड जाना चाहिए।

नेता को अपने व्यक्तिगत और सामाजिक आचार मे भेद का ख्याल न देना चाहिए। साधारण लोग आचार के दो भेद कर डालते है—एक, व्यक्तिगत आचार और दूसरा सामाजिक आचार। वे समझते है कि मनुष्य का सामाजिक आचार शिष्टता, सभ्यता और शुद्धतापूर्ण हो तो बस! सामाजिक बातो मे व्यक्तिगत आचार पर ध्यान देने की जरूरत नही। जैसे यदि कोई आदमी अपने घर पर गाजा या शराब पीता हो, या चुपके-चुपके व्यभिचार करता हो, पर यदि वह खुले-आम ऐसा न करता हो, समाज मे उसका प्रचार या प्रतिपादन न करता हो तो इसे वे दोष न मानेगे। यदि मानेगे तो क्षम्य मानेगे। मैं इस मत के खिलाफ हू। मेरी राय मे यह भ्रम-पूर्ण ही नही, दोष ही नही, महापाप है। मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन से जुदा नही हो सकता। व्यक्तिगत जीवन का असर सामाजिक जीवन पर पडे बिना नही रह सकता। जो मनुष्य व्यक्तिगत जीवन को शुद्ध नही रख सकता वह सामाजिक जीवन को क्या शुद्ध रख सकेगा? जो खुद अपने, एक आदमी पर के आचार पर काबू नही रख सकता, वह सारे समाज के आचार पर कैसे रख सकेगा? मनुष्य खुद जैसा होता है वैसा ही वह औरो को बनाता है, चाहे जान मे, चाहे अनजान मे। और व्यवहार मे भी हम देखते है कि समाज पर उसीका सिक्का जमता है जो सदाचारी होता है, जिसका व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो प्रकार का आचार शुद्ध होता है। एक दृष्टि से व्यक्तिगत जीवन उसी मनुष्य के जीवन को कह सकते है जिसने समाज से और कुटुम्ब से अपना सब तरह का सम्बन्ध तोड लिया है, जो अकेला किसी जगल मे या पहाड की गुफा मे जाकर रहता हो और खाने, पीने, पहनने तक के लिए किसी मनुष्य-प्राणी पर आधार न रखता हो,

शिक्षा तक न ग्रहण करता हो, परन्तु जिस मनुष्य ने इतना भारी त्याग और सयम कर लिया हो उसका जीवन सच पूछिये तो व्यक्तिगत न रहा, सामाजिक से भी वढकर सार्वभौमिक हो गया। उसके चरित्र का असर सारे भूमण्डल पर हो सकता है और होता है। इस दृष्टि से देखें तो मनुष्य की कोई भी ऐसी अवस्था नही दिखाई दे सकती जिसे हम 'व्यक्तिगत' कह सके। इसलिए कहा जाता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सदाचार से जहा तक सम्वन्ध है, सेवा से जहा तक सम्बन्ध है, उसके जीवन या आचार मे व्यक्तिगत और सामाजिक ये भेद हो ही नही सकते। यदि हो भी सके तो व्यक्तिगत आचार की सदोषता क्षम्य नही मानी जा सकती, न मानी जानी चाहिए। इसी भ्रमपूर्ण और गलत भावना का यह परिणाम हम देखते है कि आज देश-सेवा के क्षेत्र मे कितने ही ऐसे लोग मिलते है और मिलेगे, जिन्हे हम सदाचारी नही कह सकते, पर जो वडे देश-सेवक माने जाते है और जिनका जीवन समाज के सामने गलत आदर्श उपस्थित कर रहा है और समाज को गलत राह दिखा रहा है। हा, मै यह वात मानता हू कि समाज को यह उचित है कि सेवक के दुर्गुणो पर ध्यान न दे, दोषो की उपेक्षा करता रहे। दुराचार से अपने को वचाता रहे, पर समाज का यह सौजन्य, यह उदारता सेवक के आत्म-सतोप का कारण न होनी चाहिए। इससे तो उलटे उसके मन मे अधिक शर्म, अधिक ग्लानि उत्पन्न होनी चाहिए। उसे इस वात पर खुशी न होनी चाहिए, फूलना न चाहिए, फख्र न होना चाहिए कि देखो, मै ऐसा होते हुए भी समाज की प्रीति-पात्र हो रहा हू, वल्कि इस खयाल से उसकी आखो से अनुताप के आसू निकलने चाहिए कि समाज कितना सहिष्णु है, कितना उदार है, कितना गुण-ग्राहक है कि मुझ जैसे पतित और नराधम को भी इतने आदर की दृष्टि से देखता है। तभी उसके कार्यो को देश-सेवा की श्रेणी मे स्थान मिलने की सम्भावना हो सकती है। तभी वह समाज और राष्ट्र को उसके लक्ष्य तक पहुचा सकता है।

: ८ :

भारत सच्ची स्वतंत्रता की ओर

१ : क्रान्ति-युग

अब भारत स्वतन्त्र हो गया है। हमारी राष्ट्रीय सरकार बन गई है। चारो ओर प्रगति की स्वर्ण-रेखाए फैलती जा रही है। यह स्पष्ट दीख रहा है कि अन्दर-ही-अन्दर घोर मथन हो रहा है और एक नई सृष्टि, नई रचना तैयार हो रही है।

क्रान्ति जीवन की विशेष अवस्था है। जीवन-धारा जबतक बे-रोक बहती और स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ती चली जाती है तबतक उसे प्रगति कहते है। जब अज्ञान, अन्धता, दुर्बलता, विलासिता और शोषण आदि के कारण उस प्रवाह का रास्ता रुक जाता है तब समाज का पतन समझना चाहिए और जब जीवन का भीतरी चैतन्य इन समस्त कठिनाइयो, रुकावटो को सहन करते-करते अधीर और उतावला होकर फूट निकलता है तब उसे क्रान्ति कहते है। पतन की अन्तिम और उत्थान की आदिम अवस्था, इस सक्रमणावस्था का नाम है क्रान्ति। समाज जब अपनी बुराइयो और असमताओ के द्वारा प्रकृति के सरल-स्वच्छ पथ को कटीला-ककरीला और गदा बना देता है, जीवन के लिए असह्य बना देता है तब ईश्वर जिस सुगन्धित हवा के झोके और तूफान को भेजता है, वह क्रान्ति है। ज्वर शरीर के अदर छिपे विकार को सूचित करता है और साथ ही वह आरोग्य की क्रिया भी है। इसी प्रकार क्रान्ति जहा समाज के दोषो की परिचायिका है वहा वह उन्हे धोकर बहा ले जानेवाली और जीवन को स्वच्छ, सुन्दर, सतेज बनानेवाली जबर्दस्त पतितोद्धारिणी गगा भी है। नासमझ लोग ज्वर को देखकर घबरा जाते है, भयभीत हो उठते है, उसी तरह क्रान्ति की मूर्ति देखकर

भी उसका महत्त्व और सौदर्य न समझने वाले भौचक हो जाते है । क्रान्ति हेय नही, स्वागतीय वस्तु है ।

भारत की आत्मा इस समय क्रान्तिशील है । सारा भूमण्डल मुझे तो चक्कर खाता हुआ नजर आ रहा है। राजनैतिक जीवन मे उसने साम्राज्य-वाद की जड खोखली कर दी है । राजो-महाराजाओ की अपरिमित सत्ता अव समाप्त हो गई है । प्रजा भेड और राजा गडरिया, यह हालत अव नही रह सकती । ये विचार अब जगली-से मालूम होने लगे है । अव तो प्रजा-जनता अपना व्यवस्थापक स्वय पसन्द करेगी और किसी शासन का जुआ अपने कन्धे पर न रहने देगी । वडे-वडे साम्राज्य स्थापित करने की अभिलाषा, छोटे राष्ट्रो और देशो को जीतकर, लूटकर, उन पर प्रलय तक अपना आधिपत्य जमाने की महत्त्वाकाक्षा अब अनुचित और आसुरी समझी जाने लगी है और साम्राज्यवादी अव जगतीतल पर नही खडे रह सकते । मुट्ठी-भर लोगो के अमन-चैन और ऐशो-आराम के लिए जनता के सुख पर ध्यान न देने की प्रवृत्ति की उम्र अव अधिक दिखाई नही देती, अव तो बहुजन-हित के लिए थोडे लोगो को अपनी सत्ता और ऐश्वर्य के त्याग करने का जमाना नजदीक आ रहा है ।

सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र मे मिथ्या शास्त्रवाद का गला घोटने मे वह क्रान्ति तत्पर दिखाई देती है । अब धन, वल या सत्ता के जोर पर समाज मे कोई किसी भले आदमी को तग और वरबाद न कर सकेगा । धन, वल और सत्ता का स्थान अव न्याय, नीति और प्रेम को मिल रहा है । धनी गरीबो के प्रति, पूजीपति मजदूरो के प्रति, शासक प्रजा-जन के प्रति अपने शुद्ध कर्तव्यो मे दिन-दिन जागरूक रहने लगेगे । ससार मे अव पूजीवाद, सेनावाद और सत्तावाद का आदर कम होता जा रहा है और समाजवाद, जनतावाद और शातिवाद की आवाज ऊची उठ रही है । यूरोप मे कम्यू-निज्म, सोशलिज्म और भारत मे गाधीजी इसके सबूत है । ऐसा दिखाई पडता है कि अब धनवानो और सत्तावानो, पुरोहितो और पोथी-पण्डितो, धर्म-गुरुओ और मठाधीशो के ग्रह नीचे के आ रहे है और दलित, पीडित,

पतित, निर्बल, किसान, मजदूर, अछूत और स्त्रियाँ ये सब ऊँचे हो रहे हैं। महज विद्या, बुद्धि, धन, सत्ता या पाखण्ड के बल समाज मे आदरणीय बनने वालो का युग जा रहा है और सेवाशील, निःस्वार्थ सच्चे लोगो का युग आ रहा है। अब समाज मे केवल इसीलिए कोई बात नही चलने पायगी कि किसी ने ऐसा कहा है, अथवा कोई ऐसा लिख गया है, बल्कि वही बात मान्य होगी, जिसे लोग देश और समाज के लिए अच्छा और उपयोगी समझेगे। अनेक देवी-देवताओ की पूजा उठकर एक ईश्वर की आराधना होगी। वेद, कुरान, इंजील, स्मृति, पुराण आदि मे से वही बाते कायम रहेगी जो बुद्धि और नीति की कसौटी पर सही साबित होगी। मुझे तो ऐसा भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि भारत की वर्ण-व्यवस्था और विवाह-कल्पना को भी एक बार गहरा धक्का पहुचेगा। अब जन्म के कारण कोई बड़ा या छोटा, ऊचा या नीचा नही माना जायगा। केवल विवाह-संस्कार हो जाने के बल पर अब पति पत्नी को अपनी मनोवृत्तियो की दासी न बना सकेगा, बल्कि जीवन के मंच पर पति-पत्नी एक ही आसन पर बैठेगे। भोग-विलास या कौटुम्बिक सुविधा विवाह के हेतु और आधार न रहेगे, बल्कि परस्पर प्रेम-स्नेह और सह-धर्म होगा। बाहरी बन्धन शिथिल होगे और आतरिक एकता बढ़ेगी। बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह के पैर उखड़ रहे हैं और विधवा-विवाह जोर पर है। खान-पान और ब्याह-शादी मे जात-पात की दीवारे टूट रही है और हिन्दू-मुसलमान और ईसाई संस्कृतियो के संयोग से भारत मे संशोधित संस्कृति भीतर-ही-भीतर निर्माण हो रही है। अब समाज मे कोई सिंहासन पर और कोई खाली फर्श पर न बैठने पायगा, बल्कि सब एक जाजम बिछाकर साथ बैठेगे।

आर्थिक संसार मे भी क्रान्ति के लाल बादल उमड़ रहे है। व्यापार और उद्योग दूसरो को चूसने के लिए नही, बल्कि राष्ट्र और मानव-जाति के हित के लिए होना चाहिए—यह भाव दृढ़ होता जायगा और धन एक जगह इकट्ठा न होकर लोगो मे बटने लगेगा। बुद्धि-बल पर अथवा ज्ञान को बेचकर धन कमाना श्रेष्ठ न समझा जायगा, बल्कि मेहनत-मजूरी करके

अपने पसीने की रोटी खाना धर्म समझा जायगा। अब भिक्षा-पात्र नही, चर्खा या हल ब्राह्मणो और बेकारो के हाथ मे दिखाई देगा।

साहित्य काव्य और कला भी इसके प्रभाव से अछूते नही है। इनकी मण्डली मे भी क्रान्ति ने उपद्रव मचाना शुरू कर दिया है। भारत मे साहित्य-सेवा अब मनोरजन की, आमोद-प्रमोद की या पेट पालने की वस्तु न रहेगी, बल्कि देश-सेवा जन-सेवा के लिए होगी। कोरे ग्रन्थ-कीटक, निरे काव्य-शास्त्रज्ञ अब समाज मे न ठहर सकेगे, अब तो उसीकी कविताएँ गाई जायँगी, उसीके चित्र मीठी चितवन से देखे जायँगे, जो देश-प्रेम मे मतवाला होकर रोयेगा-चीखेगा, जो अपनी देश-प्रेम की व्यथा से बच्चे-बच्चे को विकल कर देगा और जो अपनी कूची की एक-एक रेखा मे बिजली डालेगा। काव्य और कला क्या है? हृदय की गूढतम अव्यक्त अस्फुट वेदना का उद्‌गार। मानव-हृदय जब आन्दोलित, क्षुब्ध और विकल होकर पागल हो उठता है, इस पागलपन मे वह जो कुछ बकता है या कूची से टेढी-मेढी लकीर खीच देता है वही काव्य और कला है। इस पागलपन मे वह अद्‌भुत बाते कर डालता है और करा लेता है। यह जीवन-शक्ति जब काव्य-कला मे कम पड जाती है तब समाज की तृप्ति उससे नही होती। जब समाज उसकी निष्प्राणता से ऊब उठता है तब काव्य-कला की अमर आत्मा नव-नव रूपो मे प्रकट ओर विकसित होती है। वही अन्तरात्मा नवीन कलेवरो मे प्रस्फुटित होती है। हिन्दी के वर्तमान काव्य-साहित्य मे आज इसी क्राति के दर्शन हम कर रहे है। अब कवि नवीन भावावेश मे, नई भाषा मे, नई धुन मे गाते है और नवीन छन्द बन जाते है, नवीन व्यजना दर्शन देती है, नवीन कल्पनाएँ सामने आती है। नये भाषा-प्रयोग जन्म पाते है। छायावाद इसी क्रान्ति का परिणाम है। सविकार प्रेम को, शृगार रस को आत्मिक और दैवी रूप देने की चेष्टा इसी क्रान्ति की प्रवृत्ति है।

इस प्रकार चारो ओर क्राति-ही-क्रान्ति के परमाणु फैल रहे है। हम चाहे या न चाहे हमे, अच्छी लगे या बुरी, यह सर्वतोमुखी क्रान्ति अब टल नही सकती। नये विधाता नये ब्रह्माण्ड की रचना कर रहे है। पुराना

ईश्वर भी अपने पार्षदों और गुणो सहित नवीन रूप में हमारे सामने आ रहा है। एक-एक अणु नये जीवन और नये भविष्य की रचना में लगा हुआ है। ओ प्राचीन, तू जीर्ण-शीर्ण कलेवर के मोह को एकबारगी छोड दे। तू उठ, काया पलटकर और अपने नवीन नेत्रो से अपने नवीन तेजस्वी सुन्दर रूप को निहार कर खिल उठ। भारत इस क्रांति के प्रकाश में तू अपना रूप देख तो।

२ : एक निगाह

इस क्रांति के प्रकाश मे पहले हम अपने स्वतत्रता आदोलन पर एक निगाह डाल ले। पूर्ण स्वाधीनता, और उसके अटल साधन सत्य और अहिंसा—यह एक ऐसी कसौटी और कुजी हमारे हाथ लग गई है, जिससे हम अपने वर्तमान उद्योग व भावी रूप को देख व जाच सकेगे और उसकी गुत्थिया सुलझा सकेगे।

अहिंसात्मक और सत्य-प्रधान होने के कारण हमारे स्वतन्त्रता-आदोलन का निश्चित और दूरगामी परिणाम हुआ है भारतीय स्वतन्त्रता। हिन्दुस्तान दुनिया का पाचवा हिस्सा है। महान् प्राचीनता, उच्च सस्कृति, दिव्य तत्त्वज्ञान, अनेक महापुरुष, विविध प्रात, प्राकृतिक देन, आदि विशेषताओ मे यह ससार के किसी भी हिस्से से महान् है। एक गुलामी की जजीर टूटते ही यह विशाल और प्राचीन देश ससार को भव्य और दिव्य दीखने लगा है। १५ करोड लोगो के रूस ने अपनी क्रांति के द्वारा सारे ससार में एक हलचल मचा दी है। फिर वह क्रांति ऐसे साधन— हिंसा-काड—के बल पर हुई है, जिनका नैतिक महत्त्व भारतीय आदोलन के वर्तमान साधन—अहिंसा—से सारे मनुष्य-समाज की दृष्टि मे कम समझा जाता है। आमतौर पर कोई यह नहीं कहता कि अहिंसा से हिंसा श्रेष्ठ है। सिर्फ इतना ही कहा जाता है कि कभी-कभी हिंसा से जल्दी काम बन जाता है और दण्ड तथा युद्ध की आवश्यकता जबतक रहेगी तबतक हिंसा-बल से काम लेना पडेगा। अर्थात् जो लोग हिंसा-बल के हामी है वे भी उसे एक

देना अवश्य आश्चर्य और दु ख मे डालने वाली बात थी । इसमे एक तो कम्यूनिस्टो—साम्यवादियो—ने तो स्पष्ट ही बहुत आपत्तिजनक रुख अख्त्यार किया, दूसरे हिन्दुत्व या हिन्दू राज के नारे ने भी हिंसा-काण्डो को बढावा दिया । इन विघ्नकारी प्रवृत्तियो से हमारी आजादी के फिर से खतरे मे पड जाने की आशका हो सकती है ।

फिर भी हमारी सरकार ने इन उपद्रवी शक्तियो का मुकाबला बडी दृढता व कुशलता से किया और भारतीय आन्दोलन सफल होकर ही रहा ।

३ : भारतीय देशभक्ति

किन्तु कितने ही लोग यह मानते है कि राष्ट्रीयता के बिना भारत स्वाधीन नही हो सकता । दूसरे लोग कहते है कि सकुचित राष्ट्रीयता या देशभक्ति वास्तविक स्वतत्रता की विरोधक है । अतएव हमे देखना चाहिए कि भारतीय देशभक्ति का स्वरूप क्या है ?

मनुष्य-समाज जब अपने को भौगोलिक सीमाओ मे बाध लेता है तब वह देश कहलाता है । इससे अपने-आप यह सिद्ध होता है कि देश मनुष्य-समाज से भिन्न या देश-हित मानव-समाज के हित से विपरीत वस्तु नही है । मानव-समाज विशाल और वृहत् है । अबसे पहले उसके पास आवागमन के इतने द्रुत और सुलभ साधन भी नही थे । इससे वह भिन्न-भिन्न भू-भागो मे बट गया । वही उनका देश कहलाया । अपने-अपने निवास-स्थानो की जल-वायु, परिस्थिति आदि कारणो से उनके आकार-प्रकार, रूप-रग और स्वभाव मे भी भेद हो गया । उनके हित-सम्बन्ध भी भिन्न और कई बातो मे परस्पर-विरोधी हो गये । तब उनकी रक्षाशीलता ने उनमे देशाभिमान उत्पन्न किया । जिनके हित-सम्बन्ध एक थे वे एक-राष्ट्र कहलाये । जिनमे रक्त और रक्त-जात हितो और सम्बन्धो की एकता थी वे एक-जात जाति बन गये । एक देश मे कई जातिया हो गई । सकुचित स्वार्थ ने उनमे भी कलह और सघर्ष पैदा किया । इससे जातिगत भावो का उदय हुआ । नजदीकी स्वार्थ पर प्रधान दृष्टि रहने के कारण वशाभिमान और जात्य-

भिमान की सृष्टि हुई। इन सब क्षुद्र अभिमानों का समय जगत से उठ रहा है। सौभाग्य से अब संसार क्षुद्रता और संकुचितता से ऊपर उठ रहा है। जातिगत भावों से उसे अब घृणा हो गई है। राष्ट्रीय भाव अब उसे अपने हृदय के नजदीक मालूम होने लगे हैं। परन्तु राष्ट्रीय भावों में भी अभी संकुचितता और क्षुद्रता भरी हुई है। एक देश या एक राष्ट्र क्यों अभी दूसरे पर चढ़ाई करने की, दूसरे से युद्ध करने की आयोजना रच रहा है? क्यों दूसरे को गुलाम बनाये रखने की प्रवृत्ति रख रहा है? क्यों आत्म-दृष्टि से वह दूसरे को नहीं देख रहा है? क्यों वह अपने हित को उसके हित से भिन्न मान रहा है? क्या यह संकुचितता और क्षुद्रता नहीं है? आवागमन और परिचय के इतने सुलभ साधन हो जाने के बाद तो यह क्षुद्रता मिट जानी चाहिए न? सारी मानव-जाति को एकता और प्रेम-सूत्र में बांधने का प्रयत्न होना चाहिए न? इस भावना से कि हम सब बिछुड़े हुए भाई मिल गये, हमारा हृदय हर्ष से उछलना चाहिए न? पर क्या एक अंग्रेज़ को देखकर एक हिन्दुस्तानी के मन मे ऐसा भ्रातृ-प्रेम उमड़ पड़ता है? एक चीनी को देखकर एक अंग्रेज बन्धु-भाव से गले मिलता है? एक जर्मन तुर्क या इटालियन को उसी प्रेम की निगाह से देखता है, जिससे वह जर्मन को देखता है? नहीं। क्यों? इसीलिए कि अभी हमने अपने हित-सम्बन्धों को भौगोलिक सीमाओं में कैद कर रक्खा है। जमाना आयगा, और बंधन टूटेंगे। हमें उस जमाने को जल्दी लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

भारतवर्ष इसमें सबसे अधिक सहायक हो सकता है, क्योंकि उसने विश्व-बन्धुत्व का सच्चा मार्ग खोज निकाला है। और राष्ट्र दूसरे के दोहन पर जीवित रहना चाहते हैं और इसलिए एक-दूसरे के शत्रु से बने हुए हैं। भारतवर्ष ने दोहन के अन्त कर देने का निश्चय कर लिया है। वह न अपने को लुटने देना चाहता है, न खुद लूटने का इरादा रखता है। उसने अहिंसा को पा लिया है, जो उसे लूटने और लूटने देने से मना करती है। ऐसी निर्भयता और निःशंकता का संदेश आजतक किसी देश ने दूसरे देश को नहीं दिया है। इसलिए भारत की देश-भक्ति और देशों

को देश-भक्ति से भिन्न है। रूस ने अलबत्ता देश-भक्ति से आगे कदम उठाया है, पर जबतक वह अहिंसा को राष्ट्र-धर्म नही बना लेता है तबतक उसकी साधना अधूरी ही रहेगी—तबतक वह दूसरे देशो के लिए भय की वस्तु बना रहेगा। खुद रूसवासियो को भी वह निर्भयता और नि शकता का जीवन प्रदान न कर सकेगा। भय के शस्त्रो का अवलम्बन करके निर्भयता का आश्वासन देना अपने-आप को धोखा देना है। पर भारत जबतक दूसरे देशो की दृष्टि मे खुद एक-देश या एक-राष्ट्र नही है, स्वतत्र समाज नही है, तबतक मानव-हित या विश्व-बन्धुत्व की बात उसके मुह से 'छोटे मुह बडी बात' हो सकती है। परन्तु यह निर्विवाद है कि उसकी देशभक्ति मानव-हित के विपरीत नही हो सकती। उसने समझ लिया है कि देश-हित सीमित मानव-हित है। अहिंसा उसे दूसरे राष्ट्र, देश या जाति के प्रति घृणा-भाव रखने, द्वेष-भाव का प्रचार करने से रोकती है, इसलिए स्वतन्त्र होते ही वह जितनी जल्दी मानवता से अपने हृदय को मिला सकेगा उतना शायद ही आजतक कोई राष्ट्र मिला सका होगा।

मानवता के निकट पहुचने के लिए सबसे पहले हमे जातिगत भावो और स्वार्थो को छोडना होगा, जाति और राष्ट्र के मुकाबले मे राष्ट्र को तरजीह देनी होगी। जाति का नुकसान स्वीकार करना होगा, पर राष्ट्र का नही। इसका यह अर्थ हुआ कि दूसरी जातियो के सामुदायिक हित के आगे अपने जातिगत हित को गौण मानना होगा, अर्थात् दूसरे को बढाने के लिए अपने को घटाना होगा और समय पडने पर मिटा भी देना होगा। स्वार्थ-त्याग की शुरूआत हमे पहले अपनी जाति से ही करनी होगी। हिन्दुओ को मुसलमानो, पारसियो और ईसाइयो के हित के लिए अपने हितो का त्याग करना होगा। यह उनकी कमजोरी नही, बडप्पन होगा, औदार्य और बन्धु-भाव होगा। इसी प्रकार विश्व-बन्धुत्व के सामने राष्ट्र-भाव को झुकना होगा। उदार घाटे मे नही रहता, कजूस ही रहता है। उदारता के मानी फजूलखर्ची नही है। फजूलखर्ची मे विवेकहीनता होती है। उदारता मे हृदय का ऊचापन होता है, शराफत होती है।

भारत अपनी उच्च-हृदयता के लिए इतिहास-प्रसिद्ध है। यह सच है कि इसकी गफलत से ही, जिसे इसने उदारता मान लिया है, यह आज की गुलामी में बुरी तरह जकड़ गया था, किन्तु यह भी उतना ही सच है कि अपनी गुलामी की बेड़ियों को तोड़ने का अनुपम मार्ग—अहिंसा—भी इसे अपनी उदारता, उच्च हृदयता ने ही दिया है। मुझे तो विश्वास है कि भारतवर्ष की इस गुलामी ने समाज को मुक्ति का सीधा और सच्चा मार्ग दिखाया है। भारतवर्ष गुलाम हुआ अपनी सज्जनता के कारण। दूसरे देश स्वतंत्र है अपनी स्वार्थ-वृत्ति के बल पर। हम भी आज भारत में स्वार्थ-भाव को, देश-भक्ति को, जगा रहे हैं, किन्तु हमें यह चिन्ता है कि यह विश्व-बन्धुत्व का विरोधी न होने पावे। हमारी अहिंसा इसकी जबरदस्त गारन्टी है। जगत् के दूसरे राष्ट्र भी जब इसे अपने जीवन में अपना लेंगे तब वे सच्चे स्वतंत्र होंगे। भारत गुलाम था, पर मुक्ति का पथ उसके हाथ लग गया है। दूसरे देश यों अपने हिसाब से स्वतंत्र हैं, समष्टि की दृष्टि से स्वतन्त्रता के पथ से दूर हैं। जिस दिन भारत अहिंसा के द्वारा स्वतंत्र बना लेगा उस दिन दूसरे राष्ट्र अनुभव करेंगे कि अभी उन्हें वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। उस समय वे फिर भारत का पदानुसरण करेंगे। आज उनका शरीर स्वतन्त्र है, पर आत्मा कुण्ठित है, वह प्रसन्न नहीं है और भीतर-ही-भीतर झुंझला रही है। भारत का शरीर मुक्त हो गया है और उसका अन्तःकरण दिन-दिन प्रसन्न होता जा रहा है, खिलता जा रहा है। इसका क्या कारण है? मनोविज्ञान के ज्ञाता तुरन्त कह देंगे, उसे अपनी मुक्ति द्वारा जगत् की सेवा का विश्वास हो गया है। उसके हाथ एक ऐसी अनमोल बूटी लग गई है, जो केवल उसीको नहीं, बल्कि सारे समाज को विश्व-बन्धुत्व के राज-मार्ग पर लाकर खड़ा कर देगी। वह है अहिंसा। यह सच है कि भारत ने अभी उसकी मोटी-मोटी करामात को ही देखा है—मानसिक जगत् में वह कितना सुख-प्रद परिवर्तन कर रही है, इस पर जिनकी दृष्टि है वे भविष्य को अधिक दूर तक देख सकते हैं। परमात्मा उस उज्ज्वल भविष्य को जल्द ही वर्तमान का जामा पहनावे।

४ : हमारा सामाजिक आदर्श

कई लोगो का मत है कि भारत के लिए कोरी राजनैतिक स्वाधीनता काफी नही है। जबतक हमारा सामाजिक आदर्श ही नही बदला जायगा तबतक न भारत का भला हो सकता है, न दुनिया का। इस अर्थ मे आज दुनिया की और भारत की एक समस्या है। कुछ काल पहले तक यह माना जाता रहा था कि एक राजा हो और वह प्रजा का हित करता रहे। समय पाकर यह राजा प्रजा का भला करने के बजाय आप ही उसका प्रभु और कर्ता-धर्ता बन गया और अपने स्वेच्छाचारो की पूर्ति के लिए प्रजा पर मनमाना जोरो-जुल्म करने लगा। तब लोगो ने देखा कि यह गलती हुई—कुछ नही, राजा को छोडो, अब मे प्रजा का चुना हुआ प्रतिनिधि-मण्डल और अध्यक्ष प्रजा का हित-साधन करे। इसका भी फल कई जगह यह हो रहा है कि धनी और प्रभावशाली लोग साठ-गाठ लगाकर प्रतिनिधि-मण्डल मे पहुच जाते है और एक राजा के बजाय बीसो राजा, प्रजा के प्रतिनिधि के नाते, प्रजा के हित के नाम पर, अपनी महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति करते है और उनपर प्रजा को कुरबान करते हुए भी नही हिचकते। पिछले युद्धो मे यही अनुभव हुआ। तब लोगो के विचारो ने पलटा खाया। अब आम पुकार उठ रही है कि धनी और प्रभुताशाली लोगो के हाथो में शासन की बागडोर न होनी चाहिए, सर्वसाधारण और जनता के हाथो मे होनी चाहिए। इस विचार के लोग, थोडे-थोडे विचार-भेद के साथ, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट कहे जाते हैं। वे कहते है कि केवल राज-काज मे नही, बल्कि सारे सामाजिक जीवन में सबको अपनी उन्नति और सुख के समान साधन और सुविधाए मिलनी चाहिए, फिर वह राजा हो या रक, धनी हो या किसान, पढा हो या अपढ, स्त्री हो या पुरुष। यह कोई राजनैतिक ही नही, एक भारी सामाजिक क्राति का चिह्न है। काग्रेस का देश को यही सदेश है कि तुम्हारा काम खाली राजनैतिक सत्ता ले लेने से ही पूरा नही हो गया, बल्कि ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए जिसमे वह सत्ता मुट्ठी-भर प्रभावशाली लोगो के हाथो मे न रहे, जनता के हाथो मे रहे। फिर केवल राजनैतिक क्षेत्र

में ही नही, बल्कि जीवन के सभी विभागो में समता और समानता का दौर-दौरा होना चाहिए। इसी दिशा मे यदि दूर तक विचार करे तो हमे इस नतीजे पर पहुचना पडता है कि जबतक सरकार अर्थात् सत्ता रखने-वाली कोई भी, किसी भी प्रकार की सस्था, समाज मे रहेगी तबतक सब को समान साधन और समान सुविधा नही मिल सकती—आत्म-विकास की पूरी स्वाधीनता किसी को नही मिल सकती। यह तो तभी हो सकता है जब समाज में सब लोग ऐसे बन जाय और इस तरह परस्पर व्यवहार करने लगे जिससे किसी बाहरी सत्ता की आवश्यकता उनकी रक्षा, शिक्षा और न्याय आदि के लिए न रहे। पर सारे समाज की ऐसी दशा भी इसी अवस्था मे हो सकती है जब लोग खुद-ब-खुद उन तमाम नियमो और कानूनो को मानने लगे जिन्हे सरकार अपनी हुकूमत के अर्थात् दण्ड-भय के बल पर मनवाती है। यहा आकर हम देख सकते है कि मनुष्य के सामाजिक और राजनैतिक जीवन मे भी सयम का कितना महत्त्व है। इस विषय पर बहुत दूर तक बारीकी के साथ जिन-जिन विचारको ने विचार किया है उनका यही कहना है कि समाज मे किसी सरकार का रहना समाज की बेबसी का सबूत है, समाज के लिए एक तरह से शर्म की बात है। थोरो, टाल्स्टाय, क्रोपाटकिन, लेनिन और गाधी—ऐसे विचारको की श्रेणी मे आते है। सामाजिक आदर्श से जहा तक सबध है, यदि मैं गलती नही करता हू तो, सभी प्राय एकमत है, पर आगे चलकर आदर्श को पहुचने के साधन या मार्ग मे मतभेद हो जाता है। लेनिन का कहना था कि भाई, जबतक मौजूदा सत्ता को जबर्दस्ती तोड-फोडकर बागडोर अपने हाथ मे नही ले ली जाती, अपने आदर्श के अनुसार शासन-व्यवस्था बनाने की पूरी सुविधा सब तरह नही प्राप्त कर ली जाती तबतक अपने मनोवाछित सामाजिक आदर्श को पहुचना असभव है। अतएव इस सक्रमण-काल—बीच के समय—मे तो हमे हर उपाय से सत्ता अपने पास रखनी ही चाहिए। मुसोलिनी और हिटलर भी इसी भाव से प्रेरित होकर इटली और जर्मनी मे सर्व-सत्ताधीन बन गये थे। पर टाल्स्टाय और गाधी कहते है कि यह तो तुम उल्टे रास्ते

चल पडे । तुम उस सामाजिक आदर्श को तबतक नही पहुच सकते जबतक खास किस्म के गुणो की वृद्धि और दोषो की कमी समाज मे न कर दो। इसके लिए दो शर्तें लाजिमी है—(१) सामाजिक नियमो का उल्लघन कोई न करे—सब खुद-ब-खुद राजी-खुशी उनका पालन करे, (२) किसी के उल्लघन करने पर दूसरा उसका बदला लेना न चाहे, उसे क्षमा कर दे। इन्ही दो शर्तो का नाम है सयम और शान्ति। इसे एक ही शब्द मे कहना चाहे तो 'अहिसा' कह सकते है। उनका कहना है कि जबतक अहिसा को अपना पहला और अन्तिम पाठ नही बना लेते तबतक तुम चक्कर मे हो—गोते खाते रहोगे। सर्वसाधारण अर्थात् जनता सयम और क्षमा अथवा अहिसा का अवलबन तभी कर सकती है जब तुम समाज के बडे, नेता कहानेवाले अपने जीवन मे उसे प्रधान पद दो। पर तुम तो मार-काट और हत्याकाड मचाकर उसे मार-काट और हत्याकाड का ही रास्ता बताते हो और कहते हो कि इसके बिना काम नही चलेगा तो फिर लोगो मे सयम और क्षमा कैसे आयगी और जबतक ये गुण न आयगे तबतक तुम अपने सामाजिक आदर्श को कैसे पा सकोगे ? तुम तो बबूल का बीज बोकर उससे आम के फल की आशा रखते हो। मै स्वय इसी दूसरे मत का कायल और अनुयायी हू, क्योकि इसमे विचार की सुलझाहट मालूम होती है।

५ : सर्वोदय और साम्यवाद

मानव-समाज से जिस अशान्ति को हम हटाना चाहते है उसका मूल कारण है विषमता। उसके दो उपाय पेश किये जाते है, एक 'साम्यवाद' दूसरा 'सर्वोदय'। 'साम्यवाद' अथवा कम्युनिज्म को वैज्ञानिक और शास्त्रीय रूप कार्ल मार्क्स ने दिया। उसका आदर्श है वर्गहीन समाज की स्थापना करना। 'सर्वोदय' शब्द के जन्मदाता और उसके प्रचारक है गाधीजी। उसका अर्थ है सबकी उन्नति, सबका समान हित। वर्ग-हीन समाज की कल्पना के मूल मे समता का सिद्धात काम कर रहा है। एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा करने वाले एक-दूसरे का शोषण करनेवाले वर्ग समाज मे न

रहे, बल्कि सब लोगो का एक ही वर्ग हो और वह हो मानव-वर्ग। सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व रहने से परस्पर प्रतिस्पर्धा और शोषण की वृत्ति जागती और बढती है, इसलिए समाज मे से सम्पत्ति पर से अर्थात् उत्पत्ति के साधनो पर से, व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा हटा दी जाय, यह साम्यवादियो का मुख्य आग्रह है। ऐसा समाज कैसे बने ? इसका उत्तर हम साम्यवादी देते है कि पहले जिस तरह हो सके, राजनैतिक सत्ता प्राप्त की जाय। श्रम-जीवियो की डिक्टेटरशिप कायम करके फिर उसके बल पर आदर्श समाज का निर्माण किया जाय। वे मानते है कि राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए हमे हिंसात्मक बल से काम लिये बिना कोई चारा ही नही है।

'सर्वोदय' के आदर्श मे भी मूल भावना यह है कि समाज से विषमता, शोषण का अन्त हो। हा, उसकी विधि मे भेद है। गाधीजी का यह दृढ विश्वास था कि यदि हमे समाज से हर प्रकार के शोषण को जड-मूल से मिटाना है तो हमे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन मे अहिंसा को सर्वप्रथम और सर्वोच्च स्थान देना पडेगा। हिंसा के मानी है दूसरे को दबाकर उसे कोई काम करने के लिए मजबूर कर देना। अहिंसा का मतलब है दूसरे हृदय को अपनी सद्भावना और प्रेम से आवश्यकतानुसार स्वय कष्ट सहकर जीतना, अपने अनुकूल बना लेना। शोषण मे भी हिंसा का ही भाव है। बिना किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा का आश्रय लिये कोई किसी का शोषण नही कर सकता। शोषण का अर्थ है न्याय और श्रम-पूर्वक जिस वस्तु को पाने का मुझे अधिकार नही है, उसे छल-बल और कौशल से अपने अधिकार मे ले आना। सीधे रास्ते खुले तौर पर जो चीज मुझे नही मिल रही है उसके लिए मुझे कुछ टेढा, कुछ गुप्त या अप्रत्यक्ष मार्ग का अवलबन करना पडता है, वह शोषण है और उसमे हिंसा ही है। इसलिए गाधीजी का कहना बिलकुल सही था कि यदि शोषण को मिटाना है तो पहले हिंसा को मिटाओ, अर्थात् किसी भी रूप मे, सूक्ष्म रूप मे भी हिंसा को आश्रय मत दो। गाधीजी की यह राय बहुत सही है। साम्यवादियो की तरह यह भी जरूरी नही कि आदर्श समाज की रचना के लिए राजनैतिक सत्ता

चल पडे । तुम उस सामाजिक आदर्श को तबतक नही पहुच सकते जबतक खास किस्म के गुणो की वृद्धि और दोषो की कमी समाज मे न कर दो । इसके लिए दो शर्ते लाजिमी है—(१) सामाजिक नियमो का उल्लघन कोई न करे—सब खुद-ब-खुद राजी-खुशी उनका पालन करे, (२) किसी के उल्लघन करने पर दूसरा उसका बदला लेना न चाहे, उसे क्षमा कर दे । इन्ही दो शर्तो का नाम है सयम और शान्ति । इसे एक ही शब्द मे कहना चाहे तो 'अहिसा' कह सकते है । उनका कहना है कि जबतक अहिसा को अपना पहला और अन्तिम पाठ नही बना लेते तबतक तुम चक्कर मे हो—गोते खाते रहोगे । सर्वसाधारण अर्थात् जनता सयम और क्षमा अथवा अहिसा का अवलबन तभी कर सकती है जब तुम समाज के बडे, नेता कहानेवाले अपने जीवन मे उसे प्रधान पद दो । पर तुम तो मार-काट ओर हत्याकाड मचाकर उसे मार-काट और हत्याकाड का ही रास्ता बताते हो ओर कहते हो कि इसके बिना काम नही चलेगा तो फिर लोगो मे सयम ओर क्षमा कैसे आयगी और जबतक ये गुण न आयगे तबतक तुम अपने सामाजिक आदर्श को कैसे पा सकोगे ? तुम तो बबूल का बीज बोकर उससे आम के फल की आशा रखते हो । मै स्वय इसी दूसरे मत का कायल ओर अनुयायी हू, क्योकि इसमे विचार की सुलझाहट मालूम होती है ।

५ : सर्वोदय और साम्यवाद

मानव-समाज से जिस अशान्ति को हम हटाना चाहते है उसका मूल कारण है विषमता । उसके दो उपाय पेश किये जाते है, एक 'साम्यवाद' दूसरा 'सर्वोदय' । 'साम्यवाद' अथवा कम्युनिज्म को वैज्ञानिक और शास्त्रीय रूप कार्ल मार्क्स ने दिया । उसका आदर्श है वर्गहीन समाज की स्थापना करना । 'सर्वोदय' शब्द के जन्मदाता और उसके प्रचारक है गाधीजी । उसका अर्थ है सबकी उन्नति, सबका समान हित । वर्ग-हीन समाज की कल्पना के मूल मे समता का सिद्धात काम कर रहा है । एक-दूसरे की प्रतिस्पर्धा करने वाले एक-दूसरे का शोषण करनेवाले वर्ग समाज मे न

रहे, वल्कि मव लोगो का एक ही वर्ग हो और वह हो मानव-वर्ग। सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व रहने से परस्पर प्रतिस्पर्धा और शोपण की वृत्ति जागती और वढती है, इसलिए समाज मे से मम्पत्ति पर से अर्थात् उत्पत्ति के माधनो पर से, व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा हटा दी जाय, यह साम्यवादियो का मुख्य आग्रह है। ऐमा समाज कैसे वने ? इमका उत्तर हमे माम्यवादी देते है कि पहले जिम तरह हो सके, राजनैतिक सत्ता प्राप्त की जाय। श्रम-जीवियो की डिक्टेटरशिप कायम करके फिर उसके वल पर आदर्श ममाज का निर्माण किया जाय। वे मानते है कि राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए हमे हिंमात्मक वल से काम लिये विना कोई चारा ही नही है।

'सर्वोदय' के आदर्श मे भी मूल भावना यह है कि समाज से विषमता, शोपण का अन्त हो। हा, उसकी विधि मे भेद है। गाधीजी का यह दृढ विश्वाम था कि यदि हमे समाज से हर प्रकार के शोपण को जड-मूल से मिटाना है तो हमे व्यक्तिगत और मामाजिक जीवन मे अहिंमा को मर्वप्रथम और सर्वोच्च स्थान देना पडेगा। हिंमा के मानी है दूमरे को दवाकर उमे कोई काम करने के लिए मजवूर कर देना। अहिसा का मतलव है दूसरे हृदय को अपनी सद्भावना और प्रेम से आवश्यकतानुसार स्वय कष्ट सहकर जीतना, अपने अनुकूल वना लेना। शोपण मे भी हिसा का ही भाव है। विना किसी-न-किसी प्रकार की हिसा का आश्रय लिये कोई किसी का शोषण नही कर सकता। शोपण का अर्थ है न्याय और धर्म-पूर्वक जिम वस्तु को पाने का मुझे अधिकार नही है, उसे छल-वल और कौशल से अपने अधिकार मे ले आना। सीधे रास्ते खुले तौर पर जो चीज मुझे नही मिल रही है उसके लिए मुझे कुछ टेढा, कुछ गुप्त या अप्रत्यक्ष मार्ग का अवलवन करना पडता है, वह शोषण है और उसमे हिसा ही है। इसलिए गाधीजी का कहना विलकुल सही था कि यदि शोपण को मिटाना है तो पहले हिंमा को मिटाओ, अर्थात् किसी भी रूप मे, सूक्ष्म रूप मे भी हिंमा को आश्रय मत दो। गाधीजी की यह राय वहुत सही है। साम्यवादियो की तरह यह भी जरूरी नही कि आदर्श समाज की रचना के लिए राजनैतिक सत्ता

पहले जरूरी है, क्योंकि राजनैतिक सत्ता के मूल मे भी कुछ तो हिंसा रही ही है। फिर बिना राजनैतिक दबाव के जो राष्ट्र-निर्माण या रचनात्मक काम होगा वह अधिक शुद्ध और स्थायी होगा। उनका राजनैतिक आदर्श राम-राज्य है जिसे उन्होंने भलमनसी और न्याय का राज्य कहा है। वे ऊपर से लादी गई डिक्टेटरशिप को नही पसद करते। उससे जनता का स्वतन्त्र विकास न होगा। इसलिए उसकी कल्पना के राज्य-सचालको की योग्यता की कसौटी उनकी सेवा, त्याग, तप के द्वारा प्राप्त जनता का हार्दिक प्रेम और आदर होगा। वे अदर से विकास करने के हामी थे। यही विकास का असली मार्ग है और यह अहिंसा के ही द्वारा साध्य हो सकता है।

साम्यवादियो का यह कहना कि पहले सगठित हिंसा द्वारा राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर ले, पीछे उसके द्वारा हिंसावृत्ति को मिटा दिया जायगा, समझ मे नही आता। जरा कल्पना कीजिये कि किसी हिंसा-बल से सुरक्षित राज्य-सत्ता को हाथ मे लेने के लिए उससे बढकर हिंसा-बल प्राप्त करना और सुसगठित करना होगा। फिर दूसरे आस-पास के राष्ट्रो के आक्रमण से बचने के लिए उस सुसगठित हिंसा-बल को कायम भी रखना होगा। अहिंसा के द्वारा समाज और राष्ट्र की रक्षा कर सकने पर विश्वास न होने के कारण न तो हम ही हिंसा-बल को छोड सकेगे या कम कर सकेगे, और न आस-पास के राष्ट्रो पर ही ऐसा असर डाल सकेगे, जिसका फल यह होगा कि हम कभी भी या दीर्घकाल तक, हिंसा-बल के आश्रय से अपना छुटकारा न कर सकेगे। फिर हमारे हिंसा-काण्डो की प्रतिक्रिया रूप जो प्रतिहिंसा हमारे विरोधियो और हमसे हताहत हुए लोगो के हमदर्दियो मे जाग्रत होगी, वह हमे कभी हिंसा-बल से मुक्त न होने देगी। हिंसा-बल से मुक्त होने की तरफ हम उसी अवस्था मे बढ सकते है, जब हम सचमुच हिंसा और अहिंसा-पद्धतियो के गुण-दोष का परीक्षण और तुलना करके इस निश्चय पर पहुच जाय कि सचमुच हिंसा-बल हेय और त्याज्य है और अहिंसा-बल श्रेय और अभिनन्दनीय। मेरी समझ में थोडी भी बुद्धि रखनेवाला आदमी इसका निर्णय आसानी से कर सकेगा।

हिंसा से अहिंसा श्रेष्ठ है, हिंसा से अहिंसा की नैतिक योग्यता बहुत बढी-चढी है, इसे तो हर कोई स्वीकार कर लेगा। परन्तु जो बात किसी को दुविधा मे डाल देती है, वह यह शका है कि क्या अहिंसा हिंसा से ज्यादा कार्य-साधक, सहज-साध्य और व्यवहार-योग्य भी है। जो-जो काम आज मनुष्य हिंसा-बल से निकाल लेता है वे सभी क्या अहिंसा-बल से निकाले जा सकते है? गाधीजी का उत्तर है कि यदि नही निकाला जा सकता है तो अहिंसा किसी काम की चीज नही है। उनकी यह दृढ श्रद्धा है कि अवश्य निकाले जा सकते है।

इतना ही नही, बल्कि हिंसा की बनिस्बत ज्यादा अच्छी तरह से और थोडे समय के अन्दर। हा, यह सही है कि शुरू मे अहिंसावाद उतनी तेजी से सफल होता हुआ नही दिखाई देता, जितना कि हिंसावाद। परन्तु जहा एक बार अहिंसा की विजय शुरू हुई कि उसमे तबतक पराजय का काम नही, जबतक कि हम अहिंसा के पथ पर सचाई के साथ डटे हुए है। यह सच है कि अहिंसात्मक प्रतिकार या सग्राम का विधि-विधान अभी इतना व्यापक और तफसीलवार नही बन पाया है जितना कि बरसो के अभ्यास के कारण हिंसात्मक युद्ध का शास्त्र बन चुका है। परन्तु इसमे कोई शक नही कि कम-से-कम भारतवर्ष मे एक बहुत बडा दल ऐसे लोगो का बन गया है, जिनकी बुद्धि को यह विश्वास हो चुका है कि हिंसा की तरह अहिंसात्मक प्रतिरोध भी सफल हो सकता है। जैसे-जैसे प्रसगानुसार हम अहिंसात्मक बात का प्रयोग और अभ्यास करते जायगे वैसे-वैसे उसका शास्त्र भी अपने-आप तैयार होता चला जायगा। हम इस पर जितना ही विचार और मनन करेगे, हमे इसमे एक दिव्य भविष्य की झलक दिखाई पडेगी। यदि हमारी बुद्धि ने सचमुच अहिंसा की श्रेष्ठता और उपयोगिता को ग्रहण कर लिया है तो हमे उसके प्रयोग मे नित-नूतन आश्चर्यो का अनुभव हुए बिना न रहेगा। जैसे-जैसे वह अनुभव होगा वैसे-वैसे हमारी श्रद्धा और भी दृढ होती जायगी। अहिंसा की भावना केवल कवायद से नही हो सकती। चित्त-वृत्ति को ही निर्मल, नि स्वार्थ, निरभिमान, राग-द्वेष से

हीन बनाने की जरूरत है। इसीमे मे अमोघ वल उत्पन्न होता है और उसके प्रयोग के पथ पर भी प्रकाश पडता जाता है। गाधीजी किसी किताब को पढकर हमे अहिंसात्मक सग्राम का मार्ग-दर्शन नही कराते थे। अपने चित्त को उन्होने अहिंसामय बना लिया था। इसलिए उन्हे फौरन ही उसका सरल मार्ग सूझ जाता था। हम भी तभी गाधीजी के सच्चे अनुयायी कहला सकते है, जब खुद अहिंसा के इस दिव्य प्रदेश मे पहुचकर उसकी करामात से जनता को परिचित और प्रभावित करे। ऐसे प्रयोग से ही अहिंसा-शास्त्र का निर्माण होगा।

हिंसात्मक और अहिंसात्मक बलो पर भरोसा रखनेवाले लोगो की मान्यता मे एक बडा भेद दिखाई पडता है। एक को मनुष्य प्रकृति की मूलभूत सत्-प्रवृत्ति पर विश्वास है तो दूसरे को उसमे अविश्वास या शका है। जिसको विश्वास है वह तो निराश और हतोत्साह होने के अवसर पर भी अपने अन्तस्थ प्रेम पर अटूट भरोसा रखकर प्रयोग करता चलेगा और अन्त मे देखेगा कि सामनेवाले का हृदय बदल गया है, क्योकि उसका झगडा व्यक्ति से नही, व्यक्ति के अवगुणो से और कुप्रवृत्तियो से है। इसलिए वह समूचे व्यक्ति का नाश नही चाहता, क्योकि ऐसा करना उस व्यक्ति के गुणो और शक्तियो का भी नाश करना है, जोकि समाज की एक बडी हानि और एक जबरदस्त हिंसा है। इसके विपरीत जो व्यक्ति यह मानता है कि मनुष्य प्रधानत स्वार्थी है, दबकर ही वह किसी अच्छे काम मे प्रवृत्त होता है वह अहिंसा की महत्ता को सहसा नही समझ सकता और उसकी उपयोगिता को भी अनुभव नही कर सकता। कम्युनिस्ट और गाधीवादी के विश्वासो मे जो बडा अन्तर मालूम होता है वह यही कि गाधीवादी मनुष्य-प्रकृति की मूलभूत सत्-प्रवृत्ति को मानता है और कम्युनिस्ट इस विषय मे अविश्वासशील या शकाशील है।

इसका कारण मुझे यह मालूम होता है कि जहा कम्युनिस्टो का अनुभव और अवलोकन सीमित और एकदेशीय है, वहा गाधीवाद की जड मे एक बडा आध्यात्मिक तत्त्व हजारो वर्षो की साधना, अनुभव और

अवलोकन भरा हुआ है। यह सही है कि सामाजिक और राष्ट्रीय पैमाने पर अहिंसा को एक बल और अस्त्र के रूप में संगठित करके उसके प्रयोग करने का उपक्रम संसार के इतिहासों में गांधीजी ने ही पहली बार किया, परन्तु इसकी मर्यादित सफलता ने भी दुनिया को यह दिखा दिया है कि अहिंसा राष्ट्र के आन्तरिक और बाहरी झगड़ों को निबटाने में हिंसा का स्थान जरूर ले सकती है। अहिंसा की विजय का आधार मनुष्य की चित्त-शक्ति में है, जहां कि हिंसा-बल का आधार शरीर है। ज्यों-ज्यों हम चित्त-शक्ति के साम्राज्य में प्रवेश करते जायंगे त्यों-त्यों हमें अहिंसा के चमत्कार और बल का अनुभव होता जायगा। जरूरत इस बात की है कि हम चित्त-प्रदेश में शोध-प्रयोग करें। यदि कम्युनिस्टों या सोशलिस्टों की समझ में अहिंसा की निरपवाद उपयोगिता बैठ जाय तो फिर 'सर्वोदय' और 'साम्यवाद' की कल्पना में कोई कहने लायक अन्तर नहीं रह जायगा, बल्कि 'साम्यवाद' या 'वर्गहीन समाज' की जगह 'सर्वोदय' शब्द अधिक सार्थक और भावात्मक दिखाई देगा।

६ : समाज-व्यवस्था के आधार

सामाजिक आदर्श को समझ लेने के बाद अब हम भावी समाज-व्यवस्था के आधार खोज लें तो अच्छा रहेगा।

मनुष्य सृष्टि में यों एकाकी उत्पन्न हुआ है, परन्तु गोल बनाकर रहना उसकी प्रकृति मालूम होती है। पशुओं में भी, जिनका जीवन मनुष्य से अधिक प्राकृतिक है, यह प्रवृत्ति पाई जाती है, कुछ तो अपनी प्रकृति से व कुछ प्राकृतिक अवस्थाओं से मनुष्य व्यक्ति में जाति, समूह में परिणत और कुटुम्ब में विकसित हुआ। उनकी उन्नति या विकास का इतिहास देखने से पता चलता है कि व्यक्ति ने अबतक जो कुछ प्रगति की है वह गोल, जाति, कुटुम्ब, समाज में ही, इनमें रहकर ही, इसके लिए जीवन का श्रेष्ठतर भाग लगा करके ही। उसमें जिन गुणों और शक्तियों का विकास हुआ है वह हरगिज न हुआ होता यदि वह अबतक

एकाकी ही रहा होता। और तो ठीक, वह अकेला रहकर जिन्दा भी रह पाया होता कि नही, इसमे भी सन्देह है। इस तरह व्यक्ति और समूह या समाज इस प्रकार परस्पर आश्रित, परस्पर सहायक तथा पूरक हो गये है कि एक के विना दूसरे की स्थिति की पुष्टि व प्रगति की कल्पना ही नही की जा सकती। फिर भी ऐसे अवसर आ ही जाते है जव यह विवेक और निर्णय करना पडता है कि दोनो मे से कौन वडा है, किसे प्रवानता दी जाय। इसमे निश्चय ही व्यक्ति को श्रेष्ठ मानना पडेगा, क्योकि प्रकृति ने व्यक्ति को उपजाया है, समाज को नही। समाज पीछे से मनुष्य ने अपने लिए, भले ही प्राकृतिक अवस्थाओ व स्फूर्तियो से प्रेरित होकर ही सही, वनाया है। चूकि उसने अवतक अपनी सारी उन्नति समाज मे और समाज द्वारा ही की है, अत वह उसे छोड नही सकता, परन्तु केन्द्र मे व्यक्ति ही रहेगा, समाज उसकी परिधि है व रहेगा। व्यक्ति की उन्नति समाज का ध्येय है व समाज-हित व्यक्ति का कर्त्तव्य है। पूर्ण रूप से सामाजिक वन जाना, समाज की आत्माए अपनी आत्मा मे मिला देना, व्यक्ति की उन्नति की चरम सीमा है। व्यक्ति को इस दरजे तक अपनी उन्नति करने की अनुकूलता और सुविधा देना व उसे इस योग्य वनाना समाज के निर्माण का उद्देश्य है। जव व्यक्ति कुटुम्व, समूह, जाति या समाज वनाता है तव वह अपनी स्वाधीनता और सुख एक अंश तक कम करके ही ऐसा करता व कर सकता है। चूकि इस त्याग मे वह भारी लाभ व हित समझता है इसे वह स्वेच्छा से व खुशी-खुशी कर सकता है और इसे त्याग न कहकर कर्त्तव्य कहता है। जैसे-जैसे सामाजिक हित की सीमा वढती जाती है वैसे-ही-वैसे इस सुख-स्वतन्त्रता के त्याग की मात्रा भी वढती जाती है। यह त्याग किसी-न-किसी सामाजिक व्यवस्था नियम के रूप मे करना पडता है। और चूकि यह स्वेच्छा से होता है उसे वन्धन नही मालूम होता। मनुष्यो की इस त्यागशीलता या कर्त्तव्य-भावना पर ही समाज की स्थिति व उन्नति निर्भर करती है। यदि मनुष्य व्यक्तिगत लाभालाभ पर ही सदैव दृष्टि रक्खे तो समाज एक दिन न चल

सके, फलत किसी दिन व्यक्ति भी एक क्षण नही टिक मकेगा।

चूकि व्यक्ति व समाज इतना परस्पर सम्बद्ध, गुथा हुआ है, हमे ऐसी ही व्यवस्था व योजना करनी होगी जिसमे न समाज के कारण व्यक्ति की उन्नति रुके, न व्यक्ति के कारण समाज की सुरक्षितता व व्यवस्था में बाधा पडे। दोनो परस्पर सहायक व मखा वनकर ही रहे, विघातक व विनाशक न वनने पावे। वे कान-मे नियम व सिद्धान्त है जिनके अवलम्बन से यह कार्य भली-भाति सिद्ध हो सके ?

इसके लिए पहले हमे मनुष्य के त्याग व भोग की सीमा निश्चित करनी होगी, क्योकि यदि भोग की ओर ध्यान न दिया जायगा तो वह सुख या तृप्ति अनुभव न करेगा, अत हो सकता है कि उसके जीवन का एक महान् आकर्पण लुप्त हो जाय जिससे उसे जीवन मे कोई रस न मालूम हो पावे। इधर त्याग पर जोर न दिया जायगा तो समाज की स्थिति व प्रगति अटक जायगी, समाज की जड ही सूख जायगी। व्यक्तियो की स्वेच्छा से किये त्यागरूपी मधुर-जीवन-रस से ही समाज लहलहाता है। इसके लिए हम यह सामान्य नियम स्थिर कर सकते है कि मनुष्य उतने भोग भोगे जितने ममाज के हित मे बाधा न पहुचाते हो व समाज मनुष्य से उतना त्याग चाहे जितना उसकी रक्षा, स्थिति, व्यवस्था, सुदृढता के लिए परम आवश्यक हो, और जो व्यक्ति मुख्यत खुशी-खुशी देना चाहे। इसमे दवाव व जवरदस्ती से जितना कम काम लिया जायगा उतना ही समाज-जीवन अधिक सरल, सुखद ओर सतोपप्रद होगा। व्यक्ति ममाज को अधिक देकर उससे कम लेने की प्रवृत्ति रक्खेगा व वढावेगा तो ममाज उसके वदले मे उसे अधिक भोग की सुविधा देने की ओर प्रवृत्त होगा, फिर भी व्यक्ति उसमे लाभ नही उठावेगा, क्योकि उसने किसी लालच से त्याग नही किया है, वल्कि कर्त्तव्य की व शुभ तथा श्रेय की भावना से ही किया है। इमी तरह समाज यदि व्यक्ति को अधिक चूसने की प्रवृत्ति रखने लगेगा तो व्यक्ति उसके प्रति विद्रोह करने के लिए मजवूर व तैयार हो जायगा, क्योकि उसने ममाज अपने चूसे जाने के लिए नही वनाया है।

अपनी स्थिति व उन्नति के अनुकूल समाज का रूप बनाना, स्थिर करना, बदल देना उसके अधिकार की बात है। अत एक तो इस नियम के पालने मे सचाई व हार्दिकता होना जरूरी है व दूसरे किसी प्रकार के दवाव, जबरदस्ती बलात्कार को प्रोत्साहन न मिलना चाहिए। इन दो सुदृढ सिद्धान्तो पर इसकी नींव बडे मजे मे डाली जा सकती है।

इस नियम से व्यक्ति व समाज का परस्पर सम्बन्ध तो नियमित हो गया, परन्तु अभी तक व्यवहार मे सुगमता न पैदा हुई। मनुष्य किस अनुपात से समाज से ले और किस अनुपात से उसे दे? दूसरे शब्दो मे कितना श्रम या कर्म वह करे व कितना सुख या भोग वह भोगे तथा समाज के सचालन मे उसका क्या व कैसा हिस्सा रहे? इसका निर्णय हमे व्यक्ति की इच्छा, शक्ति व योग्यता के आधार पर करना होगा, क्योकि भोग का सम्बन्ध उसकी इच्छा या अभिलाषा से है। श्रम या कर्म उसकी शक्ति पर व समाज की व्यवस्था तथा सचालन मे उसका योग-दान, उसकी योग्यता पर अवलम्बित रहता है। भोग हमे अनावश्यक रूप मे रोकना नही है। शक्ति पर इतना ज्यादा ज़ोर पडने देना कि मनुष्य थक जाय, मुनासिब, वाछनीय और हितकर नही है, और अयोग्य के हाथ मे समाज की व्यवस्था व सचालन देना समाज को अस्त-व्यस्त कर देना है। अत भोग अर्थात् सुख-साधन की व श्रम या कर्म-शक्ति की तथा योग्यता व सभ्यता के नाम की कम-से-कम व अधिक-से-अधिक सीमा बना देना उचित होगा। कम-से-कम भोग की हमे गारण्टी व अधिक-से-अधिक जो तय कर दिया जाय उसकी सुविधा करनी होगी। कम-से-कम श्रम या कर्म अवश्य किया जाय, इस पर जोर देना होगा व अधिक-से-अधिक के लिए प्रोत्साहन व कद्रदानी की व्यवस्था करनी होगी। इसी तरह कम-से-कम योग्यता अनिवार्य रूप से चाही जायगी व अधिक-से-अधिक का सत्कार किया जायगा व ऐसी योग्यता प्राप्त करने-कराने की सुविधा देनी व करनी होगी।

जीवन विकास के पथ पर भली-भाति विना विघ्न-बाधा के चल

सके, यह भोग की न्यूनतम सीमा हुई, व जीवन सुखी, सन्तुष्ट और तेजस्वी हो यह अधिकतम सीमा हुई। कम-से-कम ६ घण्टा (शारीरिक या मानसिक) श्रम न्यूनतम, व ८ घण्टा श्रम अधिकतम सीमा रखना अनुचित न होगा। इसी तरह श्रम, साक्षरता, सुस्वास्थ्य योग्यता की कम-से-कम नाप रहनी चाहिए। इसकी अधिक-से-अधिक मर्यादा ठहराना असाध्य मालूम होता है। शक्ति-भर काम, आवश्यकतानुसार भोग व श्रमशीलता का समाज-व्यवस्था मे दखल, यह मजे का सूत्र बन सकता है। शक्ति या सामर्थ्य मनुष्य मे स्वभावत ही अलग-अलग दर्जे का होता है, परन्तु भोग की इच्छा सबमे प्राय एक-सी होती है। अत सत्ता व भोग का बटवारा समानता की भूमिका पर व काम या श्रम का बटवारा शक्ति की नीव पर करना उचित होगा। इसका यह अर्थ हुआ कि भोग व सत्ता का सबको समान अधिकार हो, समान सुविधा हो व काम उनकी शक्ति व सामर्थ्य के अनुसार ले लिया जाय। यह बहुत स्वाभाविक व्यवस्था बन सकती है।

७ : भारत का सन्देश

अब सवाल यह है कि भारत कब ऐसी व्यवस्था बनाने मे सफल होगा? कब वह दुनिया मे उसे फैलाने के लिए तैयार होगा ? यह बहुत कुछ इस बात पर अवलबित है कि भारत की शासन-सत्ता किनके हाथो मे होगी। अभी तक तो महात्माजी, प नेहरू, सरदार पटेल, डा राजेन्द्र प्रसाद सरकार के विधाता थे। इनमे प० जवाहरलाल समाजवाद का आदर्श रखनेवाले है। महात्माजी उनसे एक कदम आगे, अपरिग्रह के पुजारी थे। ऐसी दशा मे यह बेखटके कहा जा सकता है कि हमारी सरकार मे सर्व-साधारण की ही आवाज प्रबल रहेगी, धन-बल और शस्त्र-बल की नही। धन-बल या पूजीवाद भारत मे है भी नही। धनियो के द्वारा एक किस्म का सर्व-साधारण का शोषण जरूर होता है, धनी खुद अपने को धन-बल पर बडा जरूर मानते है। दूसरे भी धन-बल के कारण धनियो से दबते है, पर फिर भी पूजीवाद भारत मे नही है। पूजीवाद के मानी है सगठित

धन-बल और उसका वहा की सरकार पर अमित प्रभाव, जिसका फल हो धनियो का दिन-दिन धनी बनते जाना और गरीबो का दिन-दिन गरीब बनते जाना। यह हालत भारत मे नही है। फिर यहा के व्यापारी या धनी अथवा जमीदारो ने स्वराज्य-सग्राम मे भी योग दिया और सरकार की स्थापना के समय उन्होने अपनी महत्ता या प्रभाव जमाने का प्रयत्न नही किया। यदि करते भी तो वे तभी सफल होने की आशा रख सकते थे, जब कोई बाहरी स्वतन्त्र पूजीवादी राष्ट्र उनकी पीठ पर होता। ब्रिटिश साम्राज्य को शिकस्त देने के बाद शायद ही कोई राष्ट्र इनकी सहायता करने के लिए तैयार होता। दूसरे यहा के व्यापारी या धनी इतने मूर्ख और देश-द्रोही नही है, जो ऐसे समय दूसरे राष्ट्रवालो से मिलकर जयचन्द का काम करते। इसलिए मुझे तो यह आशका बिलकुल नही है कि स्वराज्य-सरकार मे पूजीवादियो की प्रबलता होगी और सर्व-साधारण जनता को फिर अपनी पहुच करने के लिए दूसरी लडाई लडनी होगी, या जन-क्रान्ति करनी होगी और यदि करनी पडी भी तो जिस शक्ति ने सुसगठित साम्राज्य को ढीला कर दिया, वह क्या मुट्ठी-भर पूजीपतियो के कोलाहल या प्रभाव से दब जायगी ?

शस्त्र-बल या सेना-बल यो तो किसी के पास भारत मे रहा नही है—हा, देशी नरेशो के पास थोडी-सी सेना थी और वे शस्त्र-बल के प्रतिनिधि कहे जा सकते थे। लेकिन इसके बल पर वे भारतीय सरकार का मुकाबला करने मे सफल नही हो सकते थे।

वे अपनी जान बचाने के लिए शस्त्र-बल की कल्पना कर सकते थे, लेकिन वह असभव था। यदि सरकार के प्रति उन्होने बेरुखापन दिखाया होता तो वे अपने लिए सहानुभूति पाने की आशा कैसे रख सकते थे ? इसके अलावा देशी नरेशो की सख्या बहुत थी और उनमे इस बात पर एका होना मुश्किल था कि भारत मे जनता की ओर जनता के नेताओ की इच्छा के खिलाफ अपना राज्य जमा लेते। शुरूआत मे एका हो भी जाता तो अखीर मे बटवारे के या बडा राजा चुनने के समय आपस मे झगडा हुए बिना न रहता। फिर ऐसे देशभक्त राजा भी थे, जो ऐसी किसी कु-योजना का

हृदय मे विरोध करते।

इससे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि जो सरकार हमारी बनी है, वह जनता की बनाई हुई है और उसी का बोलबाला उसमे है। और जबकि घोर युद्ध और क्रान्ति के दिनो मे सत्य-प्रधान और अहिसात्मक साधनो से सफलता मिली है तब सरकार और समाज की बुनियाद इन्ही पर पडनी स्वाभाविक है। और जिसके मूलाधार सत्य और अहिसा है, वह नि सन्देह पूर्ण स्वतन्त्रता की इमारत होगी। भले ही शिखर तक पहुचने मे काफी समय लगे, पर उसकी बुनियाद और खम्भे उसीको लक्ष्य करके खडे किये जायगे। इस तरह सच्ची ओर पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर शीघ्र ले जानेवाली सरकार और ऐसी ही समाज की रचना का नमूना, यह ससार को भारत की नज़दीकी देन है—दूसरे शब्दो मे पूर्ण स्वतन्त्रता और उसके दो बडे पाये सत्य और अहिसा के बल पर खडे समाज का प्रत्यक्ष ढाचा, यह भारत का सन्देश ससार के लिए है। यह रूस के सन्देश से बढकर है।

८ : रूसी और भारतीय सन्देश

अब हम रूसी और भारतीय सन्देश की जरा तुलना कर ले। रूस ने साम्यवाद या कम्युनिज्म का नमूना ससार को दिखाया है। वह आदर्श समाज मे किसी सरकार की आवश्यकता नही मानता। वह पूजीवाद को या सम्पत्ति के असमान बटवारे को समाज की सारी बुराई की जड मानता है। इसलिए उसकी आदर्श सरकार मे किसानो और मजदूरो की ही पहुच है, धनी-मानी लोग उससे महरूम रक्खे गये है। उनकी सरकार मे मत देने का अधिकार उसीको है, जो खुद काम करता हो। जो ठलुए बैठे रहते है, या दूसरो की कमाई पर गुलछर्रे उडाते है, उनकी कोई आवाज सरकार मे नही है। सम्पत्ति का समान बटवारा करने की गरज से उन्होने किसी को खानगी मिल्कियत रखने का अधिकार नही रक्खा है—अभी कुछ समय तक पुराने लोगो को अपनी सम्पत्ति

रख छोड़ने का अपवाद कर दिया गया है, पर सरकार में उन्हें राय देने का अधिकार नहीं है। इसके अलावा जमीन-जायदाद, कल-कारखाने सब राज्य के अधीन कर दिये गये हैं। काम करने के एवज में नकद पैसा किसी को नहीं मिलता। सरकार की ओर से दूकानें खुली हुई हैं, वहां से खाद-कपड़े वगैरा जरूरी चीजें सबको मिल जाती हैं। व्यापार और उद्योग-धन्धे भी सरकार के ही अधीन हैं। आदर्श समाज में उन्होंने सब तरह की हिंसा का बहिष्कार माना है, किन्तु अभी सन्धिकाल में, हिंसा-बल की आवश्यकता सरकार में समझी गई है। समाज-रचना में ईश्वर और धर्म के लिए कोई जगह नहीं रक्खी गई है और विवाह-प्रथा को उठाकर स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध को बहुत आजादी दे दी है। एक स्त्री का कई पुरुषों से और भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषों का भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषों से सम्बन्ध रह सकता है। सन्तति के पालन-पोषण व शिक्षण का भार राज्य पर है।

जहां तक सर्वसाधारण की सुख-सुविधा-स्वतन्त्रता का सम्बन्ध है, उससे पहले की शासन-प्रणालियों की अपेक्षा यह निःसन्देह बहुत दूर तक जाती है। साधन और ठीक-ठीक जानकारी के अभाव में यह राय कायम करना अभी कठिन है कि वह प्रयोग रूस में कितनी सफलता के साथ हो रहा है। अच्छा तो यह हो कि हमारी राष्ट्रीय सरकार की ओर से एक शोधक-मण्डल भारत से रूस भेजा जाय और वहां वह सभी दृष्टियों से नवीन प्रयोगों का अध्ययन करे और फिर उससे यहां लाभ उठाया जाय। फिर भी शासन के बुनियादी उसूलों के गुण-दोष पर विचार करके इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि साम्यवाद पिछले तमाम वादों की अपेक्षा, सामाजिक स्वतन्त्रता में, बहुत आगे का कदम है। किन्तु साथ ही वह पूरा कदम नहीं है।

पीछे के अध्यायों में हमने देखा कि जबतक सत्य और अहिंसा को मूलाधार न माना जाय और इन पर अमल न किया जाय तबतक पूर्ण और सच्ची स्वतन्त्रता का आना और निभना कठिन है। इसके अलावा एक और बात है, जिसमें सोवियट-प्रणाली अधूरी है। सामाजिक अध्य-

वस्था, विषमता या अशान्ति की असली जड सम्पत्ति का असमान बटवारा नही, बल्कि परिग्रह की वृत्ति है। साधारण आवश्यकताओ से अधिक सामग्री अपने पास रखना ही असली बुराई है। दूरदर्शी विचारको ने इसे चोरी कहा है। समान बटवारे के मूल मे भोगेच्छा और उसके फलस्वरूप कलह शेष रह जाता है। पक्षान्तर मे, अपरिग्रह दोनो की जड मे कुठाराघात करता है। समान बटवारा एक ऊपरी इलाज है, अपरिग्रह मनुष्य की इच्छा पर ही सयम लगाना चाहता है। एक बाहरी बन्धन है, दूसरा भीतरी विकास। समान बटवारा जीवन के माप-दण्ड पर कोई कैद नही लगाता, सिर्फ सम्पत्ति के समान रूप मे बट जाने का निर्णय उसे चाहिए। इसके विपरीत अपरिग्रह जीवन की साधारण आवश्यकताओ तक ही मनुष्य को परिमित बना देना चाहता है। अतएव इसमे मनुष्य के लिए स्वेच्छापूर्वक त्याग, सयम और उसके फलस्वरूप सामाजिक तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता अधिक रहेगी।

पूर्ण स्वतन्त्रतावादी और समाजवादी मे एक यह भी अन्तर है कि पहला अहिसा को शुरू से लेकर अन्त तक अनिवार्य और अटल मानता है। यह कहना कि सक्रमण-काल मे अहिसा अनिवार्य है, यही नही बल्कि वह अन्तिम अस्त्र है, पूर्णस्वतन्त्रतावादी की समझ मे नही आता। आपद्धर्म के रूप मे जो बात स्वीकार की जाती है उसके समर्थन का और प्रचार का उद्योग कही नही किया जाता—अधिक-से-अधिक उसका तात्कालिक बचाव-मात्र किया जा सकता है, और उसे अन्तिम अस्त्र की महत्ता तो हर्गिज नही दी जा सकती। अतिम अस्त्र के मानी है सर्वोपरि अस्त्र। एक ओर अहिसा को सर्वोपरि अस्त्र मानना, और व्यवहार मे भी उसका इसी तरह इस्तेमाल करना, इस बात मे कैसे श्रद्धा पैदा कर सकता है कि हा, समाजवाद की अन्तिम अवस्था मे हिसा का पूर्ण अभाव रहेगा। अहिसा का वास्तविक लाभ और असली महत्व तो, अधिकाश रूप मे, सक्रमण-काल मे ही है, क्योकि जबतक आप समाज को अहिसा और सत्य की दीक्षा नही दे सकते तबतक आप किसी-न-किसी रूप मे सरकार—

गासक-संस्था—को स्वीकार किये विना नही रह सकते, जो कि साम्यवाद के आदर्ग के विरुद्ध है। और यह आगा करना भी अभी तो व्यर्थ-सा मालूम होता है कि जवरदस्त आर घोर हिंसा-वल के द्वारा एक क्रान्ति हो। उसी प्रकार यह आगा करना भी व्यर्थ-सा ही है कि हिंसा-वल के द्वारा आज भी गासन-संस्था का सचालन होना हो, फिर भी समाज मे अहिंसा दिन-दिन वढती ही जायगी। समाज मे अहिंसा तो तभी वढ सकती है, जव समाज के नेता गासन के सूत्रधार, अपने जीवन मे उसे परमपद दे, अहोरात्र उसके प्रचार मे रत रहे, उससे भिन्न या विपरीत भावो का उत्साह और वल अपनी साधना और व्यवस्था के द्वारा न वढने दे, वाहरी वल से किसी को न दवाया जाय, वल्कि भीतरी परिवर्तन से मनुष्य और समाज को ऊचा उठाया जाय, शान्ति-प्रिय वनाया जाय। इसके विपरीत यदि अग्रणी लोग खुद ही, उसके दाये-वाये हाथ सभी, मुह से आगे के लिए अहिंसा का नामोच्चारण करे, पर क्रिया मे सर्वदा हिंसावादी रहे तो इस पर कौन तो विश्वास करेगा और किस तरह समाज मे हिंसा-वृत्ति का लोप हो सकता है? यह तो जहर पिलाकर अमर वनाने का आश्वासन देना है। जहा असहिष्णुता इतनी वढी हुई हो कि विरोधी मत तक नही प्रकागित किया जा सकता, सो भी लोकमत के वल पर नही, वल्कि जेलखाने और पिस्तोल के वल पर, वहा हिंसा के नाश की वात एक मखौल ही समझी जा सकती है। मुझे तो यह वाते परस्पर-विरोधी और एक-दूसरे का घात करनेवाली मालूम होती है।

ईश्वर ओर धर्म पर पहले सविस्तर विचार हो ही चुका है। यहा तो सिर्फ इतना ही कहना काफी होगा कि रूस की नकल हिन्दुस्तान मे यो नही हो सकती—महज इसलिए नही कि दोनो जगहो की परिस्थितियो मे ही अन्तर है, वल्कि इसलिए भी कि समाजवाद के माने गये उसूलो मे ही अव्वल तो कमी है और दूसरे उसके साधन भी शुद्ध और आदर्श तक ले जाने वाले नही है। इस कमी को पूरा करना भारतवर्ष का काम होगा। वह संसार को समाजवाद का नमूना नही, वल्कि पूर्ण स्वतन्त्रता

की झलक दिखावेगा। सत्य और अहिंसा उसके पाये होंगे और अपरिग्रह उसका व्यावहारिक नियम। वह सिर्फ अमीरो की जगह गरीबो का राज्य नही कायम करेगा, सिर्फ तख्ता नही उलट देगा, बल्कि सर्वोदय का प्रयत्न करेगा—शासन-संस्था बनेगी और रहेगी तो ऐसी कि किसी वर्ग-विशेष या जाति-विशेष से द्वेष न होगा, और जब शासन-संस्था को मिटाने का समय आ जायगा तब कोई किसी का हाकिम या शासक नही रहेगा, बल्कि सब अपने-अपने घर के राजा रहेगे और होगे। यही ससार को भारत का सन्देश होगा।

९ : भारत की स्वतन्त्र सरकार

तो स्वतन्त्र भारत की जनतन्त्री सरकार कैसी होनी चाहिए? वह जनता की सरकार होनी चाहिए, फिर भी वह ऐसी न हो जिसमे किसानो और मजदूरो के अलावा किसी की पहुच और गुजर ही न हो। उसमे राय देने का अधिकार केवल 'श्रम' पर नही, बल्कि 'सेवा' पर हो। आलस्य, परोपजीवन, निकम्मापन, तिरस्कृत हो। श्रम, उद्योग, काम, सेवा का आदर-मान हो। सग्रह की जगह पर अपरिग्रह या त्याग उच्चता की कसौटी हो। भाषा, सस्कृति आदि के आधार पर प्रान्त या सूबो की रचना हो। वे अपनी शासन या समाज-व्यवस्था मे स्वतन्त्र हो और यही नियम तथा प्रवृत्ति ठेठ गाव तक मे पहुँचाई जाय। हर गाव अपने हर भीतरी काम मे स्वतन्त्र हो, सिर्फ दूसरे गावो की अपेक्षा मे ऊपरी सत्ता के अधीन हो। अपने काम और विकास के लिए वह स्वतन्त्र हो और यो सब गाव परस्पर सहयोगी हो। यही नियम कुटुम्ब, सस्था और व्यक्ति पर भी चरितार्थ हो। हर शख्स अपने काम मे स्वतन्त्र, दूसरे की अपेक्षा से सहयोगी और सयमी हो। हर चीज अपनी जरूरत के लिए स्वाश्रयी और दूसरे के सम्बन्ध मे पराश्रयी हो। सेना कुछ काल तक रखनी पडेगी, पर वह स्थायी नही, राष्ट्रीय-स्वयसेवक-सेना हो। उसका काम अपने ही लोगो को या पडोसियो को दबाना, डराना

और हठपना नही, बल्कि भीतरी और बाहरी आक्रमणो या ज्यादतियो से देश और समाज की रक्षा करना होगा। पुलिस हिफाजत के लिए और जेले अपराधियो के सुधार के लिए होगी। उनके भाव राष्ट्रीय सेवा के होगे, न कि तनख्वाह पकाने और जोर-जुल्म करने के। शिक्षा सार्वजनिक हो—योग्य और समर्थ नागरिक बनने के लिए, न कि कारकुन, गुलाम और गली-गली भटकने वाला बनाने के लिए। स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर सब समान-रूप से शिक्षा पाने के अधिकारी हो। समाज और सरकार में, सार्वजनिक जीवन मे, मनुष्य-मात्र मे समान अधिकार हो। पेशे या जन्म के कारण कोई अछूत या नीच न समझा जाय। व्यापार-धन्धा व्यक्ति-हित के लिए नही, बल्कि देश-हित और समाज-हित के लिए हो। व्यापार-उद्योग और भिन्न-भिन्न देशो मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होगी, पर उनकी आन्तरिक भावना और वृत्ति स्वार्थ-साधना की न रहेगी। धनी, व्यापारी, उद्योगपति, अपने को मालिक नही, ट्रस्टी समझे। 'सत्य और अहिंसा के द्वारा पूर्ण स्वतन्त्र होना' नागरिकता का ध्येय हो। मनुष्य-यन्त्र को पूरा काम मिलने के बाद जड-यत्रो से काम लेने का नियम रहे। देश की आवश्यकता से अधिक होने पर ही कच्चा माल बाहर भेजा जा सके। घरेलू उद्योग-धन्धो मे जो चीजे न बन सके और जिनकी राष्ट्र के लिए परम आवश्यकता हो उन्हीके लिए बडे कल-कारखाने खोले जाय। मुख्य उद्योग सरकार के तत्त्वावधान मे चले। व्यापार-उद्योग स्पर्धा और मालामाल होने के लिए नही, बल्कि समाज की सुविधा, सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए हो। हर व्यक्ति हर काम अपने लिए नही, बल्कि समाज के लिए करेगा। अपने काम मे वह स्वतन्त्र तो होगा, पर उसका जीवन अपने लिए नही, बल्कि समाज के लिए होगा। जमीन का मालिक गाव रहेगा। किसान केवल अपने ही नही, गाव के हित में जमीन जोतेगा और पैदावार का उपयोग करेगा। खेती के खर्च और उसकी साधारण आवश्यकता से अधिक जो रकम बचेगी उसका नियत अश लगान के रूप मे लिया जायगा। मनुष्य की साधारण आवश्यकताओ के नियम बना दिये जायगे और उससे

अधिक आय या बचत पर राज्य-कर लगाया जायगा। जमींदारो और साहूकारो की पद्धति उठा देनी होगी और गावो की पचायत की तरफ मे किसान आदि प्रसगोपात्त सहायता देने की व्यवस्था कर दी जायगी। गिरी, पिछडी और जरायमपेशा जातियो के सुधार के लिए विशेष प्रयत्न किया जायगा। धार्मिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता रहेगी। ईश्वर और धर्म के सम्बन्ध मे कोई विधि-निषेध न होगा। हा, जीवन को नियमित बनाने पर अलबत्ता पूरा जोर दिया जायगा। विवाहित जीवन और कुटुम्ब रहेगा, पर वह शरीर सुख और स्वार्थ के लिए नही, नैतिक और सामाजिक उन्नति तथा आत्मिक सुख के लिए होगा। स्वार्थ नही, बल्कि समाज-सेवा का एक लक्ष्य होगा। दबाव नही, बल्कि निर्भयता सबकी एक वृत्ति होगी। प्रत्येक कुटुम्ब और गाव को आवश्यक अन्न, दूध, घी, फल, साग, वस्त्र, शिक्षा, ओषधि, स्थान, जलवायु आदि भरण-पोषण, शिक्षण और रक्षण की सामग्री अबाध रूप मे मिलती रहे—ऐसा प्रबन्ध होगा। रेल, तार, जहाज, डाक देश को लूटने के लिए नही, बल्कि देश की सुविधा, आराम और उन्नति के लिए होगे। ग्राम आबाद करने और बसाने का अधिक उद्योग होगा, शहरो को फैलाने का नही। साराश यह कि मनुष्य जीवन और जीवन-व्यवस्था सरल, सुगम और सुखकर रहे, इस बात की ओर विशेष ध्यान रक्खा जायगा।

मेरी समझ के अनुसार, भारत की स्वतन्त्र सरकार की कार्य-दिशा ऐसी होनी चाहिए।

१० : ग्राम-रचना

अपनी सरकार बनते ही सबसे पहले ग्राम-रचना की ओर ध्यान गया है। अभी गाव जिस तरह बसे हुए है उसमे न तो कोई तरीका ही दीख पडता है, न सफाई का ही ध्यान रक्खा गया है। मकानो मे काफी हवा और प्रकाश नही रहता। गाव आसपास की जमीन से कुछ ऊचाई पर होने चाहिए। कतार और सिलसिले से मकान बने हो, रास्ता काफी चौडा हो,

पनाले हो, गोवर और खाद के लिए पूर्व या दक्षिण दिशा मे एक जगह मुकर्रर हो। मनुष्य के पाखाने और पेशाव का कोई उपयोग गावो मे नही होता। इसलिए खेतो पर चलते-फिरते पाखानो का प्रवन्ध हो और यह नियम रहे कि सिवा वीमार के कोई इधर-उधर पाखाने न वैठे। पशु-शाला भी स्वच्छ-सुघड रहे। ग्राम-पाठशाला मे पशु-रक्षण और पशु-चिकित्सा भी पढाई जाय। खेती और उद्योग-धन्धो का पुस्तकीय और अमली ज्ञान कराया जाय। सर्वसाधारण का एक उपासना-मन्दिर रहे। उपासना ऐसी हो, जिसमे सव धर्मो, मजहवो और जातियो के लोग आ सके। घर मे अपनी-अपनी विशिष्ट पद्धति से पूजा-अर्चा करने की स्वाधीनता प्रत्येक व्यक्ति और कुटुम्ब को रहे। गाव की एक पचायत हो, जिसमे सभी जाति-पाति और पेशे के वालिग लोगो को चुनाव का अधिकार हो और प्रतिवर्ष उसका चुनाव हुआ करे। प्रतिनिधि-मण्डल की, पचायत की वैठक नियत समय पर हो, जिसमे आपस के लडाई-झगडे, स्वच्छता, औषधि, पाठशाला, उपासना-मन्दिर, गोशाला, खेती-सुधार आदि ग्राम-सम्बन्धी सभी विषयो पर विचार और निर्णय हो। अन्याय और अत्याचार की अवस्था मे हलके की बडी पचायत मे अपील हो। कई गाव मिलकर हलके हो और कई हलके मिलकर तहसील। इसी तरह कई तहसील मिलकर जिला और जिलो से प्रात आदि हो। प्रान्त-विभाजन भाषा और सस्कृति के आधार पर हो। ग्राम-सभ्यता के विकास की ओर पूरा ध्यान दिया जाय। ग्रामो के कारण स्वतत्रता विखरी हुई रहती है। शहरो के कारण एक जगह एकत्र हो जाती है। सत्ता या स्वतत्रता जितनी ही एकत्र या केन्द्रित होगी उतनी ही जनता या सर्वसाधारण की पराधीनता वढेगी। नगरो की वृद्धि से घनी आवादी, कुटिलता, कृत्रिम साधन, अनीतिमय जीवन, दुर्व्यसन और परावलम्बिता वढती है। इसके विपरीत ग्राम-जीवन मे सरलता, स्वाभाविकता, स्वावलम्बन, सुनीति और सुजनता का विकास होता है।

प्रत्येक गाव की जमीन निश्चित हो और वह आवश्यकतानुसार

प्रत्येक कुटुम्ब मे वटती रहे। मनुष्य के जीवन का—रहन-सहन का—एक साधारण नमूना वना लिया जाय और उसके अनुसार सबको सब बाते सुलभ कर दी जाय। जमीन मे किसान सब तरह की आवश्यक चीजे पैदा करे और अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति होने के बाद उन्हे वेचे। लगान सिर्फ उतना ही हो, जितना छोटी या वडी पचायतो के खर्च आदि के लिए जरूरी हो या वचत का एक उचित अश मात्र लिया जाय। किसान खुद ही नियत समय पर पचायत मे लगान दे आया करे। लडाई-झगडे या अन्याय-अत्याचार की अवस्था मे ही पचायत किसी के जीवन मे हस्तक्षेप करे। परस्पर सहयोग का भाव प्रवल हो। दूध-घी की इफरात हो। कोई चीज गाव के बाहर तभी जाय, जब उसकी आवश्यकता गाववालो को न हो या दूसरे गाववालो का जीवन उसके विना कठिन और असम्भव होता हो। पचायत या राष्ट्र के खर्च के अलावा और किसी प्रकार का कर या लगान किसान पर न हो, यो पचायत का सब काम नियमाधीन हो, परन्तु यदि कोई ऐसा नियम किसी प्रकार वन गया हो जिससे लोगो का अहित होता हो, या अनीतिमय हो, तो व्यक्तियो को उसे तोडने का अधिकार हो, बशर्ते कि वे उसकी सजा पाने को तैयार हो। ऐसे कानून-भग का अधिकारी वही मनुष्य हो सकता है, जो सब दशाओ मे ओर नियमो का पूरा-पूरा पालन करता हो। ग्राम मे एक पुस्तकालय हो, जिसमे प्रान्त के अच्छे अखबार, प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय भाषाओ की आम पुस्तके, मासिक पत्र रहे और उसके लिए कोई फीस न रहे।

प्रत्येक ग्रामवासी पहले अपने को मनुष्य, फिर हिन्दुस्तानी, फिर किसी जाति-पाति या पेशे का माने। अपने ग्राम-सम्बन्धी कर्त्तव्यो का पालन करते हुए भी वह हलके, तहसील, जिला, प्रान्त या देश-सम्बन्धी कर्त्तव्यो के पालन मे उदासीन न रहे। राष्ट्र या प्रान्त की पुकार पर वह सबसे पहले दोडे। ग्राम-कार्यो मे वह स्वतत्र और देश-कार्यो मे परस्पराश्रित रहे। उसके जीवन मे आवश्यकता की प्रधानता रहे, शौक

की नही। सुन्दरता, कला और सुघडता का वह प्रेमी हो, पर विलासिता, कृत्रिमता और इच्छाओ का गुलाम नही। तम्बाकू, अफीम इन दुर्व्यसनो को वह छोड दे और चाय, काफी को अपने गाव मे न घुसने दे। वह परिश्रमी और कार्य-रत हो—ठलुआ, आलसी और बेकार नही। शारीरिक श्रम ही उसका जीवन होने के कारण अलग व्यायामशाला या खेलो की उसे आवश्यकता न हो। खेतो और जगलो मे काम करना उसके लिए व्यायाम, मनोरजन और कमाई सब एक साथ हो। खेती से जब फुरसत मिले तो वह कपडे, रस्सी, टोकरी, मकान तथा औज़ार-बनाई मे अपना समय लगावे। कताई घर-घर मे हो और बुनाई गाव-गाव मे। नमक, दियासलाई और मिट्टी का तेल—इन तीनो चीजो को छोड कर शेष सब चीजे प्राय प्रत्येक ग्रामवासी अपने गाव मे पैदा कर ले। बुननेवाले, जूता बनानेवाले, लकडी का काम करनेवाले अलहदा हो भी तो उनमे किसी प्रकार की घृणा न करे। गन्दगी और बुराई मे नफरत हो, न कि किसी व्यक्ति या जाति मे। गाव के कामो के लिए मजदूरी की प्रथा न हो, बल्कि एक-दूसरे के सहयोग से खेती-बाडी के तथा सामाजिक काम होते रहे। अव्वल तो जमीन और धन्धो का बटवारा या प्रबन्ध ही इस तरह होगा कि जिससे गाव मे या आसपास किसी को अपना पेट भरने के लिए चोरी, डाका आदि न करना पडे, फिर भी जबतक ऐसी स्थिति न हो जाय तबतक गाव के युवक खुद ही बारी-बारी से गाव की चौकी देते रहे। सब जगह आवश्यकता-पूर्ति ही मुख्य उद्देश्य हो—इसलिए नमक, तेल, दियासलाई, रुई आदि गावो मे सहज ही न आनेवाली चीजो के अलावा और चीजो की खरीद-बिक्री स्वभावत नही के बराबर होगी। इससे उन्हे सिक्के, नोट आदि की जरूरत भी बहुत कम रह जायगी। जीवन के लिए आवश्यक प्राय सब बातो का सान्निध्य होगा, इसलिए नैतिक जीवन अपने आप अच्छा और ऊचा रहेगा, क्योकि जब जीवन की आवश्यकताओ का स्वाभाविक और सीधा मार्ग रुक जाता है तभी मनुष्य नीति और सदाचार से गिरने लगता है। अग्रेजी राज्य मे भारत का जितना नैतिक

अध पतन हुआ है उतना न तो मुसलमानो के काल मे था, न उनमे पहले। वल्कि चन्द्रगुप्त के काल मे तो यहा मकानो मे ताले तक न लगते थे। सरकार अपनी व जनता की हो जाने के वाद हर गाव की यह स्थिति हो सकती है कि न मकानो मे ताले लगे, न गाव मे चौकी देनी पडे।

कैसा लुभावना है यह गाव का दृश्य! क्यो न हम आज ही से ऐसे गाव वनाने मे अपना दिमाग और दिल दौडावे?

११ : उपसंहार

यहा तक हमने स्वतन्त्रता के सच्चे स्वरूप, उसके प्रकाश मे समाज व शासन-व्यवस्या के वास्तविक आधार व उनके सावनो की भरसक जानकारी प्राप्त कर ली। इससे हमे अपने व समाज के जीवन की सच्ची दशा व उनके प्रति अपने कर्तव्यो का भी भान हुआ। अब उपसहार मे हम इतना और देख ले कि भारत के सामने इस समय प्रधान समस्या क्या है और वह कैसे हल हो सकती है। इस समय केन्द्र मे काग्रेसी या राष्ट्रीय सरकार है। प्रातो मे लोकप्रिय सरकारे काम कर रही है। सबके सामने तात्कालिक प्रश्न है देश की भीतरी दशा को ठीक करना और रही-सही गुलामी के बन्धनो को तोड फेकना।

भीतरी व्यवस्था मे यह प्रश्न सामने आयगा व आ रहा है कि उसका स्वरूप समाजवादी हो या गाधीवादी अथवा जनवादी या डा० भारतन् कुमारप्पा के शब्दो मे गाववादी? दूसरे शब्दो मे, हमे केन्द्रीकरण की ओर जाना है या विकेन्द्रीकरण की ओर? समाजवाद का निश्चित परिणाम होगा केन्द्रीकरण जब कि गाधीवाद विकेन्द्रीकरण चाहता है पूजीवाद व साम्राज्यवाद की मुख्य बुराई है केन्द्रीकरण। वह समाजवाद मे कायम रहती है। वडे पैमाने पर माल वनाना याने वडे-वडे कारखाने रखना, केन्द्रीकरण का ही नमूना है। यदि हमे जनता के केवल ऊपरी सुख व समानता की ही ओर देखना हो तब तो समाजवाद मे कुछ हद तक हमारा काम चल जायगा, परन्तु यदि हमे उसे

स्वावलम्वी, सतेज, आत्म-विश्वासी, आत्म-रक्षक, निर्भय, न्यायपरायण, शान्ति-प्रेमी वनाना हो तो समाजवाद उसमे लगडा सावित होगा । उसकी पूर्ति गाधीवाद से ही, पूर्ण स्वतन्त्रता का जो आदर्श इस पुस्तक मे उपस्थित किया गया है, उससे हो सकती है । जवतक हम सम्पत्ति और सत्ता दोनो की व्यवस्था मे विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त से काम न लेगे तवतक हम जनता मे सच्ची शान्ति, समता व स्वतन्त्रता का राज्य न स्थापित कर सकेगे । इस व्यवस्था मे जो भी सरकार वनेगी वह शासक-मण्डल नही, व्यवस्थापक-मण्डल रहेगी या यो कह लीजिये कि वह जनता व समाज के ट्रस्टी के रूप मे काम करेगी । आदर्श समाज मे सम्पत्ति तो रहेगी ही और उसकी व्यवस्था समाज को करनी पडेगी । यह दो तरह से हो सकती है, एक तो खुद सरकार कुछ सम्पत्ति की ट्रस्टी वने, दूसरे कुछ की रक्षा का भार व्यक्तियो पर ही रहने दे । मूलभूत उद्योग—उत्पादन के साधन (Key Industries) सरकार के नियन्त्रण मे रहे, दूसरे काम-धन्धे लोगो के हाथो मे रहे व चले । ये लोग उनके मालिक नही, ट्रस्टी रहे । अर्थात् ट्रस्ट के दो रूप हुए—एक सामूहिक या सामाजिक रूप, दूसरा वैयक्तिक रूप । आज भी कानून मे ट्रस्टियो पर कुछ जिम्मेदारिया है, जिनका पालन करने के लिए ट्रस्टी राज-नियमानुसार वधे हुए है । आदर्श व्यवस्था मे भी जो व्यक्ति छोटे-वडे काम-धन्धे करेगे वे राज-व्यवस्था के अनुसार उनके ट्रस्टी होगे और राज-नियमानुसार उसका सचालन करते हुए अपने कर्तव्यो का पालन करेगे । हा, ट्रस्ट-कानून मे अलवत्ते जरूरी सुधार करने होगे ।

फिर भी आदर्श या भावी समाज-व्यवस्था के वारे मे आज तो हम एक कल्पित चित्र ही पेश कर सकते है । वुनियादी उसूल ही असली चीज है, व्यवस्था व योजनाओ के स्वरूप व कानून तो हमारी विकसित स्थितियो के अनुसार वदलते रहेगे । आज तो हमारे लिए यह निर्णय कर लेना जरूरी है कि हम केन्द्रीकरण को ओर वढे या विकेन्द्रीकरण की ओर ? पूर्ण स्वतत्रता का आदर्श हमे विकेन्द्रीकरण की ओर ही उगली दिखाता है ।

परन्तु इस पुस्तक के पढ लेने मात्र से हमारे उद्देश्य की सिद्धि नही

हो जायगी ।

वह तबतक नही हो सकती जबतक अपने विचार या ज्ञान के अनुकूल हमारा आचरण नही होता। जानकारी या ज्ञान बहुत हो गया, विचार बहुत अच्छे है, भावनाए बहुत शुद्ध और ऊची है, परन्तु आचरण व पुरुषार्थ यदि वैसा नही है तो वह उस खजाने की तरह है, जिसका ताला बन्द है। उससे न अपने को ही विशेष लाभ होता है, न जन-समाज को ही। इसके विपरीत यदि हम कार्य तो बहुतेरे करते रहे, किन्तु यदि वे ज्ञान-युक्त नही है, विवेक और विचारपूर्वक नही किये जाते है तो उसका परिणाम भी पहाड खोदकर चूहा निकालने के बराबर हो जाता है, क्योकि यदि निर्णय आपका ठीक नही है, कार्य-प्रणाली निर्दोष नही है, कार्यक्रम विधिवत् नही है, मूल-प्रेरणा शुद्ध नही है तो आपके कार्य का फल हरगिज ऐसा नही निकल सकता जिससे आपके या समाज के जीवन का विकास हो, उनकी गति स्वतत्रता या सम्पूर्णता की ओर बढे। जैसा आपका सकल्प होगा, वैसे ही आप अपने कार्य को, फलत अपने को बनावेगे। सकल्प तभी अच्छा हो सकता है जब चित्त शुद्ध हो। चित्त-शुद्धि का एक ही उपाय है, राग और द्वेष से अपने को ऊपर उठाना। कहा ही है—

'क्रियासिद्धि सत्वे भवति महता नोपकरणे।'

अर्थात्—सरलता बाहरी साधनो पर नही, बल्कि मनुष्य के सत्व पर यानी शुद्ध बुद्धि और शुद्ध भाव पर अवलम्बित है।

ऐसी दशा मे पाठक यह समझने की भूल न करे कि इस पुस्तक को पढ लिया और बस अपना कर्त्तव्य पूरा हो गया, बल्कि सच पूछिए तो उसके बाद उनका कर्त्तव्य आरम्भ होता है। यदि इसके द्वारा उन्हे अपने जीवन की ठीक दिशा मालूम हो जाय और उन्हे अपना कर्तव्य सूझ जाय तो तुरन्त ही उन्हे तदनुकूल अपना जीवन-क्रम बनाने मे तत्पर हो जाना चाहिए। उसके बिना उन्हे न इस पुस्तक का, न अपने जीवन का ही सच्चा स्वाद मिल सकेगा। उन्हे जान लेना चाहिए कि जीवन कोई खिलवाड या मनो-रजन अथवा आमोद-प्रमोद की वस्तु नही है। वह बहुत गम्भीर और पवित्र

वस्तु है जो हमे वरसो की सस्कृति के साथ विरासत मे मिली है और हमे, सच्चे और अच्छे उत्तराधिकारी की तरह, उसकी शुद्धि और वृद्धि करनी है। जिस प्रकार एक विद्यार्थी जी-जान से सचिन्त रहकर परीक्षा की तैयारी करता है, या वह पिता—जिसकी लडकी का व्याह होता हो, एक क्षण की भी विश्रान्ति या निश्चिन्तता के विना, एक के वाद दूसरे कार्य मे लग जाता है, उसी तरह एक मनुष्य जवतक एक नियत कार्यक्रम लेकर अपने जीवन को वनाने के लिए छटपटाएगा नही तवतक सम्पूर्णता और स्वतन्त्रता तो दूर, मनुष्यता की शुरुआत भी उससे नही हो सकती। अतएव मेरी उन तमाम भाई-वहनो से, जिनके हाथ मे यह पुस्तक पड जाय, साग्रह प्रार्थना है कि वे पुस्तको के साथ ही महापुरुषो के जीवनो को भी पढे। महापुरुष इसीलिए आते है कि अपने महान् उदाहरण और कर्म-कौशल के द्वारा जगत् और जीवन को कर्म की सच्ची दिशा दिखावे। पुस्तके पढने से विचार-जागृति होती है, किन्तु महापुरुषो का प्रत्यक्ष जीवन और उनका सम्पर्क हमे तद-नुकूल जीवन वनाने की ओर ले जाता है और हमारा वर्षो का कार्य महीनो और कभी-कभी तो मिनटो मे पूरा हो जाता है। हम सिद्धान्त, आदर्श तथा ज्ञान की वहुतेरी वाते जान और मान तो लेते है, परन्तु हमे उनकी सचाई का, वास्तविकता का, या व्यावहारिकता का इत्मीनान महापुरुषो के जीवनो से ही अच्छी तरह होता है। पुस्तक तो उनके अनुभव या आविष्कृत ज्ञान का एक जड और अपूर्ण सग्रह-मात्र हो सकती है। इसलिए जीवन वनाना हो, जीवन को सुखी, स्वतत्र और सम्पूर्ण वनाना हो तो अपने काल के महापुरुषो के प्रत्यक्ष जीवन को पढो, उनके स्फूर्तिदायी सम्पर्क और ससर्ग से अपने जीवन मे चैतन्य को अनुभव करो एव अपनी-अपनी आत्मा को विश्वात्मा मे मिला दो, योग-साधक अरविन्द ने क्या खूव कहा है—

'है ये तीनो एक—ईश, स्वातन्त्र्य, अमरता,
आज नही तो कभी सिद्ध होगी यह समता।'

अरे ओ मानव! कव तेरे जीवन मे यह समता सिद्ध होगी?

●

परिशिष्ट

१ : 'जीव' क्या है ?

'जीव' के सम्वन्ध मे भिन्न-भिन्न विचार प्रचलित है। यहा हम उनको सक्षेप मे जान ले। यो शरीरवद्ध चैतन्य जीव कहलाता है। कुछ लोग कहते है—"परमात्मा के तीन गुण या विशेषण है—सत्, चित् , आनन्द। जीवात्मा मे सिर्फ दो सत्-चित् है । जीव सुख–दु खमय है। जीव अणु (विन्दु), परमात्मा विभु (सिन्धु) है। वाज लोगो के मत मे परमात्मा की सकुचित केन्द्रस्थ अहन्ता का नाम ही जीव है। कुछ की राय मे देश-काल से मर्यादित परमात्मा जीवात्मा है। शकराचार्य की सम्मति मे शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को जीव कहते है। कुछ लोग मानते है कि माया के परिणामस्वरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा जीव कहलाता है। गीता के अनुसार जीव परमेश्वर की परा प्रकृति अर्थात् उत्कृष्ट विभूति या अश है। इसे क्षेत्रज्ञान व प्रत्यगात्मा भी कहते है। जैन धर्म मे जीव आत्मा का वाचक है। वे जीव को सामान्यत दो प्रकार का मानते है वद्ध (ससारी) ओर मुक्त। वेदान्त के अनुसार अन्त करण से घिरा चैतन्य जीव है।

अद्वैत मत मे जीव स्वभावत एक है, परन्तु देहादि उपाधियो के कारण नाना प्रतीत होता है। परन्तु रामानुज-मत मे जीव अनत है, वे एक दूसरे से सर्वथा पृथक् है। माध्व मत मे जीव अज्ञान, मोह, दु ख, भयादि दोषो से युक्त तथा ससारशील होते है। निम्वार्क-मत मे चित् या जीव ज्ञान-स्वरूप है। वल्लभ-मत के अनुसार जव भगवान् को रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है तव वे अपने आनदादि गुणो के अशो को तिरोहित करके स्वय जीव-रूप ग्रहण कर लेते है।

श्री किशोरलाल मशरूवाला ने 'जीवन-शोधन' मे जीवात्मा परमात्मा का भेद इस प्रकार बताया है चैतन्य दो प्रकार से हमे उपलब्ध होता है—एक तो सजीव प्राणियो मे देखा जाने वाला, दूसरा स्थावर, जगम तथा जड-चेतन सारी सृष्टि मे व्याप्त। शास्त्रो मे पहले के लिए जीव अथवा प्रत्यगात्मा शब्द का प्रयोग किया गया है, और दूसरे के लिए परमात्मा परमेश्वर, ब्रह्म आदि नाम दिये गए है। दोनो की विशेषताए इस प्रकार है

प्रत्यगात्मा	परमात्मा
१—विषय-सम्बन्ध होने से ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है।	१—विषय व प्रत्यगात्मा दोनो का उपादान कारण-रूप ज्ञान-क्रिया-शक्ति है। ज्ञातापन, कर्तापन तथा भोक्तापन के भान का कारण अथवा आश्रय है।
२—कामना व सकल्प युक्त है।	२—कामना अथवा सकल्प (अथवा व्यापक अर्थ मे कर्म) फल-प्राप्ति का कारण है और इस अर्थ मे कार्य-फल-प्रदाता है।
३—पाप-पुण्यादि तथा सुख-दुखादि के विवेक से युक्त अतएव लिप्त है।	३—अलिप्त है।
४—ज्ञान-क्रियादि शक्तियो मे अल्प अथवा मर्यादित है।	४—अनत और अपार है।
५—पूर्ण स्वाधीन नही है।	५—तत्री या सूत्रधार है।
६—इसकी मर्यादाए नित्य बदलती रहती है। अत स्वरूप दृष्टि से नही, बल्कि विकास अथवा सापेक्ष दृष्टि से परिणामी है।	६—अपरिणामी है और परिणामो का उत्पादक कारण है।

७—'मै' रूप से जाना जाता है।	७—'वहा' रूप मे जाना जाता है और इसलिए 'तू' रूप मे सम्बोधित होता है।
८—उपासक है।	८—उपास्य, एष्य, वरेण्य और शरण्य है।

गीता के अनुसार परमात्मा की दो प्रकार की प्रकृतिया अथवा स्वभाव है——एक अपर प्रकृति ओर दूसरी पर प्रकृति। अपर प्रकृति के आठ प्रकार के भेद विश्व मे दिखाई देते है——पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश——इन महाभूतो के रूप मे तथा मन, बुद्धि ओर अहकार के रूप मे अर्थात् इन आठ प्रकारो मे से परमात्मा के स्वरूप के साथ कम-से-कम एक स्वभाव उसकी अपर प्रकृति के रूप मे जुडा हुआ दीखता है। इसके सिवा परमात्मा का एक पर-स्वभाव भी, विश्व मे जहा-जहा अपर प्रकृति विदित होती है वहा-वहा, सर्वत्र उसके साथ ही रहता दिखाई देता है।

'ज्ञानेश्वरी' मे बताया गया है कि आत्मा जब शरीर मे परिमित ही प्रतीत होता है उसकी आफत के कारण वह मेरा (भगवान् का) अश जान पडता है। वायु के कारण समुद्र का जल जब तरगाकार हो उछलता है तो जैसे वह समुद्र का थोडा-सा अश ही दिखाई देता है वैसे ही इस जीव-लोक मे मै जड को चेतना देने वाला, देह मे अहन्ता उपजाने वाला जीव जान पडता हू।

'गीता-मन्थन' के अनुसार पानी के जुदा-जुदा बिन्दु जिस प्रकार पानी ही है, और अलग होने पर भी शामिल हो सकते है उसी तरह जुदा-जुदा जीव रूप दिखाई देने वाले पदार्थ भी उस अच्युत ब्रह्म के यो कहना चाहिए कि अश ही है।

रामकृष्ण परमहस कहते है——लोहे व चुम्बक की तरह ईश्वर व जीव का सम्बन्ध है। लोहा साफ होगा तो चुम्बक उसे झट खीच लेगा। जीव माया से घिरा रहने के कारण ईश्वर के निकट नही जा सकता। जिस प्रकार स्रोत के जल मे एक लाठी या पटरी खडी कर देने से वह दो भाग मे

मे (जल मे व जल के ऊपर) दो दीख पडती है, उसी प्रकार अखण्ड परमात्मा माया रूपी उपाधि के द्वारा दो (जीवात्मा व परमात्मा) दीख पडता है। पानी का वुलवुला जैसे जल ही से उठता है, जल ही पर ठहरता है और जल ही मे लोप हो जाता है वैसे ही जीवात्मा व परमात्मा एक ही है। भिन्नता केवल वडे व छोटे की, आश्रय व आश्रित की है।

आमतौर पर जीव उसे कहते है जिसमे चलन-वलन-क्रिया दिखाई पडे। ये जीव चार प्रकार के है (१) उद्भिज—पृथ्वी को फोडकर निकलने वाले जैसे वृक्ष, वनस्पति आदि, (२) स्वेदज—पसीने या नमी से पैदा होने वाले जैसे कृमि, कीट आदि, (३) अण्डज—अण्डा फोड कर निकलने वाले जैसे मुर्गे, कवूतर, पक्षी आदि और (४) जरायुज—यानी झिल्ली या जेर को खोलकर निकलने वाले, जैसे पशु, मनुष्य आदि। पृथ्वी पर मनुष्य सर्वोपरि सृष्टि है। इसमे मन-वुद्धि का विकास सवसे अधिक पाया जाता है। कई योनियो-श्रेणियो मे भटकता या विकास पाता हुआ जीव मनुष्य योनि मे आता है, किन्तु वह अज्ञान, कामना, व कर्मो के कारण ऊची-नीची योनियो मे भ्रमता हुआ, अपनी वास्तविक गति को नही जान पाता। वह दुर्लभ माना जाता है। मनुष्य इस नर-देह मे ही सुकृत का अधिकारी है। इसलिए इसका और भी महत्त्व है।

२ : मानव-जीवन की पूर्णता

वहुत कम लोग ऐसे है जो कभी इस वात का विचार करते है कि मानव-जीवन क्या है और उसकी पूर्णता के क्या मानी है? किसी साहित्य-सेवी से आप पूछिए कि आप साहित्य-सेवा क्यो करते है तो वह या तो यह जवाव देगा कि मुझे साहित्य-सेवा प्रिय है, या यह कहेगा कि मुझे लिखने का शौक है। कोई शायद यह भी कहे कि जीविका के लिए, परन्तु शायद ही कोई यह उत्तर दे कि मानव-जीवन को पूर्णता की तरफ ले जाने मे सहायक वनने के लिए। मनुष्य आमतौर पर खाने-कमाने या मौज-मजा करन मे निमग्न है। इससे भिन्न या आगे के जीवन के वारे मे विचार करने

के झझट मे वह नही पडता। साहित्य-रचना हो, कला-कृति हो, देश-सेवा हो, चाहे सरकारी नौकरी या स्वतत्र धन्धा हो, इनके करने वालो मे विरले ही ऐसे होगे जो जीवन को, जीवन-विकास को, लक्ष्य करके इन कामो मे पडे हो। उदर-पूर्ति और आमोद-प्रमोद मे ही उनके जीवन का सारा व्यापार सीमित रहता है। उनके सुख या आनन्द की कल्पना इससे आगे नही जाती। शारीरिक या भौतिक सुख से आगे वढे भी तो मानसिक आनन्द मे जीवन की इति-श्री मान लेते है। एक मनुष्य की तरह जीवित रहना, मानवोचित गुणो, शक्तियो की वृद्धि और विकास, मनुष्यता के विरोधी या विघातक दोषो, दुर्गुणो और कमजोरियो का ह्रास करना, इन वातो का कोई स्वतत्र महत्त्व और स्थान है—इसकी तरफ वहुत कम लोग ध्यान देते है। वास्तविक लक्ष्य को भूलकर जीवन के किसी अग को पकडे वैठे रहते है, जिससे उनका जीवन एकागी, सकुचित और क्षुद्र वना रहता है। जव हमारी आकाक्षा ही उच्च और पूर्ण नही है तो न हमारी वृत्ति उदार और विशाल हो सकती है, न विचार ही दूरगामी, व्यापक और चतुर्मुख हो सकते है और न कर्म ही शुद्ध, दृढ, मुक्त और प्रगतिशील हो सकते है।

जिस प्रकार किसी वीज मे सारा पौधा, पुष्प, फल और फिर नये वीज समाविष्ट रहते है उसी प्रकार मानव-जीवन के वीज—आत्मा—मे उगने, वढने, फूलने-फलने और फिर नये वीज निर्माण करने का गुण, प्रवृत्ति और क्रिया छिपी रहती है। जरूरत है अनुकूल परिस्थिति और वातावरण की, उचित सगोपन और लालन-पालन की। अतएव मनुष्य को ध्यानपूर्वक लगन के साथ जो कुछ करना है वह तो इतना ही है कि वाह्य परिस्थिति को अनुकूल वनावे। इसका यह अर्थ हुआ कि वह वुराई मे से अच्छाई, असत् मे से सत्, अन्वकार मे से प्रकाश को पाने और पकडने का प्रयत्न करे। इसी का नाम जीवन-सघर्ष है। छोडने और पाने के प्रयत्न का नाम ही सघर्ष है। जीवन मे, प्रकृति मे, पल-पल मे निरतर सघर्ष है, इसीलिए प्रगति, विकास और वृद्धि है। इसका अन्तिम परिणाम है पूर्णता।

सघर्ष मे मनुष्य कई वार थक जाता है, हार जाता है, निराश और

उत्साहहीन हो जाता है। इसका कारण यह है कि वह असत् और अधकार के वजाय सत् और प्रकाश से भिड जाता है, जिसे छोडना है उसी को ग्रहण करने लगता है। यह भ्रम और अज्ञान ही उसकी थकान और हार के मूल मे होता है। जव मनुष्य भटक जाता है, विकास की, विशालता की ओर से सकोच और क्षुद्रता की ओर आने लगता है, मुक्तता से वन्धन मे पडने लगता है तव भी, दरअसल, वह चुनाव मे ही गलती कर जाता है।

सही चुनाव मनुष्य उसी अवस्था मे कर सकता है जव वह वस्तुओ और व्यक्तियो को अपने शुद्ध, असली रूप मे देख पावे, देखने की प्रवृत्ति रक्खे। इसके लिए वुद्धि का निर्मल और भेदक होना जरूरी है। भेदकता निर्मलता का ही परिणाम है। वाहरी आवरण कई वार भ्रमोत्पादक और गुमराह कर देने वाला होता है। विभिन्न तो वह होता ही है। अतएव जिसे अन्तर्दृष्टि नही है वह चुनाव मे अक्सर गलती कर जाता है और गलत जगह सघर्ष कर वैठता है, जिसका परिणाम होता है पराजय और निराशा।

जव हम असत् और अधकार से सघर्ष करते है तव हम वन्धनो से मुक्तता की ओर जाते है, क्योकि असत् और अन्धकार ही तो वन्धन है। वन्धन से मुक्ति पाने की क्रिया ही सघर्ष है। असत् से सत् की, अन्धकार से प्रकाश की विजय का ही नाम शान्ति है। सत् और असत् के चुनाव मे जो अन्तर्द्वद्व होता है, वही अशान्ति है। चुनाव के पहले और गलत चुनाव के पश्चात् अशान्ति होती है। चुनाव सही हुआ है तो सघर्ष मे उत्साह, वल और प्रसन्नता रहती है और शान्ति मिलती है। जिस कर्म के आदि, मध्य और अन्त मे प्रसन्नता रहती है वह सत्कर्म है और वही शान्ति दे सकता है। कर्म का ही दूसरा नाम है सघर्ष। जगत् अनन्त चेतन, निरतर गतिशील परमाणुओ से वना है। आप सास भी लेगे तो उन परमाणुओ के व्यापार मे कुछ धक्का लगता है। यही सघर्ष है। आप चलेगे और दौडेगे तो परमाणुओ पर, वस्तुओ पर और व्यक्तियो पर, स्थूल और सूक्ष्म रूप से कम और ज्यादा प्रतिघात होगा। आपकी गति जितनी तीव्र होगी उतना ही तीव्र प्रतिघात अर्थात् सघर्ष होगा। अत्यन्त तीव्र और तुरन्त परिणामदायी सघर्ष का

नाम क्रान्ति है। क्रान्ति क्रिया है और शान्ति परिणाम है। परम शान्ति का ही दूसरा नाम जीवन की पूर्णता है। पूर्णता मे ही परम शान्ति है। सत् के अखण्ड प्रकाश और सप्राप्ति को ही जीवन की पूर्णता कहते है।

३ : सुख का स्वरूप

यदि हम मनुष्यो से पूछे कि ससार म तुम क्या चाहते हो, तुम्हारे जीवन का उद्देश्य क्या है तो तरह-तरह के उत्तर मिलेगे। धन, वैभव, राज्य, पुत्र-सतति, कीर्ति, मान, सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, मुक्ति, ईश्वर-प्राप्ति, शान्ति, सुख, आनद, ज्ञान, इनमे से कोई एक लक्ष्य वे अपना बतावेगे। मनुष्य ससार या जीवन मे जो कुछ करता है वह इन्ही से प्रेरित होकर करता है। विचार करने से ये सब लक्ष्य या उद्देश्य दो भागो मे बट जाते है—शारीरिक, भौतिक या ऐहिक तथा मानसिक, पारमार्थिक या आध्यात्मिक। धन से लेकर पद-प्रतिष्ठा तक के उद्देश्य भौतिक व मुक्ति से लेकर ज्ञान तक विषय आध्यात्मिक कोटि मे आते है। यदि मनुष्य के जीवन के इन भिन्न-भिन्न उद्देश्यो के लिए किसी एक ही सर्वसामान्य शब्द का प्रयोग करना चाहे तो 'सुख' कह सकते है।

समाज मे यह धारणा प्रचलित है कि भौतिक या सासारिक सुख—इसी जन्म के लिए आध्यात्मिक व पारलौकिक सुख अगले जन्म या इस जन्म के बाद की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। यह सही हो या गलत, यह निर्विवाद है कि मनुष्य जिस तरह का भी सुख चाहता हो उसके लिए उसे उद्योग या परिश्रम अपने वर्तमान जीवन मे ही करना पडता है। जिस लक्ष्य को लेकर वह चलता है, उसी की सिद्धि मे उसे अपने जीवन की कृतार्थता मालूम होती है।

यह निश्चित है कि आपको जो-कुछ करना है वह अपने इस छोटे जीवन मे तो जरूर ही कर लेना है। आगे दूसरा जन्म मिलने वाला होगा तो उसमे भी जरूर किया जायगा। परन्तु आप वर्तमान जीवन मे तो हाथ-पर-हाथ रक्खे नही बैठ सकते। साथ ही आपका उद्देश्य आपके प्रयत्नो से ही सफल

हो सकेगा। यदि ईश्वर की कृपा हुई भी तो वह वरसात की तरह एकाएक आकाश से नही वरसती। अत आपके प्रयत्न के स्वरूप मे ही किसी व्यक्ति या समूह के द्वारा उसके फल की पूर्ति ईश्वर करता है। इस विषय मे आप तटस्थ, उदासीन, निष्क्रिय या गाफिल उसी दशा मे रह सकते है, जब आपने ऐसा कोई लक्ष्य या उद्देश्य अपने जीवन का नही वनाया हो, या उसे छोड दिया हो।

सुख चाहे, सासारिक हो या आत्मिक, वहुत कम मनुष्य ससार मे ऐसे मिलेगे, जिन्हे उस सुख की यथार्थ कल्पना हो, उस सुख के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो। अधिकाश लोग तो रूढि या परम्परा या अपने सस्कारो के अधीन होकर प्राय अन्धे की तरह इनमे से जो वस्तु उन्हे प्रिय लगती है, उसकी प्राप्ति या सिद्धि के पीछे पड जाते है। इस तथा तत्सम्वन्धी अन्य आनुषगिक ज्ञान के अभाव मे ही वह उसके लाभ से वचित रहता है, व सुख की जगह दु ख को पल्ले वाध लेता है। आज यदि ससार मे हम पूछें कि तुम सुखी हो तो अपने को दु खी की श्रेणी मे रखने वालो की सख्या वहुत वडी मिलेगी। प्रयत्न सव सुख का करते है, पर पाते है अधिकाश मे दु ख ही, यह ससार का वडा भारी आश्चर्य है। मनुष्य नित्य इसका अनुभव करता है, परन्तु इसका मूल खोजकर उसका सही इलाज करने वाले विरले ही होते है।

जवसे सृष्टि मे मनुष्य जीवधारी पैदा हुआ है तवसे उसने नाना प्रकार से विविध साधनो तथा विधानो से सुख-सिद्धि के प्रयत्न किये है। उसका आजतक का सारा शब्द-इतिहास इसी उद्योग का साक्षी है। भिन्न-भिन्न व्यवस्थाए, सस्थाए, सस्कृतिया, राज्य, धर्म, काव्य, साहित्य, कला, उद्योग, व्यवसाय, शिक्षा, ज्ञान, तत्त्व, आचार व तत्र सव उसके इसी उद्देश्य की पूर्ति के साधन-स्वरूप निर्माण हुए है, परन्तु मनुष्य कही-कही कोई गलती ऐसी जरूर कर रहा है, जिससे वह अपने मूल उद्देश्य से अवतक वहुत दूर रहा है और उसके वजाय न केवल व्यक्तिगत जीवन मे, वल्कि सामाजिक, राष्ट्रीय जीवन मे भी नित्य दु ख, कलह, वैमनस्य, ईर्ष्या, हिंसा-

अत्याचार के दर्शन हो रहे हैं। इसका मूल हमे खोजना ही होगा। जहा-जहा हमें अपनी गलतिया मालूम हो उन्हे दुरुस्त करना ही होगा।

इस गलती को पकडने मे हमे सहूलियत होगी यदि हम पहले यह अपने को समझायें कि जिस चीज के अर्थात् सुख के पीछे हम पडे हैं वह असल मे है क्या? जब उसका असली स्वरूप समझ मे आ जायगा तो फिर उसके सही साधन व उसके प्राप्त करने की रीति या पद्धति पर विचार करना आसान हो जायगा और तब हम अबतक के भिन्न-भिन्न प्रयत्नो की समालोचना व उसके साथ तुलना करके तुरत देख सकेंगे कि गलती कहा व किस तरह की हुई है। फिर हमे उसका उपाय खोजने मे सुगमता होगी।

सुख का स्वरूप समझने का यत्न करते है तो ये प्रश्न उपस्थित होते है कि सुख किसे होता है, किस स्वरूप मे होता है? फिलहाल हमने मनुष्य-जीवन के ही प्रश्न को हाथ मे लिया है। अत उसी की मर्यादा मे हमें इन प्रश्नो का उत्तर पाना है। सुख किसे होता है आदि प्रश्नो पर जब विचार करने लगते है तब यह जिज्ञासा होती है कि सुख मनुष्य के शरीर को होता है, मन को होता है या आत्मा को होता है? सुख उसे अपने भीतर मे होता है या बाहरी जगत् मे? जहा कही से भी मिलता हो, किस विधि से, किस रूप मे आता है? मनुष्य के ज्ञान व अनुभव के आधार पर हमें इसका उत्तर मिल सकता है।

जिसे हम सुख कहते है वह लड्डू, फल, किताब, मूर्ति या स्त्री की तरह कोई प्रत्यक्ष वस्तु नही है कि सीधे-सीधे उसके आकार-प्रकार का वर्णन करके उसका परिचय दिया जा सके। वह एक प्रकार की भावना या वेदना अर्थात् सवेदन है जो वर्णन से परे है और केवल अनुभव किया जाता है। अपनी ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा मनुष्य सृष्टि के विविध पदार्थों के ज्ञान व स्वाद को पाता है। जो ज्ञान या स्वाद उसे रुचिकर, अच्छा या प्रिय लगता है वह उसके लिए सुखदायी होकर सुख कहलाता है। जो अरुचिकर या बुरा लगता है वह दुखदायी होकर दुख कहलाता है।

अब प्रश्न यह है कि इन ज्ञानेन्द्रियो द्वारा जो ज्ञान या स्वाद मनुष्य

को मिला वह उसके शरीर के भीतर जाकर कहा व किस को मिला ? सभी अपने अनुभव से यह कह और समझ सकते है कि हमारे मन को मिला और हमारे मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओ मे सचारित होकर मिला। यदि यह मन नामक इद्रिय या वस्तु शरीर मे न हो तो मनुष्य के लिए वाहरी जगत् के पदार्थो का ज्ञान व सुख अनुभव करना कठिन हो जाय । इसके विपरीत मन मे यह अद्‌भुत शक्ति है कि वह ज्ञानेन्द्रियो की सहायता के विना केवल कल्पना से भी सुख-दु ख को ग्रहण व अनुभव कर सकता है। अत यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य-शरीर मे वाहरी इन्द्रियो की अपेक्षा भीतरी इन्द्रियो की महिमा व मूल्य अधिक है। इसलिए मन मनुष्य की भीतरी व वाहरी तमाम इन्द्रियो का राजा कहा गया है और यह माना जाता है कि हमारे सुख-दु ख का सम्बन्ध प्रधानत हमारे मन से है, न कि शरीर से। अव हम इस नतीजे पर पहुचे कि सुख-दु ख एक भावना है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुख-दु ख अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही रखते और शरीर या इन्द्रिया उसका एक साधन है, परन्तु उसके भोगने या उसका आनन्द लेने वाला वास्तव मे हमारा मन है। मनुष्य के मन मे भावना उसके सस्कार के अनुरूप वनती या उठनी है और प्रत्येक मनुष्य के सस्कार भिन्न-भिन्न होते है। यही कारण है कि जो मनुष्यो की सुख-दु ख-सवन्धी भावनाओ मे अन्तर पडता व रहता है। एक मनुष्य जिस वात मे सुख या हर्ष का अनुभव करता है उसी मे दूसरे को दु ख या शोक का अनुभव होता है । जुदा-जुदा रग, रूप, रस मे जो जुदा-जुदा मनुष्यो की प्रीति या अप्रीति होती है उसका भी कारण उनके भिन्न-भिन्न सस्कार ही है । इन सस्कारो के योग से मनुष्य का स्वभाव वनता है और जिसका जैसा स्वभाव वन जाता है वैसी ही रुचि-अरुचि, श्रद्धा-अश्रद्धा बनती रहती है ।

मनुष्यो की सुख-सवधी रुचि-अरुचि व साधन चाहे भिन्न-भिन्न हो, पर सुख का अनुभव सवको एक-सा होता है। सुख के इस आनदानुभव की मात्रा मे फर्क हो सकता है, परन्तु उसकी किस्म मे, मस्ती मे कोई फर्क नही रहता। एक व्यक्ति सगीत के सुमधुर स्वरो मे जो आनन्द अनुभव

करता है वही दूसरा किसी सुन्दर दृश्य व पवित्र भाव से कर सकता है। जो हो, मुद्दे की बात यह कि जब कि सुख का सम्बन्ध मुख्यत मन से है तो हम उसे मन मे न पाकर बाहर से पाने का इतना भगीरथ प्रयत्न क्यो करते है? क्या यह सभव नही है कि मन और सुख के बाह्य साधनो की यह सीमा हम सदा याद रक्खे और साधन को ही सुख समझने की भूल न करे?

यहा कोई यह प्रश्न कर सकता है कि सुख चाहे वस्तुओ मे मिलता हो, चाहे मनुष्य अपने मन के भावो से ग्रहण कर लेता हो, अर्थात सुख चाहे वस्तुगत हो, चाहे व्यक्तिगत या भावगत हो, वह रहता कहा है, आता कहा से है, व आकर फिर जाता कहा है? यदि वह बाहरी जगत् से हमारे भीतर प्रवेश करता है तो वहा उसके रहने का स्थान कौन-सा है? यदि हमे अपने मन मे व भीतर से ही प्राप्त होता है तो वहा कहा से आता है? यह सवाल तो साथ मे इस प्रश्न के जैसा है कि ससार की समस्त वस्तुए व भावनाए वास्तव मे कहा से आती है? कहा जाती है? इन सबका उद्गम अलग-अलग है, या कोई एक है? सच पूछिए तो हमारा सारा अध्यात्म-ज्ञान ऐसी ही जिज्ञासाओ के फल-स्वरूप उत्पन्न व प्रकट हुआ है। इसका उत्तर देने के लिए हमे अध्यात्म-शास्त्र या ब्रह्म-विद्या मे प्रवेश करना होगा। यहा तो सिर्फ इतना लिख देना काफी होगा कि जिस परमात्मा, तत्त्व या शक्ति मे से यह सारा ब्रह्माण्ड प्रकट हुआ है, उसी मे सृष्टि के तमाम पदार्थ व भाव समाये हुए रहते है, उसी मे से वे प्रकट होते है और फिर समय पाकर उसी मे लीन हो जाते है। जब वे प्रकट होकर रहते है तब भी उस महान् शक्ति के दायरे से बाहर नही जाते। प्रकट व अप्रकट दोनो अवस्थाओ मे वे उसी शक्ति की सीमा या क्षेत्र मे रहते है। कभी व्यक्त दशा मे, कभी अव्यक्त दशा मे। जब व्यक्त दशा मे होते है तब उन्हे हम या तो अपनी इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करते है या मन के द्वारा अनुभव करते है, जैसे बिजली अव्यक्त दशा मे ब्रह्माण्ड मे फैली हुई है। कुछ साधनो व उपकरणो से ग्रहण कर हम उसे प्रकट रूप मे लाते है। अप्रकट होकर फिर वह अपने असली अव्यक्त रूप मे व स्थान—आकाश

मे—लीन हो जाती है—छिप जाती है। उसी तरह अच्छे-बुरे, सुख-दु ख, हर्ष-शोक आदि के सब भाव इन्द्रिय-रूपी उपकरणो से हमारे मन पर एक प्रकार से व्यक्त होकर अनुभूत होते है, और कुछ समय ठहर कर फिर अपने पूर्व अव्यक्त रूप मे लीन हो जाते है। ससार का कोई ज्ञान, कोई अनुभव, कोई भाव कोई पदार्थ, कोई तत्त्व, कोई शक्ति ऐसी नही जो इस परमात्म-शक्ति के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर हो।

जब मन को बहुत सन्तोष, समाधान मालूम होता है उस अवस्था को वास्तविक सुख की अवस्था कह सकते है। सन्तोष जब उग्रता धारण करने लगता है तब उस अवस्था को आनद कह सकते है। आनन्द या शोक, ये दोनो सिरे की अवस्थाए है और सुख मध्यम अवस्था है। इसका सम्बन्ध चित्त के उद्रेक से नही, बल्कि समता से है। चित्त की अत्यन्त सम अवस्था मे ही मनुष्य को पूर्ण सतोष, समाधान या सुख अनुभव होता है। जब हम किसी भी निमित्त से अत्यन्त एकाग्रता या तन्मयता का अनुभव करते है तो उस समय हमारे चित्त या मन की अवस्था बहुत समता मे रहती है। अत जब किसी कारण से मन चचलता या विकार को छोडकर स्थिरता या समता का अनुभव करने लगता है तब उसे सुख का ही अनुभव कहना चाहिए। इसके विपरीत दु ख का अनुभव हमे तब होता है जब हमारा मन किसी धक्के से अपनी साम्यावस्था छोडकर डावाडोल होता है और इस सिरे से दूसरे सिरे तक लोट लगाता है। हम यह कह सकते है कि चित्त की समता सुख की व व्याकुलता दु ख की अवस्था है। आपके पास सुख के तमाम सामान मौजूद हो, पर यदि आपका मन शान्त, स्थिर, स्वस्थ या सम अवस्था मे नही है तो ये सामान आपको सुख नही पहुचा सकते। इसके विपरीत यदि दु ख या कष्ट की अवस्थाओ मे आप हो, पर यदि आपका मन स्थिर व शान्त है तो आप उस दु ख को अनुभव नही करेगे। उसका असर आपपर नही होगा।

इसका अर्थ हुआ कि यदि सचमुच हम अपने जीवन का उद्देश्य पूर्ण करना चाहते है या यो कहे कि सुख की प्राप्ति करना चाहते है तो हमे और

सावनो की अपेक्षा या उनके साथ-ही-साथ अपने मन पर सबसे अधिक काम करना है। हमे उन तमाम मानसिक गुणो और शक्तियो को प्राप्त करना होगा जो हमारे चित्त को स्थिरता, शान्तता तक पहुचा सके। तब तो आप इसका सरल जवाब दे सकते हैं कि यदि मनुष्य केवल मन की कल्पना या भावना मे ही सुखी हो सकता है तो बाहरी सुख-साधनो और विषयो को छोडकर वह अपने मन के विचारो व तरगो मे ही मस्त रहे। इससे न उसे इन तमाम साधनो के जुटाने का प्रयास ही करना पडेगा, बल्कि अपने मन को शान्त व स्थिर रखने का बहुत कुछ अवसर मिल जायगा। परन्तु सच बात ऐसी नही है। सुख के लिए बाहरी साधनो की यद्यपि प्रधानता स्वीकृत नही की जा सकती, तथापि उनकी आवश्यकता से भी इन्कार नही किया जा सकता। जरूरत सिर्फ उन साधनो के सम्यक् या भली-भाति उपयोग करने की है। कोई साधन स्वय सुख या दु ख का कारण नही होता है। वीणा, अगूर स्वय सुख या दु खदायी नही होते। उनके उपयोग पर ही हमारा सुख-दु ख निर्भर है। सुख वास्तव मे एक ही है, सासारिक और आत्मिक दो तरह का नही है। जिसे हम सासारिक सुख कहते है वास्तव मे वह सुख का साधन है, व जिसे हम आत्मिक या मानसिक सुख कहते है वही वास्तविक सुख है। हमारी सबसे बडी गलती यही है कि हमने सुख के साधन को ही एक स्वतन्त्र सुख मान लिया है। ऊपर हमने मनुष्य के जीवन-उद्देश्य के रूप मे जिस धन, वैभव, कीर्ति, पुत्र, मान-प्रतिष्ठा आदि का जिक्र किया है, वे सच पूछिए तो स्वय सुख-रूप नही हैं, बल्कि सुख के निमित्त या साधन ही है। अतएव जो मनुष्य इनको जीवन का लक्ष्य मानता या बनाता है, वह सुख को छोडकर सुख के साधन को अपनाने की भूल करता है। असली स्वामिनी को भूलकर या छोडकर नकली के पीछे पागल होने जैसा है।

अब यह सवाल पैदा होता है कि हमारे जीवन का उद्देश्य वास्तव मे क्या होना चाहिए ? जीवन-सम्बन्ध मे या जीवन मे मनुष्य की क्या-क्या अभिलाषाए हो सकती है, सो तो ऊपर आ चुका है, किन्तु इससे जीवन का उद्देश्य क्या होना चाहिए, यह प्रश्न पूर्णत हल नहीं होता, क्योंकि

साधारण मनुष्य तो प्राय उन्ही चीजो की अभिलाषा करता है जो उसे अच्छी लगती है। भले ही आगे चलकर उनका नतीजा खराब निकले। हित की बात मनुष्य को न इतनी सूझती है, न एकाएक अच्छी ही लगती है जितनी प्यारी बात। प्रेय पर श्रेय को बढावा देने वाले ससार मे थोडे ही लोग पाये जाते है। तो प्रेय मनुष्य के जीवन के उद्देश्य की कसौटी होनी चाहिए या श्रेय ? बहुतेरे लोग जिस चीज को चाहते हो वही उनका उद्देश्य मान लेना चाहिए या वह जिसमे उनका वास्तविक हित या श्रेय हो—भले ही उसे मानने, समझने व पसन्द करने वाले थोडे ही लोग हो।

कोई भी विचारशील मनुष्य इसी बात को पसन्द करेगा कि जो वस्तु पहले भले ही दु ख दे ले, पर अखीर मे जो ज्यादातर सुख देती हो तो वही अच्छी है। पहले सुख का आनन्द देकर पीछे दु ख-सागर मे डुबोने वाली वस्तु को नासमझ लोग ही पसन्द कर सकते है। भले ही बहुतेरो की राय इस दूसरे प्रकार की हो, परन्तु सही राय पहली ही मानी जायगी, यद्यपि उसके देने वाले उगलियो पर गिने जा सकेगे। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य ठहराने मे मनुष्य की इच्छा या अभिलाषा अन्तिम कसौटी नही है। वह दिशादर्शक हो सकती है। सही कसौटी तो मनुष्य की शुद्ध बुद्धि या सत्-असत् विवेकयुक्त बुद्धि ही हो सकती है। मनुष्य इच्छाए तो ऊटपटाग व सैकडो-हजारो तरह की कर सकता है। पर सभी उसके लिए हितकारक नही हो सकती। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य तय करने मे प्रेय की बनिस्बत श्रेय को ही महत्त्व देना होगा। अत जो व्यक्ति प्रेय मे से श्रेय को अलग छाट सकते है वही इसका ठीक निर्णय करने के अधिकारी है। ऐसे व्यक्तियो ने अपने ज्ञान, प्रयोग व अनुभव के बल पर इसका निर्णय किया भी है। उसके प्रकाश मे हम भी यहा उसे समझने का प्रयत्न करे।

मनुष्य को तृप्ति तो साधारणत अपनी अभिलाषाओ की पूर्ति मे ही अनुभव होती है, परन्तु इसमे कुछ मर्यादाए या कठिनाइया आती है, जिनसे वह तृप्ति पूरी व स्थायी नही रह पाती। एक तो यह कि अभिलाषाए बदलती रहती है, जिससे उनकी पूर्ति के साधन व मनुष्य

का कार्यक्रम भी बदलना रहता है। इससे तृप्ति की अखण्डता, एक-रसता कायम नही रह पाती। दूसरे, दूसरे मनुष्यो की अभिलाषाए उनसे टकराती है, जिससे उनके मार्ग मे विघ्न-कष्ट उपस्थित होते है। उसे संघर्षों व कटुताओ मे उतरना पडता है, जिससे तृप्ति का मजा किरकिरा हो जाता है। तृप्ति के साधनो को जुटाने व विघ्नो को हटाने मे इतना परिश्रम व समय लग जाता है कि मनुष्य मूल अभिलाषा से भटक कर जिन्दगी-भर अधर मे ही लटकता रहता है। तीसरे, अभिलाषाए कर लेना जितना आसान है उतना ही उनकी पूर्ति के साधन व शक्ति उसके पास थोडी है। अभिलाषाए तो मन की तरग ही ठहरी। छिन मे कही-से-कही जा पहुचती है। वे मन के वेग के साथ दौडती है, किन्तु उनकी पूर्ति अकेले मन से नही हो सकती, हमारी इद्रियो द्वारा ही मन उनकी पूर्ति कर सकता है, जिनकी शक्ति बहुत मर्यादित है। फिर हमारी परिस्थिति और यह सारा ससार हमारे सामने आकर खडा हो जाता है। तमाम प्रतिकूल परिस्थितियो मे लडना, उन्हे हटाकर अनुकूल परिस्थितिया निर्माण करना, उनमे अपनी अभिलषित वस्तु प्राप्त करना, व फिर उसे सदा के लिए इस तरह टिकाये रखना कि उनका वियोग न होने पाये, यह भगीरथ काम केवल मन की तरग से नही हो सकता। अत या तो हम ऐसा उपाय करे कि जिससे हमारी तमाम अभिलाषाओ व मनोरथो की पूर्ति बहुत आसानी से हो जाय। या ऐसा रास्ता खोजना होगा जिससे हम अपने मनोरथो की छान-बीन कर सके और उन्ही मनोरथो की पूर्ति का आग्रह रक्खे जिनमे हमारा हित होता हो और जो हमारी शक्ति या काबू के बाहर के न हो। जाहिर है कि बात मनुष्य की शक्ति के सर्वथा परे है। कम-से-कम अबतक तो मनुष्य ने ऐसी कोई विधि निकाल नही ली है, या इतनी शक्ति प्राप्त करके दिखा नही दी है कि जिससे मनुष्य के सभी मनोरथ पूरे किये जा सके, हालाकि उसने इस दिशा मे अबतक अनेक यत्न किये है। अत दूसरी दिशा मे भी प्रयत्न करना उचित होगा। यदि हम इसमे सफल हो सके तो सम्भव है कि उसी मे से हमे मनुष्य-जीवन के उद्देश्य को पहचानने का मार्ग भी हाथ लग जाय।

अभिलाषाए जो वदलती रहती है और उनकी सख्या जो वेतरह वढती जाती है उसका उपाय यह हो सकता है कि हम उनमें से पहले उन मनोरथो की छटनी करे जो हमारे जीवन के लिए निहायत जरूरी है, जिनके विना जीवन टिक ही नही सकता, न हमारा कुटुम्व, समाज या देश ही कायम रह सकता है। इसके वाद इस दृष्टि से उनमे फिर छटनी की जाय कि कौन-से मनोरथ अधिक स्थायी व अधिक हितकर है। फिर यह विचार किया जाय कि इनमे से कौन-से ऐसे है जो दूसरो के मनोरथो मे टकराते है और इसलिए जिन्हे छोडना या एक सीमा मे रखना उचित है, क्योकि जो अभिलाषाए हमारे या हमारे कुटुम्व, समाज आदि के लिए वहुत जरूरी नही है, फिर भी वह दूसरो की अभिलाषाओ से टकराती है तो वुद्धिमानी इसी मे है कि हम उनकी पूर्ति का आग्रह न रक्खे। हम केवल उन्ही मनोरथो को अपनावे जो हमारे व ममाज के जीवन की स्थिति, तुष्टि, वृद्धि, उन्नति व शुद्धि के लिए परम आवश्यक या अनिवार्य है और जो दूसरो के जीवन की सिद्धि मे वाधक न होते हो। उनकी पूर्ति की रीति भी ऐसी निकाल लेनी चाहिए जिसमे दूसरो को कम-से-कम कष्ट व आपत्ति न हो, क्योकि यदि हम दूसरो की स्थिति या मुख-सुविधा का खयाल न रखे तो उनके अन्दर भी यही भावना व प्रवृत्ति पैदा होगी और यदि वे भी ऐसी मनोवृत्ति वना लेगे जैसी हमने उनकी उपेक्षा की वना रक्खी है तो फिर हमारा उनका सघर्ष अनिवार्य हो जायगा व वना भी रहेगा। इस स्थिति को कोई भी ममझदार आदमी न पसन्द करेगा, न चाहेगा भी।

यदि मनुष्य अपनी अभिलापाओ पर ही नही अपनी आवश्यकताओ पर भी यही कैद लगा ले तो मनुष्य-जीवन कितना सरल, सुखी व सतोष-प्रद हो जाय! व्यक्तियो, कुटुम्वो, देशो व समाजो के पारस्परिक कलह, द्वेष, शत्रुता की जड ही कट जाय व मनुष्य स्वय ही नही, वल्कि सारा मानव-समाज भी वे-खटके सुख व उन्नति के रास्ते चल पडे। तो हमारे मनोरथो की दो सीमाये नियत हुई—(१) हमारे लिए उनकी अनि-

वार्यता व हित करना व (२) दूसरो के लिए निर्दोषता। समाज मे जब मनुष्य केवल अपने ही सुख या हित की दृष्टि से विचार करता है तो उसे स्वार्थ भाव से कहा जाता है, पर जब वह दूसरो के सुख या हित की दृष्टि से विचार करता है व दोनो का पूर्ण विचार करके फिर अपने कर्तव्य का निश्चय करता है तो उसे उसकी सामाजिकता या धार्मिक भावना कह सकते है। यह सामाजिक बुद्धि या धार्मिक भावना रखना मनुष्य के अपने सुख व हित की दृष्टि से भी अनिवार्य है, यह ऊपर बता ही चुके है। आगे चलकर मनुष्य की ऐसी प्रवृत्ति हो सकती है कि उसे अपने ही स्वार्थ या हित म दिलचस्पी कम हो जाय व दूसरो के सुख, हित मे ही आनन्द आने लगे। यह व्यक्ति उस पहले स्वार्थी या दोनो मे समानार्थी व्यक्ति से ऊचे दर्जे का माना जायगा व उसका प्रभाव भी पिछले दोनो से अधिक व्यापक क्षेत्र पर पडेगा। यही व्यक्ति जब अपने या अपने दायरे मे आनेवाली सभी वस्तुओ के सुख या स्वार्थ का विचार छोडकर दूसरो के ही सुख व हित में डूबा रहता है तो वह सबसे ऊचा पुरुष कहलाता है और उसे विश्व-कुटुम्बी या विश्वात्मा कहा जा सकता है। उसके लिए चाहे यह कहे कि उसने अपना स्वार्थ, सुख, सर्वथा छोड दिया है या यह कहे कि अपने-अपने स्वार्थ-सुख की सीमा सारे ब्रह्माण्ड तक बढा दी है तो दोनो का एक ही अर्थ है। वह स्वार्थ छोडकर परमार्थी हो गया है इसका भी यही अर्थ है। छोटे स्वार्थ को छोडकर उसने बडे अपरिमित स्वार्थ को पकड लिया है। यदि मनुष्य की यह स्थिति सचमुच ही ऊची है, अच्छी व वाछनीय है तो इसमे हमे अवश्य मनुष्य के उद्देश्य को निश्चित करने का मार्ग मिल जायगा।

बिलकुल सरल भाव मे कहा जाय तो मनुष्य-जीवन का उद्देश्य हो सकता है महापुरुष होना। जिसने अपने छोटे से 'स्व' को महान् विश्वव्यापी बना लिया हो वही महापुरुष है। जिसे अपने अकेले के अच्छा खा-पी लेने से, अपने ही बाल-बच्चो मे स्नेहरस पीते रहने से या ऐसी ही छोटी बातो मे अपना जीवन लगाते रहने से सुख-सतोष का अनुभव होता हो वह छोटा आदमी व जिसे सारे समाज के लोगो को अच्छा खिलाने-पिलाने से, सारे

समाज के लोगो के स्नेह-पान से या उनके हित के लिए किये महान् कर्मो से व उन्हे करते हुए आ पडनेवाले कष्टो को प्रसन्नता से सहने मे सुख-सतोप का अनुभव होता हो वह वडा आदमी, महान् पुरुष है। जो अपने लिए जिये वह अल्प पुरुष, जो दूसरो के लिए जिये वह महापुरुष। जो अपने को औरो से पृथक् समझकर अपने ही स्वार्थो मे तल्लीन रहता हो, वह छोटा आदमी, जो अपने को औरो मे मिलाकर उनके स्वार्थ को ही अपना स्वार्थ वना लेता है वह वडा आदमी——महापुरुप। छोटे का सुख भी छोटा व वडे का वडा ही होता है।

यो देखा जाय तो हर व्यक्ति अपनी शक्ति-भर जान मे व अनजान मे अल्प से महान् वनने का यत्न करता ही रहता है। व्यक्ति से कुटुम्बी वनना महान् वनने की दिशा मे ही आगे का एक कदम है। पति-पत्नी, सतति, इष्ट-मित्र, माता-पिता, गुरुजन इनमे जिस अश तक हम अपने-आपको भुला देते है उस अश तक हम अपनी अल्पता को छोडकर महत्ता ही धारण करते है। हम जो अपने अकेले मे ही अपनी आत्मा को अनुभव कर लेते थे अब इतने समुदाय मे उसे अनुभव करते है। परन्तु साधारणतः विकास या व्यापकता का यह क्रम यही पर अटक जाता है। इसी से हमारा महापुरुप वनना रह जाता है। इससे आगे भी यही क्रम सारे समाज व मनुष्य-जाति तथा इससे आगे जीव-मात्र मे अपने को अनुभव करने का जारी रहे तो हम सच्चे अर्थ मे महान् पुरुष महात्मा बन जाय। भक्त लोग इसी भाव को 'नर का नारायण हो जाय' इस भापा मे व्यक्त करते है। धार्मिक पुरुप इसी अवस्था को 'मुक्तावस्था', दार्शनिक इसे 'ब्रह्मपद परमपद', वौद्ध इसे 'निर्वाण', जैन 'कैवल्य', आदि शब्दो द्वारा प्रकट करते है।

मनुष्य-जीवन के इस उद्देश्य पर सहसा किसी को आपत्ति न होनी चाहिए। जो केवल अथवा भौतिक सुखवादी है वे भी छोटे से वडे न होने के आदर्श पर एतराज नही कर सकते। समाज के सव व्यक्ति छोटे से बड़े वने, अपनी हीनावस्था से उच्च व उच्चतर अवस्था को प्राप्त होते जाय—यह आदर्श आक्षेप के योग्य नही हो सकता। सभव है कि वे यह कहे कि ऐसा

व्यक्ति सब ऐश्वर्य का स्वामी होना चाहिए, त्यागी नहीं। भोगी होना चाहिए, विरागी नही, और यह स्वामित्व या भोग की भावना भौतिक समृद्धि का आदर करने मे ही रह ओर पुष्ट हो सकती है। किन्तु हमने जो महापुरुष का आदर्श या उद्देश्य सामने रक्खा है उसमे भौतिक या सासारिक ऐश्वर्य का निषेध या विरोध कही नहीं है, उसकी प्राप्ति भी आवश्यक मानी गई है। सिर्फ उसके भोग की जिस तरह कि उसकी प्राप्ति की रीति की, एक मर्यादा निश्चित की गई है उसका यदि पालन किया जाय तो मनुष्य न तो उस वैभव का सग्रह ही कर सकता है ओर न अल्पता से महत्ता की ओर एक कदम आगे बढ ही सकता है। जब मनुष्य अपने सुख-स्वार्थ को गौण मानकर दूसरो के अर्थात् समाज के सुख-स्वार्थ को प्रधानता देने लगता है तब वह किसी के दबाव से मजबूर होकर ऐसा नही करता है, बल्कि अपने अन्तस्तल से उठी आवाज को सुनकर व इस बात का एहसास करके कि इस तरह दूसरो या समाज के सुख व हित को प्रधानता देकर ही मै ऊचा उठ सकता हू। यदि यह त्याग है तो बडे प्रेम के लिए, ऊचे दरजे के व अधिक शुद्ध, पवित्र भोग के लिए। बडे व विशाल ऐश्वर्य को पाने के लिए वह छोटे व थोडे ऐश्वर्य का त्याग करता है। उस बडे व्यापारी की तरह जो छोटे या थोडे टोटे को इसलिए समझ व प्रसन्नता से सहन कर लेता है कि आगे बडा मुनाफा होने वाला है। वैभव, ऐश्वर्य, सत्ता, भोग इन्हे छोडने की जरूरत नही है, इनका उपयोग करने मे विचार-बुद्धिमानी व दूरदर्शिता से काम लेने की जरूरत अवश्य है। गाधीजी, स्टालिन, अरविन्द के पास किस वैभव, ऐश्वर्य या सत्ता की कमी थी? लेकिन उन्होने स्वत इनका भोग एक सीमा मे किया ओर शेष सबका उपभोग दूसरी तरह के लोक-कल्याण मे। इसी से ये महात्मा या महापुरुष थे। ऐसे सीमित भोग से वे अपने अन्दर किसी प्रकार के अभाव को अनुभव नही करते, बल्कि पूर्ण तृप्ति अनुभव करते थे और अपने को बडा सन्तुष्ट, प्रसन्न, सुखी मानते थे।

परन्तु महान् पुरुष कोई महान् आशाओ, भावनाओ व महान् कार्यो के बिना नही हो सकता। किसी एक बात मे बढ जाने से कोई महापुरुष

नही हो सकता, जीवन की प्राय हर वात मे वह वढा हुआ होना चाहिए। भावना, ज्ञान व कर्म तीन के योग से मनुष्य-जीवन पूर्ण कहलाता है। भावना प्रेरणा करती है, ज्ञान से उसकी शुद्ध-अशुद्धता या योग्य-अयोग्यता की छान-वीन होती है व कर्म के द्वारा उसकी पूर्णता, सफलता या समाप्ति होती है। उच्च, विशाल व शुद्ध भावना, सत्य-ज्ञान व निष्काम तथा पवित्र कार्य, य महापुरुष के लक्षण या सम्पत्ति कही जा सकती हैं। आशा है, इस पर कोई यह आपत्ति न खडी करेगे कि सव लोग ऐसे महापुरुष कैसे हो सकते हैं, क्योकि आदर्श या उद्देश्य का निर्णय करने मे प्रधानत यह नही देखा जाता कि यह सवके लिए एक-साथ साध्य या शक्य है अथवा नही ? वल्कि यह देखा जाता है कि सवके लिए उत्तम, श्रेष्ठ, चाहने योग्य, पाने योग्य स्थिति कौन-सी है ? यदि आदर्श हमने ठीक निश्चित कर लिया तो फिर उसका पालन करना केवल हमारे प्रयत्न की वात है। सो प्रयत्न करने की अर्थात् कर्म की शक्ति मनुष्य मे अपार है। यदि एक व्यक्ति भी महापुरुष की श्रेणी मे आने योग्य हमारी निगाह मे आ गया है तो यह मानना ही होगा कि प्रत्येक मनुष्य मे वह शक्ति निहित है। सिर्फ प्रयत्न करके उसका विकास करने की जरूरत है।

अव सवाल यह रहता है कि महापुरुप वनकर कोई करे क्या ? दूसरो को महापुरुष बनाने मे अपनी शक्ति लगावे। मनुष्य ने व्यक्ति-रूप मे महापुरुष वनने के जो प्रयास किये, उसके फलस्वरूप कई महापुरुष ससार मे हमे मिले, किन्तु सामूहिक रूप मे अल्प से महान् वनने का जो उद्योग किया उससे उसकी महत्ता कुटुम्व व एक अग मे जाति तक वढी। अव समाज तक जाने की उसकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह शुभ लक्षण है। इसे प्रोत्साहन देने की जरूरत है। यह दिखलाती है कि समूह-रूप मे भी मनुष्य महानता की तरफ आगे ही वढता जा रहा है। इस प्रवृत्ति को आगे वढाना उसके अनुकूल व अनुरूप समाज की व्यवस्था वनाना व उसे चलाना ऐसा ही साहित्य, कला आदि निर्माण करना महापुरुष या पुरुपो का काम है।

४ : मनुष्य, समाज और हमारा कर्त्तव्य

हम मनुष्य है। क्या आपको इसमे इन्कार है ? नही, तो मै पूछता हू कि आप अपने को मनुष्य किस कारण से कहते है ? क्या इसलिए कि आपका शरीर मनुष्यो-जैसा है ? या इसलिए कि आपके अन्दर मनुष्योचित गुण है। यदि केवल शरीर के कारण हम अपने को मनुष्य माने तो वैसा ही निरर्थक है जैसा कि ईश्वर-विहीन देवालय । यदि मानवी गुणो के कारण मनुष्य मानते हो तो हमारे मन मे यह सवाल उठना चाहिए कि क्या हम सचमुच मनुष्य है ? क्या मानवी गुणो का विकास हमे अपने अन्दर दिखाई देता है ?

मनुष्य का धात्वर्थ है मनन करनेवाला अर्थात् बुद्धियुक्त। मनुष्य और पशु के शारीरिक अवयवो में, 'आहार, निद्रा, भय, मैथुन' मे, समानता होते हुए भी 'ज्ञान हि तेषामधिको विशेष ' राज-सन्यासी भर्तृहरि ने कहा है और अन्त मे यह फैसला दिया है 'ज्ञानेन हीना पशुभि समाना ।' इसका भी अर्थ यही है। अर्थात् जिसे बुद्धि या ज्ञान, दूसरे शब्दो मे चिन्तन-मनन और सारासार विचार करने की शक्ति हो, वह मनुष्य है। परन्तु यदि मनुष्य के उद्गम की दृष्टि से विचार करते है तो उसका धागा ठेठ परमात्मा या परब्रह्म तक पहुचता है। मनुष्य उस चैतन्य-सागर का एक विशिष्ट कण है। वह उससे बिछुडा हुआ है और अपनी मातृ-भूमि की ओर स्वभावत ही झपटा जा रहा है। सारे समुद्र के जल मे जो गुण-धर्म होगे, वही उसके एक बूद मे होने चाहिए। दोनो मे भेद सिर्फ परिमाण का हो सकता है। तत्त्व दोनो मे एक ही होगा। मनुष्य मे भी वही गुणधर्म, वही तत्त्व होने चाहिए—हा, छोटे रूप मे अलबत्ता—जो परमात्मा मे हो सकते है। यदि मनुष्य अपने अन्दर उन गुणो को उसी हद तक विकसित कर ले, जिस हद तक वे परमात्मा मे मिलते है तो वह परमात्मा-रूप हो सकता है। इस अवस्था मे वह 'सोऽहम्' या 'अह ब्रह्मास्मि' 'एकमेवाद्वितीयम्' का अनुभव करता है। परमात्मा चैतन्य-स्वरूप है, सत् चित् आनन्द—सच्चिदा-नन्द—रूप है, 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' है। यही गुण मनुष्य की प्रकृति मे भी

स्वभावज होने चाहिए। परमात्मा के इन भिन्न-भिन्न शब्दो मे वर्णित गुणो का यदि महत्तम-समापवर्तक निकाले तो वह मेरी समझ मे एक—तेजस—निकलता है। इस अर्थ की श्रुति भी तो है—'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि'—जहा तेज है, वही सत्ता है, वही चैतन्य है, वही आनन्द है, वही असत्य का अभाव और सत्य की स्थिति सभवनीय है, वही कल्याण है, वही सौन्दर्य है। जो तेजोहीन है, न उसकी सत्ता रह सकती है, न उसकी चेतनता उपयोगी हो सकती है, वह चर्म की तरह है, और आनन्द तो वहा से इस तरह भाग जाता है जिस तरह फूल के सूख जाने पर उसकी खुशबू। जो तेजोहीन है उसके पास सत्य का अभाव होता है। या यो कहे कि सत्य तेज-रूप है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' इसका अर्थ यही है कि जहा तेज नही, वहा आत्मा नही। इसी तरह जहा सत्य नही वहा तेजबल भी कैसे हो सकता है? इसी तरह जो स्वय तेजस्वी नही है वह कल्याण-साधक, मगलमय कैसे हो सकता है? तेज ही श्रेयस्साधिका शक्ति है। और तेजोहीन को सुन्दर भी कौन कहेगा और कौन मानेगा? 'तेजस्' की यह व्याप्ति बिलकुल सरल, सीधी और सुबोध है। इसलिए मै कहता हू कि परमात्मा तेजोमय है, तेज-स्वरूप है, स्वय तेज है और मनुष्य, उसका अग, भी तभी मनुष्य-नाम को सार्थक कर सकता है जब उसमे तेज हो, जब तेजस्वी हो। तेज ही मनुष्य की मनुष्यता की कसौटी है। तेजोहीन मनुष्य मनुष्य नही है।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि शब्दार्थ और गुण-विवेचन की दृष्टि से मनुष्य मे दो बाते प्रधान और अवश्य होनी चाहिए, यानी सारासार-विचार-शक्ति और तेज। यदि हम और सूक्ष्म विचार करेगे तो हमे तुरन्त मालूम हो जायगा कि विचार-शक्ति भी तेज का ही एक अग है। तेज शक्ति-रूप है, बल-रूप है, पुरुष-रूप है। तो अब मै आपसे पूछता हू कि क्या आप अपने अन्दर मनुष्यता का अस्तित्व स्वीकार करते है? क्या आप यह कहने के लिए तैयार है कि हम मनुष्य है, हम तेजोमय है, हम तेजस्वी है, हम शक्तिमान् है, बलवान् है, पुरुषार्थी है? यदि हम इसके जवाब मे 'हा' कह सके, तभी

हमें मानना चाहिए कि हम अपने को मनुष्य कहलाने के और कहने के अधिकारी हैं, वरना हमे अपने को मनुष्यता-हीन मनुष्य—प्राण-हीन शरीर—कहना चाहिए।

मनुष्य और मनुष्यता का इतना विवेचन करने के बाद अब हम 'समाज' शब्द का उच्चारण करने के अधिकारी हो सकते हैं। 'समाज' का अर्थ है समूह। पर जाति, दल, मनुष्य-समाज और समष्टि इतने अर्थों में आजकल 'समाज' शब्द का प्रयोग होता है। यहा 'समाज' से मेरा अभिप्राय मनुष्य-समाज या मनुष्य-जाति से है। जब कि हम मनुष्य-समाज की ही उन्नति मे अग्रसर नही हो रहे हैं, तब हमारे लिए समष्टि की अर्थात् प्राणि-मात्र की उन्नति ओर सुख की बाते करना धृष्टता-मात्र होगी। मनुष्य के अन्दर अपना गोल बाधकर रहने अर्थात् समाजशील होने की इच्छा बहुत हद तक स्वाभाविक हो गई है। हिन्दू-धर्म के अनुसार, अब मनुष्य प्राय उसी अवस्था मे ऐकान्तिक जीवन व्यतीत करने का अधिकारी माना जाता है, जब कि वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यो के भार से मुक्त हो चुका हो। जबसे मनुष्य समाजशील हुआ तबसे उसका कर्त्तव्य दुहरा हो गया। जबतक वह अकेला था तबतक उसके विचारो और कार्यो की सीमा अपने अकेले तक ही परिमित थी। उसके कुटुम्बी और समाजी होते ही उसके दो कर्त्तव्य हो गये—एक स्वय अपने प्रति और दूसरा औरो के प्रति अर्थात् कुटुम्ब या समाज के प्रति। इसी कर्त्तव्य-शास्त्र की परिणति हिन्दुओं की वर्णाश्रम-व्यवस्था थी। वर्ण-व्यवस्था प्रधानत सामाजिक कर्त्तव्यो से सबध रखती है ओर आश्रम-व्यवस्था प्रधानत व्यक्तिगत कर्त्तव्यो से। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो व्यक्तिगत ओर समाज-गत कर्त्तव्य इतने परस्पर-आश्रित और परस्पर सबद्ध है कि एक के पालन मे दूसरे का पालन अपने-आप हो जाता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्य मनुष्य के लिए निकटवर्ती है। जो निकटवर्ती कर्त्तव्य का पालन यथावत् नही कर पाता उससे दूरवर्ती अर्थात् सामाजिक कर्त्तव्यो के पालन की क्या आशा की जा सकती है। जिसे अपने शरीर की, मन की, आत्मा की उन्नति की फिक्र नही, वह बेचारा समाज की उन्नति

क्या करेगा ? इसी तरह जो अकेले अपने ही सुख-आनन्द में मग्न है—समाज का कुछ खयाल नही करता, उसका सुख-आनन्द भी वृथा है। अनुभव तो यह कहता है कि ज्यो-ज्यो मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति होती जाती है, त्यो-त्यो उसकी दृष्टि विशाल, सूक्ष्म और कोमल होती जाती है, त्यो-ही-त्यो उसे अपने कुटुम्ब, जाति, समाज और देश का सुख-दुःख अपना ही सुख-दुःख मालूम होने लगता है। यदि कोई व्यक्ति यह दावा करे कि मैं उन्नत हू, पर यदि उसकी दृष्टि हमे उस तक ही मर्यादित दिखाई दे, कुटुम्ब, जाति, समाज या देश के दुःख-सुखो से वह विरक्त, उदासीन या लापरवाह नजर आवे, तो समझना चाहिए कि या तो उसे अपनी उन्नति हो जाने का भ्रम हो गया है या वह उन्नत होने का स्वाग बनाता है। अनुभव डके की चोट कहता है कि ज्यो-ज्यो मनुष्य की मनुष्यता का विकास होता जाता है, त्यो-त्यो उसे क्रमश अपनी जाति, समाज, देश और मनुष्य-जाति और अन्त को भूत-मात्र अपने ही स्वरूप दीख पडते है, वह उनके सुख-दुःख को उसी तरह अनुभव करता है जिस तरह स्वय अपने सुख-दुःख को। यह दुःख की अनुभूति ही समाज-सेवा की प्रेरक है। जबतक मनुष्य का हृदय अपने कुटुम्ब, जाति, समाज, या देश के दुःखो को देखकर दुखित नही होता, तबतक उसे उनकी सेवा करने की सच्ची इच्छा नही हो सकती। यो तो दुनिया मे ऐसे लोगो का टोटा नही है जो मान, बडाई, प्रशसा, धन आदि के लोभ से समाज-सेवा करने मे प्रवृत्त होते है, पर उनकी यह सेवा सच्ची सेवा नही होती। इससे न उस समाज को ही सच्चा लाभ पहुचता है, स्वय उसे ही सेवा का श्रेय मिल पाता है। सच्ची सेवा का मूल है दया-भाव। दया मनुष्यत्व के विकास की अन्तिम सीढी है। दयाभाव निर्बलता का चिन्ह नही, असीम स्वार्थ-त्याग और घोर कष्ट-सहन की तैयारी का प्रतीक है।

इस विवेचन से हम इन नतीजो पर पहुचे कि समाज-सेवा मनुष्य का कर्त्तव्य है—सामाजिक ही नही व्यक्तिगत भी। समाज-सेवा की प्रेरणा के लिए समाज के दुःखो की अनुभूति होनी चाहिए। जिस मनुष्य के अन्दर मनुष्यता नाम की कोई वस्तु किसी भी अश मे विद्यमान है, वह समाज के

दुःखो को जरूर अनुभव करेगा। मनुष्य का दया-भाव जितना ही जाग्रत होगा, उतना ही अधिक वह समाज की सेवा कर पायगा।

अब हम इस बात का विचार करे कि समाज-सेवा का अर्थ क्या है? समाज-सेवा का अभिप्राय यह है कि उन लोगो की सेवा जिन्हे सेवा की अर्थात् सहायता की जरूरत हो, उन बातो की सेवा—उन बातो मे सहायता करना जिनकी कमी समाज मे हो, जिनके अभाव से समाज दुःख पाता हो, अपनी उन्नति करने मे असमर्थ रहता हो। जिस समाज के किसी व्यक्ति को किसी बात का दुःख नही है, जिस समाज मे किसी बात की कमी या रुकावट नही है, उसकी सेवा कोई क्या करेगा? उसकी सेवा के तो कुछ मानी ही नही हो सकते। हा, यह दूसरी बात है कि आज भारतवर्ष ही नही, तमाम दुनिया मे कोई भी समाज ऐसा नही है, जो सब तरह से भरा-पूरा हो और इसलिए प्रत्येक समाज की सेवा करने की बुरी तरह आवश्यकता इन दिनो है और शायद सृष्टि के अन्त तक कुछ-न-कुछ बनी ही रहेगी। अतः समाज-सेवा का असली अर्थ यही हो सकता है कि दलित, पीडित, पतित पगु, दुखी, निराधार, रोगी, दुर्व्यसनी, दुराचारी और ऐसे ही लोगो की सेवा। सेवा का अर्थ है जिस बात की कमी उन्हे है, उसकी पूर्ति कर देना। दूसरे शब्दो मे कहे तो समाज मे ऐसे कामो की नीव डालना जिन्हे हम आम तौर पर कुरीति-निवारण, पतित-पावन, परोपकार और दयाधर्म के काम कहा करते है। सेवा की एक और रीति भी है। वह है समाज-व्यवस्था मे परिवर्तन, सही माने मे समानता की बुनियाद पर समाज को कायम करना। व्यक्तिगत सेवा से भिन्न यह सामाजिक सेवा हुई। इसके सम्बन्ध मे दूसरी जगह विवेचन करेगे।

अब हम अपने देश के सेव्य समाज की ओर एक दृष्टि डाले। यो देश की प्राकृतिक सुन्दरता, इसकी शस्यश्यामला भूमि, प्रत्यक्ष अनुभव मे आनेवाले षड्ऋतुओ के आवागमन और वैभव, उसकी ऐतिहासिक उज्ज्वलता, उसकी धार्मिक महत्ता, उसकी विद्याव्यसन-पराकाष्ठा, उसकी शूरवीरता आदि की विरुदावली गाने का यह स्थान नही है। पर उसके इन्ही

गुणो ने उसे विविध भाषा, वेश-भूषा और विशेषता रखने वाली जातियो की एक नुमाइश बना रखा है। इसका उसे अभिमान होना चाहिए। उसका जन-समाज विविध ह। उनसे वह उसी नरह शोभित होता है जिस तरह बहुरगी फूलो से कोई उद्यान सुसज्जित और सुगधित होता है। पर आज यह फुलवारी मुरझाई हुई दिखाई देती है। जीवन-पानी न मिलने से जिस तरह फूलो के पत्ते और पखुरिया नीचा सिर करके झुक जाती है उसी तरह जीवन के अभाव मे इसका जन-समाज नतशिर होकर अपना अभागा मुख दुनिया को न दिखाने की चेष्टा करता हुआ मालूम होता है। अपने अकर्म या कुकर्म से प्राप्त परिस्थिति-रूपी राक्षसी के भीमकाय जवडे मे वह असहाय-सा छटपटाता हुआ दीख पडता है। तेज की जगह सेज, ज्ञान की जगह मौखिक मान, धर्म की जगह धन, समाज-सेवा की जगह व्यक्ति-सेवा—गुलामी—की उपासना-मे वह लीन दिखाई देता है। वह रोगी है, उसका शरीर, मन-आत्मा तीनो रोग-ग्रस्त है —विजातीय वस्तुओ से भ्रष्ट होते जा रहे है। वह पगु है, उसके पाव लडखडाते है—खडा होने की कोशिश करते हुए पैर थर-थर कापने लगते है। वह पतित है—पिछडा हुआ है—उसमे दुर्व्यसन, दुराचार, अन्यान्य कुरीतियो का अड्डा है। अतएव वह सेव्य है। उसके विद्वान और शिक्षित लोग अपनी विद्या और शिक्षा का उपयोग व्यक्ति-सेवा, धनोपार्जन या अपने क्षुद्र सुख-साधनो की वृद्धि के लिए करते है। उसके धनवान् सट्टे-वाजी, कल-कारखाने-वाजी और सूदखोरी के द्वारा जान मे और अनजान मे गरीबो का धन अपने घर मे लाते है—गरीबो को अधिक गरीब बनाते है, खुद अधिकाधिक धनी बनते जाते है और फिर उस धन का उपयोग 'दान' की अपेक्षा 'भोग' मे अधिक होता है। 'दान' भी वे धर्म की वृद्धि के लिए, धर्म की स्थिति के लिए नही, बल्कि धर्म के 'उन्माद' के लिए, धर्मभाव से, पर धर्मज्ञान के अभाव-पूर्वक देते है। उसके सत्ताधीश समाज-सेवक बनने और कहलाने मे अपनी मान-हानि समझते है—'विष्णु-पद' के भ्रम को दूर करना उन्हे अप्रिय, शायद असह्य भी मालूम होता है। 'प्रभु' शब्द से सबोधित होने मे वे अपना गौरव मानते है—इसमे परमेश्वर का अपमान

उन्हे दिखाई नही देता। उसके किसान, उसके अन्नदाता, उसके तात, उसके भोलेभाले पापभीरु सपूत, बैलो को गोद-गोदकर—उनके साथ ज्यादती कर-करके, खुद सारे समाज के बैल बन रहे है। क्षत्रिय तो समाज मे रहे ही नही। उनकी मूछे कट गई। उनकी तलवारे देवी के सामने गरीब मेमने पर उठकर अपना जन्म सार्थक करती है। उनकी बन्दूके निर्दोष हिरन, कोवे, बटेर, बहुत हुआ तो सूअर या कही-कही चीते के शिकार के लिए उठती है। आर्त्त के 'रक्षण' की जगह 'भक्षण' उन्हे सुविधाजनक धर्म मालूम होता है। मारने मे छिपी हुई 'मरने की तैयारी' को फिजूल समझकर, शत्रु पर प्रहार करने के आपत्तिमय मार्ग को छोड, उन्होने बकरो और हिरनो के मारने का राजमार्ग स्वीकार कर लिया है। नवीनयुग का नव सन्देश—'मारना नही, पर मरना' उनके कानो तक कभी पहुचा ही नही है। यदि पहुचा भी हो तो उनकी स्थूल बुद्धि उसके सूक्ष्म पर शुद्ध शौर्य्य को ग्रहण करने की तैयारी नही दिखाती। उनका एक भाग डाके डालने और लूटने को ही क्षात्र-धर्म समझ रहा है, जो कि वास्तव मे कापुरुष का धर्म है। उसका मुन्शी-मण्डल—राजकाजी लोग—सरस्वती के प्रतीक, कलम का उपयोग सरस्वती की सेवा मे नही, बल्कि भोले-भाले अनजान लोगो की गर्दन पर छुरी फेरने मे करके 'कलम-कसाई' के पद पर प्रतिष्ठित होने की प्रसिद्धि पा चुका है। उसका ब्राह्मण-वर्ग 'शिक्षक' की जगह 'भिक्षुक' और 'उपदेशक' की जगह 'सेवक'—गुलाम—बनकर 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मण' 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' पर शोकमय और करुणामय भाष्य लिख रहा है। 'ज्ञान' की जगह 'खान-पान' और 'त्याग' की जगह 'भोग' ने ले ली है। पूर्वजो की पूजी के वे दिवालिये वशज हो गये है। बुजुर्गो की विरासत के वे कपूत वारिस अपने को साबित कर रहे है। जन-तिरस्कार और निरादर के भागी होकर अपने मिथ्याभिमान-रूपी पाप का फल भुगतते हुए दिखाई देते है। 'नेता' के पद से भ्रष्ट होकर वे 'धर्म-विक्रेता' की पक्ति मे जा बैठे है। इस प्रकार आज देश का जन-समाज 'विवेक-भ्रष्ट' अतएव 'शतमुख पतित' दिखाई देता है। यह है इस समाज का नग्न—

भयानक चित्र । जब उसका यह कृष्ण-चित्र आखो के सामने खडा होता है तो क्षण-भर के लिए मेरी आशावादिता और आस्तिकता डगमगाने लगती है । पर मैं देखता हू कि इस भयानकता के अन्दर भी आशा की, प्रकाश की, सुहावनी किरणे है ।

यह चित्र मैंने इसलिए नही खीचा कि इससे यहा की दबी हुई, पर आशा की उत्सुक आत्मा, भयभीत अतएव निराश हो जाय । यह तो इसलिए खीचा है कि हमारी मोह-माया, हमारी भ्रम-निद्रा दूर हो जाय, हम अपनी सच्ची स्थिति को उसके नग्न, अकृत्रिम और भीषण रूप मे देख ले, जिससे उसके प्रति हमारे हृदय मे ग्लानि उत्पन्न हो । यह ग्लानि हमे दु स्थिति को दूर करने की, दूसरे शब्दो मे समाज-सेवा करने की, प्रेरणा करेगी ।

अब हमारे सामने यह सवाल रह जाता है कि अपने इस सेव्य समाज की सेवा किस प्रकार करे ? सेवा का प्रकार जानने के पहले हमे यह देखना होगा कि इस देश को किस सेवा की जरूरत है । दूसरे शब्दो मे हमारे समाज मे इस समय क्या दोष या खामिया है, जिनके दूर होने से समाज उन्नति की ओर अग्रसर हो सकता है । मै जहा तक इसपर विचार करता हू मुझे सबसे बडी कमी यहा 'तेज' की दिखाई देती है, जो कि मेरी समझ मे सब त्रुटियो की जननी है । पुरुषार्थ तेज का दूसरा नाम या खास अग है । जबसे हम पुरुषार्थ से नाता तोडने लगे, तबसे हमारी विपत्तिया और हमारे दु ख बढने लगे । किसी समाज के सर्वांग-सुन्दर और सर्वांग-पूर्ण होने के लिए इतनी बातो की परम आवश्यकता है—(१) भिन्न-भिन्न जातियो मे ऐक्य भाव हो, अर्थात् सब एक-दूसरे के हित मे सहयोग और अहित मे असहयोग करते हो, (२) कोई कुरीति न हो, (३) अनाथ और निर्धन तथा पतित और पिछडे हुए लोग न हो, (४) अन्याय, दुर्व्यसन और दुराचार न हो । यदि किसी समाज मे इनमे से एक भी त्रुटि हो तो मानना होगा कि वह उन्नत नही है और सेवा के योग्य है ।

यदि हम अपने समाज की कमियो पर विचार करे तो कम-से-कम

इतनी बातो पर हमारा ध्यान गये बिना न रहेगा—(१) हिन्दू-मुसलमानो का मन-मुटाव। (२) अछूत मानी जानेवाली जातियो—भगी, चमार आदि के साथ दुर्व्यवहार, छूने, आम कुओ मे पानी भरने, मदिरो मे उन्हे जाने देने आदि मनुष्योचित सामान्य अधिकारो से वचित रखना। (३) किसान, मजदूर के नाम से परिचित तथा कुछ अन्य जातियो और वर्गो का पिछडा हुआ रहना। (४) अनाथ और निर्धन विधवाओ और विद्यार्थियो की शिक्षा-रक्षा और भरण-पोषण का प्रबन्ध न होना। (५) नशेबाजी खासकर शराबखोरी और वेश्या-वृत्ति का प्रचलित रहना। (६) असत्य-भाषण दम्भ, दगाबाजी, बेईमानी, व्यभिचार, अन्याय आदि दुर्गुणो और दुराचारो का अस्तित्व। (७) बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधुर-विवाह, विवाह मे गालिया गाना, दहेज देना तथा कन्या-विक्रय आदि अनेक अशास्त्रीय रूढियो का प्रचलित रहना, मृत्यु के बाद जाति-भोजन-सम्बन्धी अनेक कुरीतिया। (८) सट्टेबाजी, रिश्वतखोरी, नजराना, बेगार, साहूकारो की किसानो पर ज्यादती, कल-कारखाने वालो की मजदूरो पर ज्यादती, सत्ताधारियो की प्रजा पर ज्यादती, चोरी, डकैती, खून आदि जुर्मो का होना। (९) मन्दिरो, मसजिदो, उपासको की दुर्व्यवस्था और अव्यवस्था, पुजारियो, महन्तो, आचार्यो की अनीति, अविनय, भिक्षुको, भिखारियो और पुरोहितो का अज्ञान और ज्यादती। (१०) रोग, मृत्यु, आपत्ति के समय कष्ट-निवारण का समुचित प्रबन्ध समाज की ओर से न होना। (११) सत-शिक्षा, सत्साहित्य, सद्धर्म और स्वच्छता, आरोग्य के प्रचार की व्यवस्था न होना, आदि-आदि। अब आप देखेगे कि समाज-सेवा की कितनी आवश्यकता है और समाज-सेवा का कितना भारी क्षेत्र हमारे सामने पडा है।

अब हमे इस बात पर विचार करना है कि यह सेवा किस प्रकार की जाय? इसमे सबसे पहली बात तो यह है कि जहा सेवा करने की इच्छा होती है, वहा रास्ता अपने-आप सूझ जाता है। फिर भी सेवा के दो ही तरीके मुझे दिखाई देते है—व्यक्तिगत और समाजगत। जहा समाज-सेवा की

व्याकुलता रखनेवाले व्यक्ति इने-गिने हो, वहा व्यक्तिगत रूप से सेवा आरम्भ करनी चाहिए। जहा सेवा की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति अधिक हो, वहा सगठित रूप से अर्थात् सामाजिक रूप से सेवा का प्रयत्न करना चाहिए। यह समझना भूल है कि एक आदमी के किये कुछ नही हो सकता। एक ही व्यक्ति यदि चाहे तो सारे ससार को हिला सकता है। सामाजिक प्रयत्न के लिए सगठन की आवश्यकता है। सगठन के दो तरीके है--एक तो ऊपर से नीचे और दूसरा नीचे से ऊपर। पर सगठन का ऊपर से नीचे करने का मार्ग, मेरी समझ मे, सदोष है। इमारत पहले बुनियाद से शुरू होती है, शिखर से नही। शुद्ध और पुख्ता सगठन नीचे से--जनता से शुरू होना चाहिए--यो शुरूआत भले ही ऊपर के लोगो के द्वारा हो, पर नीव तो नीचे से ही उठानी चाहिए।

सगठन के लिए न भारी ढकोसले की जरूरत है, न उछल-कूद की। प्राय हर गाव मे पचायत होती है। जहा न हो वहा वह कायम की जाय। जहा हो वहाँ उसके काम की जाच करके जो त्रुटिया हो वे सुधार दी जाय। पचायत का मुखिया चुना हो ओर चुनाव की योग्यता धन, सत्ता या वैभव नही, बल्कि सेवा और सेवा-क्षमता हो। कागजी कार्रवाई कम-से-कम हो, विश्वास, प्रेम ओर सहयोग के भाव उसकी कार्रवाई मे प्रधान हो। पचायत की बहुमति के फैसलो या नियमो को सब लोग माने और उनपर अमल करे। जो बिना उचित कारण के न माने, न अमल करे, वे अपराधी समझे जाय और पचायत उन्हे यथायोग्य दण्ड दे। पर, हर बात मे औचित्य का खयाल रहे, न्याय-अन्याय का पूर्ण विचार रहे। ऊपर जिन सेवा-क्षेत्रो या त्रुटियो का जिक्र किया गया है उसमे एक भी ऐसा नही है जिसका समुचित प्रबन्ध वे पचायते न कर सकती हो। बात यह है कि हमारे पास सेवा के सब साधन मौजूद है, धन हे, शक्ति है, सस्था भी है, नही है वे आखे जिन्हे यह दिखाई दे सके। यदि हमारे मन मे समाज-सेवा की जरा भी इच्छा पैदा हो जाय तो हमारी इन्ही आखो से हमे ये सब बाते करतलामलकवत् दिखाई देने लगे।

पचायतो का सबसे पहला काम यह हो कि वे अपने गाव की कमियो, अभावो की जाच करे और उनमे जिस बात मे जिस दल या वर्ग को सबसे ज्यादा तकलीफ होती है उसके प्रबन्ध को सबसे पहले अपने हाथ मे ले और उस काम के लिए गाव में जो सबसे योग्य पुरुष हो उसके जिम्मे वह काम दे। पचायत का एक कोष हो। हर कुटुम्ब की शक्ति देखकर उसके लिए चन्दा लिया जाय। पूर्वोक्त बातो मे मुझे किसानो की दरिद्रता, अछूतो की दयाजनक स्थिति, अनाथ और निर्धन विधवाओ और विद्यार्थियो की दुरवस्था और हिन्दू-मुसलमानो का मन-मुटाव, ये सवाल सबसे ज्यादा जरूरी मालूम होते हैं। पचायतो को चाहिए कि पहले इनपर ध्यान दे।

किसानो की दरिद्रता मिटाने के लिए तीन काम प्रधानत करने होगे। साहूकारो और राजकर्मचारियो की लूट से उनकी रक्षा और चरखे के द्वारा अर्थात् मौसम पर कपास इकट्ठा कर उसे खुद ही लोढ, धुनक और सूत कातकर तथा अपने गावो के जुलाहे से कपडा बुनवाकर पहनने की प्रेरणा के द्वारा उनको फुरसत के समय कुछ आमदनी का साधन देना और बेगार-नजराना की प्रथा मिटवाने का उद्योग करना। अछूतोद्धार के लिए छूआ-छूत का परहेज न रखना, कुवो मे उन्हे पानी भरने देना, मन्दिरो मे जाने देना और मदरसो मे पढने देना, आदि सहूलियत करनी होगी। अनाथ और निर्धन विधवाओ और विद्यार्थियो मे धार्मिक और औद्योगिक तथा चरखा आदि की शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा और जबतक वे स्वावलम्बी न हो तबतक उनके भरण-पोषण की व्यवस्था पचायती फड मे करना। हिन्दू-मुसलमान आदि भिन्न-भिन्न धर्म की अनुयायी जातियो मे मेल-मिलाप रखने के लिए एक-दूसरे के धार्मिक रिवाजो के प्रति आदर और सहिष्णुता रखने के भावो का प्रचार करना और अपने-अपने धर्म के शुद्ध, उच्च, उदार सिद्धान्तो के प्रेमपूर्वक ज्ञान-दान का प्रबन्ध करना—ये काम करने होगे।

अब सवाल यह रह जाता है कि इस काम को कौन उठावे? इसका सीधा जवाब है वह जिसके मन मे सेवा करने की प्रेरणा होती हो। समाज के दु खो को देखकर जिसका हृदय छटपटाता हो, वही सेवा

के योग्य है, वही सेवा करने का अधिकारी है, वह किसी के रोके नही रुक सकता। जो औरो के दु ख से दु खी होता है, उनके दु ख दूर करने के लिए त्याग करने और कष्ट उठाने के लिए तैयार रहता है, समझना चाहिए कि उसकी आत्मा उन्नत है और मानना चाहिए कि वही समाज-सेवा का अधिकारी है। ये लोग समाज के लिए आदरणीय, पूज्य, समाज के सहयोग के सर्वथा योग्य होते है। ऐसे सज्जन सब समाज मे थोडे बहुत हुआ करते है। हमारे समाज मे भी ऐसे महानुभाव है, उन्ही को मैने ऊपर 'इस भयानकता के अन्दर भी आशा की, प्रकाश की, सुहावनी किरणे' कहा है। उन्ही के प्रयत्नो पर हमारे समाज का कल्याण अवलम्बित है। वे यदि इने-गिने हो तो चिन्ता नही। एक दीपक अनेक घरो के दीपको को प्रज्वलित कर सकता है—नही, सारे भूमण्डल को प्रकाशित और दीप्तिमय कर सकता है। एक कर्वे ने भारत मे अपूर्व स्त्री-सस्थाए खोल दी, एक बुकर टी वाशिगटन ने सारी निग्रो जाति का सिर ससार मे ऊचा कर दिया, एक मालवीयजी ने एक बडा हिन्दू-विश्वविद्यालय खडा कर दिया, एक दयानन्द ने हिन्दू-जाति मे अद्भुत चेतना उत्पन्न कर दी, एक तिलक ने भारतीय राजनीति मे खलबली मचा दी, एक गाधी ने समाज को नवीन प्रकाश से आलोकित कर दिया, एक विवेकानन्द और एक रामतीर्थ ने यूरोप और अमेरिका मे हिन्दू-धर्म की कीर्ति अमर कर दी। यह न सोचिए कि जबतक आपके पास बडी भारी सख्या न हो, दफ्तर न हो, अमला न हो, तबतक आप कुछ सेवा नही कर सकते। कार्यारम्भ के लिए इन ढकोसलो की बिलकुल जरूरत नही होती। यदि आपमे से एक भी व्यक्ति अपनी शक्ति और प्रेरणा के अनुसार छोटा भी कार्य चुपचाप करने लगेगा तो उसकी ठोस और बुनियादी सेवा के आगे बीसो व्याख्यानो, लेखो और प्रस्तावो का कुछ भी मूल्य नही है। एक भगिनी निवेदिता ने कलकत्ते की गन्दी गलियो को सुबह किसी को न मालूम होने देते हुए साफ करके जो सेवा की, सत्याग्रहाश्रम के कितने ही लोगो ने पाखाना साफ करके अछूतो के समाज की जो सेवा की, गाधीजी रोज चरखा कातकर निरन्न किसानो की, और लगोट लगाकर वस्त्र-हीन

भिखारियो की जो सेवा की, उसके अभाव मे रामकृष्ण मिशन, सत्याग्रहाश्रम और काग्रेस की सेवाए फीकी और निस्सार मालूम होती है। सवाल इच्छा का है, कसक का है। जहा दर्द है, वहा दवा है। सिपाही न तो अभावो की शिकायत करता है, न बाधाओ की परवाह। वह तो तीर की तरह सीधा लक्ष्य की ओर दौडता चला जाता है—न इधर देखता है, न उधर। वह 'हवाई जहाज' मे सैर नही करता, वह तो जहा जरूरत हो, वहा दफन हो जाने के लिए एक पाव पर तैयार रहता है। अतएव यदि हम मानते है कि हम मनुष्य है, तो जिस रूप मे हमसे हो सके उसी रूप मे समाज के दुःखो को दूर करने के उपाय मे अर्थात् समाज-सेवा मे अपना तन या मन, या धन, या तीनो, लगाये बिना हमारे दिल को चैन नही पडने की। और जिन लोगो का पुण्य इतना प्रबल न हो, जिनकी मनुष्यता जाग्रत न हुई हो, उनमे समाज-सेवा के लिए आवश्यक तेज-पुरुषार्थ का अभाव हो, वे परमात्मा से प्रार्थना करे कि हे प्रभो, हमारी बुद्धि को विमल और हृदय कोमल कर, जिससे हम अपनी जाति, समाज, देश और अन्त को सारी मनुष्य-जाति के दुःख को अनुभव कर सके और

तेजस्विनावधीतमस्तु

जिससे हम उनको दूर करने मे समर्थ हो।

५ : हिन्दूधर्म की रूप-रेखा

हिन्दू-समाज इन दिनो क्रान्ति के पथ पर है। इस्लाम के आक्रमण ने जहा उसे स्थिति-पालक (Conservative) बनाया, तहा ईसाई-सभ्यता उसे अपने पुराने विश्व-बन्धुत्व की ओर ले जा रही है। इस्लाम यद्यपि एक ईश्वर का पुजारी और भ्रातृभाव का पृष्ठ-पोषक है, तथापि भारत पर उसके आक्रमणकारी स्वरूप ने हिन्दू-समाज को उससे दूर फेक दिया है। इसके विपरीत ईसाई-संस्कृति अपने मधुर स्वरूप के प्रभाव से हिन्दू-समाज को अपने नजदीक ला रही है। भिन्न-भिन्न संस्कृतियो और

जातियो के ऐसे सम्पर्क और सघर्ष के समय किसी भी एक सस्कृति या जाति का अपने वर्तमान रूप मे बना रहना प्राय असम्भव हो जाता है। दोनो एक-दूसरे पर अपना असर छोड़े विना नही रह सकते। हा, यह ठीक है कि विजित सस्कृति और जाति, विजेता सस्कृति और जाति का, अधिक अनुकरण करने लगती है, क्योकि वह स्वभावत सोचने लगती है कि किन कारणो ने उसे जिताया और मुझे हराया और जो बाह्य अथवा आभ्यतर कारण उस समय उसकी समझ मे आ जाते है, उन्ही का वह अनुकरण करने लगती है—इस इच्छा से इन बातो को प्राप्त कर और इन बातो को छो कर मै फिर अपनी अच्छी दशा को पहुच जाऊ।

हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्म इस समय ससार के किसी धर्म और समाज के असर से अपने को नही बचा सकता। यह बात सच है कि हिन्दू-समाज को हिन्दू-धर्म से जो ऊची और अच्छी बाते विरासत मे मिली है, वे और समाजो को अबतक नसीब नही हुई है। पर हिन्दू-समाज तबतक उन बातो से न स्वय काफी लाभ उठा सकता है और न औरो को लाभ पहुचा सकता है, जबतक वह खुद उस विरासत को, जमाने के मौजूदा प्रकाश मे, अपनी आवश्यकताओ के अनुकूल न बना ले और अपने को उस विरासत के योग्य न साबित कर दे। इसी काट-छाट, उलट-फेर या परिवर्तन का नाम है क्रान्ति। इस समय हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्म के प्राय प्रत्येक अग मे एक हलचल हो रही है, एक उथल-पुथल मच रही है, और यह उसके दूषित भाग को काट तथा उत्तम भाग को पुष्ट किये बिना न रहेगी। आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज, और जिसे आजकल लोग गाधी-मत कहने लगे है, ये सब इसी क्रान्ति के लाल झण्डे है। आइए, इसी क्रान्ति के प्रकाश मे, हमारी बुद्धि और समाज की आवश्यकता हमे जितनी दूर ले जा सकती है, हम हिन्दू-धर्म पर, वहा से यहा तक नये सिरे से विचार करे।

जिस समाज को आज 'हिन्दू' कहते है उसे प्राचीन काल मे 'आर्य' कहते थे। हिन्दुस्थान का भी प्राचीन नाम आर्यावर्त था। हिन्दुस्थान के पश्चिम मे 'सिन्धु' नाम की एक बडी भारी नदी है। उसके रास्ते से यवन सबसे

पहले भारतवर्ष में आये । सिन्धु-नदी के आस-पास बसने के कारण उन्होंने आर्यों का परिचय अपने देशवासियों को 'सिन्धु' के नाम से दिया । प्राकृत भाषा में संस्कृत के 'स' शब्द का बहुत जगह 'ह' रूप हो जाता है । इस कारण 'सिन्धु' शब्द समय पाकर 'हिन्दू' में बदल गया । हिन्दुओं के निवास-स्थान भारतवर्ष का नाम भी हिन्दुस्थान या हिन्दुस्तान पड़ गया ।

महर्षि दयानन्द भारत की प्राचीन संस्कृति और प्राचीन जीवन के बड़े प्रेमी और अभिमानी थे । 'हिन्दु' नाम एक तो प्राचीन न था, दूसरे यवनों के द्वारा दिया गया था, इस कारण उन्होंने फिर से प्राचीन शब्द 'आर्य' का प्रचार करना चाहा था । अभी तक तो 'आर्य' शब्द प्राय उस समाज का सूचक माना जाता है, जो महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों पर चलना चाहता है । आज भी हिन्दू पुरुषों के नाम के अन्त में प्राय जो 'जी' शब्द लगाते है, वह 'आर्य' शब्द का ही अपभ्रंश रूप है ।

हिन्दू-धर्म आजकल आर्य-धर्म, वैदिक-धर्म, सनातन-धर्म आदि कई नामों से पुकारा जाता है । बौद्ध, जैन तथा सिक्ख धर्म भी हिन्दू-धर्म के ही अग है । आर्य-धर्म का अर्थ है आर्यों का प्रतिपालित धर्म । वैदिक धर्म का मतलब है वेदों में प्रतिपादित धर्म और सनातन धर्म का अर्थ है सृष्टि के आरम्भ से चला आया और सृष्टि के अन्त तक चला जाने वाला धर्म । बौद्ध, जैन और सिक्ख धर्मों को स्वतन्त्र धर्म कहने के बजाय हिन्दू-धर्म के सम्प्रदाय या पथ कहना ज्यादा सार्थक होगा । हिंदू-धर्म को अब कुछ लोग सनातन-मानव-धर्म या मानवधर्म भी कहने लगे है । इसके द्वारा वे यह सूचित करना चाहते है कि (१) हिन्दू-धर्म, सामान्य मानव-धर्म से भिन्न नही और (२) समयानुसार रूपान्तर करते हुए भी उसके मूल तत्त्व आदि से अन्त तक अटल रहते है । अतएव मेरी राय में हिन्दू-धर्म का दूसरा ठीक नाम है सनातन धर्म । 'आर्य-धर्म' नाम का तो प्रचार अभी बहुत कम हुआ है और 'वैदिक धर्म' का प्रचार करने से हमारी बुद्धि 'वेदों' तक मर्यादित हो जाती है । जब कभी हमें समय को देखकर धर्म के किसी विशेष सिद्धान्त पर जोर देने की या उसके किसी अग को निषिद्ध करार देने की जरूरत पेश आती

है, तब हमे 'वेदो' का सहारा लेना पडता है। यदि प्रसगवश 'वेदो' ने हमारा साथ न दिया तो या तो उनके अर्थो की खीचातानी करनी पडती है या निराश होना पडता है। आजकल प्रत्येक वाद मे यह देखने की प्रया-सी पड गई है कि यह वेद मे है या नही, यह सी वृत्ति का परिणाम है। किसी धर्म के मूलभूत सिद्धान्त या तत्त्व जिस प्रकार अटल होते है, त्रिकालावाधित होते है, उसी प्रकार उसके धर्मग्रन्थ—फिर वे एक हो या अनेक—अटल, अपरिवर्तनीय नही होते। हा, यह वात ठीक है कि अवतक हिन्दू-धर्म के मूल-ग्रथ एक प्रकार से 'वेद' ही माने गये है, परन्तु हमे याद रखना चाहिए कि प्राचीन चार्वाक, वौद्ध और जैन तथा अर्वाचीन सिख-पथ के लोग वेदो को नही मानते है—फिर भी वे हिन्दू-धर्म के अग तो है ही। अतएव अव 'हिन्दू-धर्म' को 'वैदिक' नाम देना उसे सकुचित कर देना है और दूसरे धर्म-पयो के लिए उसका दरवाजा रोक देना है। यह दूसरी वात है कि वेदो का अर्थ इस प्रकार किया जाय कि जिससे भिन्न-भिन्न पथो के वे विशिष्ट सिद्धान्त या अग उनमे उसी तरह समाविष्ट हो जाय जिस प्रकार उनके पृथक् धर्म-ग्रन्थो मे है और इस प्रकार वेदो की महिमा कायम रक्खी जाय। पर एक तो हिन्दू-धर्म के मूल तत्त्वो मे इतना वल और उपयोगिता है कि वे किसी ग्रन्थ या व्यक्ति का सहारा लिये विना न केवल कायम ही रह सकते है, वल्कि फैल भी सकते है, और दूसरे, यदि वेदो मे उन वातो का समावेश था ही तो फिर ये वेद-विरोधी नये सम्प्रदाय वने ही क्यो, और अव-तक टिक ही क्यो पाये है ? तीसरे वेदो की भाषा आज सर्वसाधारण की भाषा से इतनी भिन्न है और इसका भाव और शैली इतनी गूढ और क्लिष्ट है कि सर्व-साधारण मे उसका घर-घर प्रचार एक असभव-सी वात है। विना भाष्यो के उनका मतलव ही समझ मे नही आता। फिर वे किसी शास्त्रीय ग्रन्थ की तरह व्यवस्थित और क्रमवद्ध नही। यह दूसरी वात है कि हमारी भावुकता उन्हे अपौरुषेय माने, हमारी श्रद्धा उन्हे सव 'सत्यविद्याओ का आगार' कहे, हमारी व्यवहार-वुद्धि इस पैतृक सम्पत्ति की आराधना करे। पर धर्म-प्रेम, धर्म-प्रचार कहता है कि ग्रन्थ-विशेष तक धर्म की गति

को मर्यादित कर दोगे तो धर्म की मौलिकता और उज्ज्वलता कम हो जायगी तथा समाज का विकास रुक जायगा—समाज अनेकविध होकर कुपन्थी हो जायगा और अबतक ग्रन्थ-विशेष या व्यक्ति-विशेष को धर्म का आधार मानने वालो के समाज की यही हालत हुई है ।

'हिन्दू' शब्द अब यद्यपि इतना व्यापक हो गया है कि उसमे जैन, बौद्ध, सिख सब अपना समावेश करने लगे है, परन्तु जो लोग उसे विश्व-धर्म की कोटि और योग्यता पर पहुचाना चाहते है वे बहुधा निराश होगे या मुश्किल से सफल होगे, यदि 'हिंदू' शब्द का भी आग्रह कायम रक्खेगे । या तो उसे मानव-धर्म कहे या सनातन-धर्म । सनातन धर्म का रूढ अर्थ यद्यपि सकुचित हो गया है तथापि हिन्दू शब्द की अपेक्षा उसके अर्थ मे विस्तार-क्षमता अधिक है और न वह ग्रथ, व्यक्ति, देश या समाज मे सीमित ही है ।

यह तो हुई नाम की अर्थात् ऊपरी बात । यदि हम भीतरी सार वस्तु को ठीक-ठीक समझ लेगे तो बाहरी बातो के लिए विवाद या उलझन का अवसर बहुत कम रह जायगा ।

यदि हिंदू-धर्म के मूल तत्त्व का विचार करे तो वह साधारण मानव-धर्म से भिन्न नही मालूम होता । यदि हिंदू-धर्म की आचार-पद्धति पर ध्यान न दे—केवल तत्त्व को ही देखे तो वह सारे मनुष्य-समाज के धर्म का स्थान ले सकता है । दूसरी भाषा मे यो कहे कि एक मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनैतिक और मानवी, सब प्रकार की भूख या आवश्यकताओ की पूर्ति की गुजाइश उसमे है । हिंदू-धर्म का सबसे बडा महत्त्व यह है कि यह विश्व चैतन्य से भरा हुआ है, फिर उसे चाहे ईश्वर कहिये, चाहे सत्य कहिये, चाहे ब्रह्म कहिये, चाहे शक्ति कहिये, चाहे और कुछ—किन्तु यह सारी जड-चेतन-रूप सृष्टि उसी की बनी हुई है । सर्व-साधारण की भाषा मे इसे यो कह सकते है—ईश्वर या आत्मा है और वह घट-घट मे व्याप्त है । यह हुआ परम सत्य । दुनिया के तत्त्वज्ञानी या दार्शनिक अभी तक सत्य की अर्थात् दुनिया के मूल की खोज मे इससे आगे नही बढे है । हर धर्म के विचारशील दार्शनिको

ने इस बात पर विचार किया है कि मनुष्य क्या है, वह क्यो पैदा हुआ ह, वह कहा से आया है, कहा जायगा, दुनिया से उसका क्या सम्बन्ध है, दुनिया के प्रति उसका क्या कर्त्तव्य है, मनुष्य को और इस सारी सृष्टि को किसने पदा किया, इसका मूल क्या है, उसके प्रति मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है, आदि, हिंदू-धर्म मे इस विचार-साहित्य का नाम है दर्शन-ग्रथ या धर्म-ग्रन्थ ओर विचार-तथ्यो का नाम है धर्म-तत्त्व । हिंदू-धर्म और हिंदू-समाज मे 'धर्म' शब्द प्राय छ अर्थो मे प्रयुक्त होता है—

(१) परम सत्य—जैसे, ईश्वर, या आत्मा या चैतन्य है और वह सबमे फैला हुआ है।

(२) परम सत्य तक पहुचने का साधन—जैसे, प्राणिमात्र के प्रति आत्म-भाव रखना—सबको अपने जैसा समझना—अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय, आदि का पालन।

(३) कर्त्तव्य—जैसे, माता-पिता की सेवा करना पुत्र का धर्म है, पडोसी की और दीन-दुखियो की सहायता करना या प्रतिज्ञा-पालन मनुष्य का धर्म है।

(४) सत्कर्म या पुण्य अर्थात् सत्कर्म-फल—जैसे, दान देने से धर्म होता है।

(५) स्वभाव या गुण-विशेष—बहना पानी का धर्म है, उडना पक्षियो का धर्म है, मारना विष का धर्म है।

(६) धर्म-ग्रन्थ—हमारा हिन्दू-धर्म है, या ईसाई या मुस्लिम धर्म है।

अब आप देखेगे कि 'धर्म' शब्द कैसे विविध अर्थो मे व्यवहृत होता है। इससे हमे हिंदू-समाज और हिंदू-जीवन मे धर्म शब्द की व्यापकता का पता लगता है। इससे हमे इस बात का भी ज्ञान होता है कि ' र्म' के विषय मे हिंदू-समाज मे क्यो इतनी विचार-भिन्नता तथा विचार-भ्रम है। कोई पूजा-अर्चा को ही धर्म मानता है, कोई गेरुए कपडे पहनने को ही धर्म मान

बैठा है, कोई खान-पान, व्याह-शादी, मृत्यु-भोज को ही धर्म मान रहा है, कोई जप-तप को धर्म समझता है, कोई स्नान-ध्यान को और कोई परोपकार, जाति-सेवा और देश-सेवा को धर्म समझ रहा है। इन सबका मूल है 'धर्म' शब्द की इस व्यापकता में। गर्भाधान से लेकर मृत्यु और मोक्ष प्राप्त करने तक हिन्दुओ का सारा जीवन इसी कारण धर्म-मय माना जाता है। धर्मतत्त्व, धर्म-पालन के नियम, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और राजनैतिक तथा स्वास्थ्य और शिक्षा-सम्बन्धी सब प्रकार के सिद्धान्त और नियम हिन्दुओ के यहा धर्म-नियम है।

हिन्दुओ के जीवन मे 'धर्म' की इतनी व्यापकता को देखकर ही उनके यहा धर्म का यह लक्षण बाधा गया

यत अभ्युदय-निश्रेयस-सिद्धि स धर्म

अर्थात्—जिसके द्वारा मनुष्य को सब प्रकार का सासारिक सुख-वैभव प्राप्त हो और उसके पश्चात् तथा साथ ही ईश्वरी सुख-शान्ति भी मिले उसी का नाम है धर्म। सरल भाषा मे कहे तो जिससे लोक-परलोक दोनो सधे, वह धर्म है। इस व्याख्या मे धर्म-तत्त्व, धर्म-शास्त्र, नीति-नियम, स्वास्थ्य-साधन, शिक्षा-विधान, राज तथा समाज-नियम सबका भली-भाति समावेश हो जाता है। वर्तमान हिन्दू-समाज को ध्यान मे रखकर, आधुनिक काल मे, लोकमान्य तिलक महाराज ने

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु उपासनानामनेकता

अर्थात्—जो वेद को मानता हो, अनेक देवी-देवताओ की उपासना को मानता हो, आदि व्याख्या हिन्दू की की है। यह व्याख्या एक प्रकार से आजकल के सकुचित सनातन-धर्मी कहे जानेवाले हिंदू-धर्म की हो जाती है। इसमे सिख, जैन, बौद्ध आदि तो दूर, एक तरह से आर्य-समाजी भी नही आ सकते।

दूसरी व्याख्या देशभक्त श्री सावरकर ने की है। इसके अनुसार केवल वही मनुष्य हिंदू कहा जा सकता है जो भारतवर्ष को अपनी धर्म-भूमि और मातृ-भूमि मानता हो। लोकमान्य की व्याख्या से तो यह अधिक

व्यापक और हिंदू-समाज की वर्तमान आवश्यकताओ के अनुकूल है।
इससे हिन्दू समाज के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे एक हिन्दू-भाव की जड जमेगी। इससे वर्तमान हिन्दू-समाज के सघटन मे तो सहूलियत हो जायगी, परन्तु हिन्दू-धर्म के प्रसार और हिंदू-समाज के विस्तार मे सहायता न मिलेगी। हमे हिंदू-सघटन इस बात को लक्ष्य करके करना है कि हिंदू-धर्म से पृथिवी का बच्चा-बच्चा लाभ उठावे। इसके लिए मेरी राय मे और भी व्यापक परिभाषा की आवश्यकता है। वह ऐसी हो जो कि हिंदू-धर्म का रहस्य, महत्त्व और सिद्धान्त भी हमे समझा दे और हमारे सर्वतोमुखी विकास मे हमे सब तरह सहायता दे। ऐसी एक व्याख्या मै आज हिंदू-विचारको की सेवा मे उपस्थित कर रहा हू। मेरी परिभाषा यह है कि हिन्दू वह है जो इन पाच सिद्धातो को मानता हो —

(१) **सर्वात्म-भाव**
(२) **सर्व-भूत-हित**
(३) **पुनर्जन्म**
(४) **वर्णाश्रम** और
(५) **गो-रक्षा**

फिर वह चाहे किसी देश मे और वेश मे रहता हो और चाहे किसी ग्रन्थ या गुरु को मानता हो।

धर्म के पूर्वोक्त छहो रूपो को तथा पूर्वोक्त व्याख्या को हम ो भागो मे बाट सकते है—

(१) धर्म-तत्त्व और (२) धर्माचार। पहले भाग मे तत्त्व-चिन्तन और तत्त्व-निर्णय किया जाता है और दूसरे भाग मे उसके पालन के विधि-विधान बताये जाते है। पहला विचार का विषय है, दूसरा आचार का। या यो कहे कि पहला भाग लक्ष्य स्थिर करता है और दूसरा उसतक पहुचने के मार्ग का उपाय बताता है। इस लक्ष्य या साध्य या तत्त्व-निर्णय या धर्म-विचार से जहा तक सम्बन्ध है, ससार के समस्त धर्म-मतो मे तथा हिंदू-धर्म के भिन्न-भिन्न अग-रूप धर्म-पथो मे प्राय कोई भेद नही है। जैसे मनुष्य

का लक्ष्य है पूर्णता को प्राप्त करना—इसका विरोध किसी धर्म-मत मे न मिलेगा। यह हो सकता है कि भाषा जुदी-जुदी हो, पर भाव यही मिलेगा। जैसे हिन्दू इसे कहेगा मोक्ष प्राप्त करना, साक्षात्कार करना, ईश्वरस्वरूप हो जाना, स्थितप्रज्ञ होना, ब्रह्मत्व को प्राप्त होना, कैवल्य—निर्वाण या जिनत्व प्राप्त करना अथवा ज्ञानी हो जाना, आदि। इस लक्ष्य को पहुचने का साधन है—पवित्र जीवन व्यतीत करना, दूसरी भाषा मे कहे तो गुणो को बढाना, शक्तियो को बढाना और दोषो को तथा कमजोरिया को कम कर डालना। या यो कहे कि अपना विचार और अपनी सेवा छोडकर दूसरो का विचार और सेवा करते रहना, इसे आप चाहे धर्माचरण कहिये, तप कहिये, देश और समाज-सेवा कहिये—कुछ भी कहिये। कहने का सार यह है कि मनुष्य के लक्ष्य के सम्बन्ध मे, अन्तिम स्थिति के विषय मे, विविध धर्म-मतो मे, भाषा-भेद के अतिरिक्त भाव-भेद नही है और न उसके मुख्य साधन—राज-द्वार—के विषय मे ही खास आशय-भेद है। मन्तव्य, स्थान और प्राप्तव्य स्थिति जब कि एक है, उसके स्वरूप-वर्णन मे चाहे दृष्टि, रुचि, योग्यता, अवस्था आदि के भेद से कुछ भेद हो—वहा तक पहुचने का राज-द्वार जब कि एक है—फिर उसतक ले जानेवाले छोटे-बडे टेढे-मेढे रास्ते चाहे अनेक हो—तब पन्थ-भेद और धर्म-भेद रह कहा जाता है ? वह रहता है तत्त्व-भेद मे नही, आचार के अगोपाग मे।

हिन्दू-धर्म का सबसे बडा सिद्धान्त है—

सर्वं खल्विद ब्रह्म। एकमेवाद्वितीयम्। सोऽहम्।

अर्थात्—यह सब विश्व—ब्रह्ममय—चैतन्यमय है। वह सबमे एकरूप से व्याप्त है। मै भी वही या उसी का अग हू। जन-साधारण इसी को आत्मा या ईश्वर कहते है। बुद्धि और आचरण के द्वारा इस सत्य का अनुभव करना मनुष्य का स्वभाव-धर्म है। यह हुआ मनुष्य का लक्ष्य। इसी का नाम है मनुष्यत्व प्राप्त करना। जबतक मनुष्य इस अवस्था को नही प्राप्त होता वह अपने दिल और दिमाग—आचार और विचार के द्वारा यह नही अनुभव कर लेता कि आत्मा ही परमात्मा है—जीव-मात्र का सुख-दु ख

मेरा सुख-दु ख है, उनके गुण-दोष मेरे गुण-दोष है, उनकी सवलता-निर्वलता मेरी सवलता-निर्वलता है, तवतक वह अपने लक्ष्य, पूर्णत्व या मनुष्यत्व से दूर है।

हिन्दू-धर्म का दूसरा वडा सिद्धान्त है—'सर्व भूत-हित'। यह हिन्दू को उसके ध्येय तक पहुचने का द्वार दिखाता ह। इसका अर्थ है–प्राणि-मात्र के हित मे लगे रहना अर्थात् जो हिन्दू हर मनुष्य का—फिर वह किसी भी जात-पात का या देश का हो—सदा भला चाहेगा और करेगा, अपने भले मे वढकर और पहले दूसरे का भला चाहेगा और करेगा, जो पशु-पक्षी, कीडे-मकोडे तक के हित में तत्पर रहेगा, वही अपने जीवन-लक्ष्य तक पहुच सकेगा। ऐसे जीवन का ही नाम पवित्र जीवन, हिन्दू-जीवन या साधु-जीवन है। एक हिन्दू के लिए केवल यही काफी नही है कि वह जान ले कि मुझे पूर्णता को पहुचना है—दुनिया के सव दु खो, सव कमजोरियो, सव दोषो, सव वन्धनो से सदा के लिए छूट जाना है, या मनुष्योचित समस्त सद्गुणो, सद्भावो और सत्शक्तियो का उदय और पूर्ण विकास अपने अन्दर करना है, वल्कि यह भी जरूरी है कि वह उनके लिए सच्चे दिल से आजीवन अथक प्रयत्न करे। वह प्रयत्न कैसा और किस दिशा मे हो—इमी का दर्शक यह दूमरा सिद्धात है। इम सिद्धात मे समाज-सेवा, देश-हित, राष्ट्र-कल्याण, परोपकार आदि सद्भावो और सत्कार्यो का वीज है। हिन्दू भिन्न-भिन्न सेवा-कार्य इसलिए नही करता है कि उनसे दुनिया मे उसकी कीर्ति फैलती है या वड्प्पन और गौरव मिलता है, या उच्च पद और प्रतिष्ठा मिलती है, या और कोई दुनियावी महत्वाकाक्षा सिद्ध होती है, वल्कि इसलिए करता है कि इनके विना उसका जीवन-कार्य अधूरा रह जाता है, मनुष्योचित गुणो का विकास उसके अदर पूरा-पूरा नही हो पाता, उसके मनुष्यत्व या हिन्दुत्व की पूरी-पूरी कमौटी नही हो पाती। हिन्दू-धर्म का आचार-शास्त्र, या कर्मकाण्ड, या धार्मिक विधि-निपेध या यमनियमादि का समावेश इसमे हो जाता है।

हिन्दू-धर्म के ये दो सिद्धात—एक लक्ष्य-सवधी, दूसरा साधन-

सबधी—ऐसे है जो उसे मानव-धर्म की कोटि मे ला बिठाते है, मानव-धर्म के लिए इससे बढकर सिद्धात अभी तक किसी विचारक, धर्माचार्य या धर्म-प्रवर्तक के दिमाग और अनुभव मे नही आये। इसके अतिरिक्त हिन्दू-धर्म मे कुछ ऐसे सिद्धात भी है जो अन्य धर्म-मतो से उसे पृथक् करते है। वे है पुनर्जन्म, वर्णाश्रम और गोरक्षा। पुनर्जन्म का जन्म यद्यपि प्रधानत तत्त्व-चिन्तन से हुआ है, तथापि उसका व्यावहारिक महत्त्व और उपयोग भी है। वर्णाश्रम का सबध यो सामाजिक जीवन मे विशेष है, पर वह हिन्दू-समाज का प्राणरूप हो गया है, इसलिए वह हिन्दू-धर्म की विशेषता की हद तक पहुच गया है। गोरक्षा यो तत्त्वत अहिंसा या सर्व-भूत-हित का अग है, पर उसका व्यावहारिक लाभ भारतवासियो के लिए इतना है कि उसे हिन्दू-धर्म के मुख्य अगो मे स्थान मिल गया है। इसके अलावा मूर्ति पूजा, अवतार, श्राद्ध, तीर्थ-व्रत आदि सबधी ऐसे मन्तव्य भी हिन्दू धर्म में है, जिनका समर्थन तत्त्वदृष्टि से एक अश तक किया जा सकता है, परन्तु जिनका मूल-स्वरूप बहुत बिगड गया है और जिनका आज बहुत दुरुपयोग हो रहा है और इसलिए जिनके विषय मे हिन्दू-धर्म के भिन्न-भिन्न पन्थो मे मत-भेद है।

इस तरह सक्षेप मे यदि हिन्दू-धर्म की रूप-रेखा, व्याख्या या मुख्य सिद्धात बताना चाहे तो कह सकते है

(१) सर्वात्म-भाव, आत्म-भाव, अद्वैत या चैतन्य-तत्त्व, (२) सर्वभूतहित, (३) पुनर्जन्म, (४) वर्णाश्रम और (५) गोरक्षा।

इनमे किसी की भाषा पर, या किसी एक की मान्यता के विषय मे भले ही मत-भेद हो, पर ये पाचो बाते ऐसी नही है, जिनके मानने से किसी को बाधा होती हो। समष्टि रूप मे ऐसा कह सकते है कि ये पाचो सिद्धात प्राय प्रत्येक हिन्दू को मान्य होते है और जो इन पाच बातो को मानता है उसे हमे हिन्दू समझना चाहिए।

६ : हिन्दू धर्म का विराट् रूप

धर्म मूलत वैयक्तिक वस्तु है—व्यक्ति के अपने पालन करने की चीज़ है। एक ही धर्म के पालन करनेवाले जब अनेक व्यक्ति हो जाते है तब उनका अपना एक समाज बन जाता है। आगे चलकर यही समाज एक जाति बन जाता है। हिन्दू-समाज या हिन्दू-जाति का जन्म पहले बताये हिन्दू-धर्म के सिद्धातो का पालन करने के लिए हुआ है।

व्यक्ति जबतक अकेला होता है तबतक वह एकाकी ही धर्म का पालन करता है—अपने लक्ष्य तक पहुचने की चेष्टा करता है। दूसरो का खयाल उसके मन मे आ ही नही सकता। एक से दो और दो से अधिक होते ही उनका एक-दूसरे के साथ सबध और सम्पर्क होने लगता है और उनके पारस्परिक कर्त्तव्य या धर्म या व्यवहार-नियम बनने लगते है। इन्ही की परिणति आगे चलकर भिन्न-भिन्न नीति-नियमो मे होती है। समाज बना नही और बढने लगा नही कि मनुष्य के जीवन मे जटिलता आई नही। जटिलता के आते ही धर्म का रूप भी जटिल होता जाता है और समाज के विकास के साथ ही उसका रूप भी विराट् होने लगता है, क्योकि अब उसे केवल एक व्यक्ति की ही सहायता नही करनी है, उसी की आवश्यकता की पूर्त्ति नहीं करनी है— अब तो अनेको का, अनेक प्रकार की अवस्थाओ मे रहनेवालो का, प्रश्न उसके सामने रहता है। हिन्दू समाज आज बहुत विकसित रूप मे हमारे सामने है और इसी-लिए हिन्दू-धर्म का रूप भी विराट् हो गया है। वह केवल आदर्शो और सिद्धातो का प्रतिपादन करने वाला तात्त्विक धर्म ही नही रहा, बल्कि वह सब प्रकार की श्रेणियो, पक्तियो तथा विविध स्थितियो के लोगो को उनके लक्ष्य तक पहुचाने वाला व्यावहारिक या अमली धर्म हो गया है। एक से लेकर अनेक तक, छोटे से लेकर बडे तक, राजा से लेकर रक तक मूर्ख से लेकर पण्डित और तत्त्वदर्शी तक, पापी से लेकर पुण्यात्मा तक, स्त्री-पुरुष-बालक-वृद्ध सबकी सुविधाओ, आवश्यकताओ, कठिनाइयो का

ख़याल उसे रखना पडता है और इसलिए उसका रूप विविध और जटिल हो गया है। बडे-बडे तत्त्वदर्शियो से लेकर अबोध किसान, मजदूर, स्त्री, बालक तक की भूख बुझाने का सामर्थ्य उसमे है। तत्त्व-जिज्ञासुओ के लिए हिन्दू-धर्म मे गम्भीर दर्शन-ग्रन्थ तथा भगवद्गीता विद्यमान है, जीवन को पवित्र और उच्च बनाने वालो के लिए स्फूर्तिदायी उपनिषद् वर्तमान है, कर्म-काण्डियो और याज्ञिको के लिए विधि-निषेधात्मक वेद तथा स्मृति-ग्रन्थ है, भक्तो और भावुको के लिए रसमयी रामायण-भागवत आदि है, अज्ञो और अल्पज्ञो के लिए कथा-कहानियो-दृष्टान्तो से भरे पुराणादि तथा तान्त्रिक ग्रन्थ है एव समाज तथा राज्य-सचालको के लिए महाभारत, विदुर-नीति, शुक-नीति, कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र, वात्स्यायन के काम-सूत्र, कामन्दकीय नीति आदि साहित्य है, साहित्य-रसज्ञो और काव्य-पिपासुओ के लिए भिन्न-भिन्न साहित्य-ग्रन्थ तथा काव्य-नाटकादि है। इसी प्रकार क्या ज्योतिष, क्या वैद्यक, क्या कला, क्या शिक्षा, क्या युद्ध, सब विषयो पर हिन्दू वाड्मय मे अच्छा साहित्य मिलता है। वर्णाश्रम तथा भिन्न-भिन्न धर्म-मतो या सम्प्रदायो के भेद से हिन्दू-समाज और धर्म अनेक-विध हो गया है और उसकी इस विविधता, अनेकरूपता, व्यापकता और सर्व-लोकोपयोगिता के रहस्य को न समझने के कारण कितने ही देशी तथा विदेशी भ्रम में पड जाते है तथा उसकी लोक-प्रियता को देखकर हैरान हो जाते है। विविधता उन्हे उसके मूल-स्वरूप को भली-भाति नही देखने देती, विस्तार उसके आदर्शो तक सहसा नही पहुचने देता और लोक-प्रचार तथा लोक-प्रचलित साधारण रूप उनके मन मे वह स्फूर्ति नही पैदा करता, जो उच्च आदर्श कर सकता है। वे ऊचे तत्त्वो और आदर्शों की खोज मे हिन्दू-धर्म के पास उत्कण्ठा से आते है और उसके जन-साधारण मे प्रचलित व्यावहारिक और विकृत रूप को देखकर निराश हो जाते है। यह न उनका दोष है, न हिन्दू-धर्म का। यह दोष है हिन्दू-धर्म के विराट् रूप का और उसकी सगति लगा पाने की अपनी अक्षमता का।

हमे यह भूलना न चाहिए कि धर्म का यह विराट् रूप व्यक्तिगत नही, सामाजिक है। समाजोपयोगी वनने के हेतु से ही उसका इतना विस्तार हुआ है। जव मनुष्य अकेला होता है तव उसकी किसी धारणा या उसके आचार में मतभेद के लिए उतना स्थान नही रहता, जितना कि समाज मे या समाज वन जाने पर होता है। समुदाय के लिए मत-भेद विलकुल स्वाभाविक वात है। विचार और आचार-सवधी मत-भेदो ने ही ससार मे अनेक धर्म-पन्थो की स्थापना की है। इसी कारण हिन्दू धर्म में भी कई मत हो गये है, जिन्होने हिन्दू-धर्म को वहुत जटिल और व्यापक रूप दे दिया है।

पहले मनुष्य उत्पन्न होता है, वह कुछ विचार करता है, दूसरे पर अपने विचार प्रकट करता है और फिर कालान्तर मे वह लिखा जाकर पुस्तक-रूप मे प्रकाशित होता है। इस प्रकार कोई ग्रन्थ जहा व्यक्तियो या समाज की धारणाओ, प्रवृत्तियो और हलचलो का कार्य होता है वहा उनका कारण भी होता है, अर्थात् कोई ग्रन्थ जहा समाज के विचारो और आचारो का परिणाम-स्वरूप होता है वहा वह उसे आगे विचार और आचार के लिए प्रेरित भी करता है। इस कारण किसी ग्रन्थ को देखकर हम यह अनुमान कर सकते है कि उसके पूर्ववर्ती समाज को क्या अवस्था रही होगी, ग्रन्थ-कालीन समाज की आवश्यकताए क्या रही होगी, तथा परवर्ती समाज कैसा रहा होगा। समाज मे जो ग्रन्थ जितना ही अधिक आदरणीय होता है उतना ही वह समाज-स्थिति का, गति-विधि का अधिक और ठीक सूचक होता है। ऐतिहासिक विचारको ने ऐसे ग्रन्थो के आसपास के समय को, जिसपर उनका प्रभाव पडने का अनुमान किया गया हो, उस ग्रन्थ के काल का नाम दे दिया है। इसी प्रकार प्रभावशाली व्यक्ति-विशेष या सूचक वस्तु-विशेष के नामानुसार भी ऐतिहासिक कालविभाग किया गया है, जैसे—वेद-काल, उपनिषत्-काल, दर्शन-काल, वोद्ध-काल, गुप्त-काल, प्रस्तर-युग, धातु-युग आदि।

वेद हिन्दुओ के सवसे पुराने मान्य ग्रन्थ है। वे चार है—ऋक्,

यजु, साम और अथर्व । उनके आसपास के समय को वेद-काल कहते है। इस काल मे प्रार्थना तथा यज्ञयागादि के द्वारा अपने जीवन को सुखी और पवित्र बनाने का साधन हिन्दुओ को अभिमत था । इसके बाद उपनिषत्-काल आता है। उपनिषद् वेदो के विकास का फल है। इस काल मे आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी ऊची कल्पनाओ का उदय हुआ और हिंदू उच्च नैतिक जीवन तथा दार्शनिक विचारो के प्रेमी हुए । पश्चात् दर्शन-काल है और इनमे हिन्दुओ के---तत्कालीन आर्यो के--गम्भीर तत्त्व-चिन्तन, तर्कशुद्ध मनन और शास्त्रीय विचार-प्रणाली की गहरी छाप दिखाई पडती है। सूत्र और स्मृतिया हिन्दुओ के आचार-शास्त्र की, महाभारत, रामायण, पुराण आदि समाज-नीति की गहरी पहचान कराती है । हिन्दुओ के इस धर्म-साहित्य को देखने से जहा यह मालूम होता है कि धर्म-चिन्तन और धर्माचरण मे वे कैसे-कैसे प्रगति करते गये, तहा यह भी पता चलता है कि वे राज्य-सचालन, समाज-व्यवस्था आदि मे भी कैसे निपुण और बहुज्ञ होते थे ।

जैसे-जैसे हिन्दू-समाज बढता गया, धर्म-चिन्तन और धर्माचार मे विविधता और मत-भिन्नता होती गई, तैसे-तैसे उनके फलस्वरूप अनेक दर्शन, अनेक स्मृतिया, अनेक सम्प्रदाय-ग्रन्थ तथा अन्य पुस्तको की सृष्टि हुई और समाज अनेक वर्गो, जातियो, दलो मे विभक्त होता गया । मनुष्य के लक्ष्य और उसके मार्ग-सम्बन्धी बातो मे विवाद उपस्थित होने लगे तथा देश, काल, पात्र के अनुसार उनके व्यवहार की सीढिया जुदी-जुदी बनती गई । काल पाकर ईश्वर, जीव और जगत्-सबधी तत्त्व-विचारो मे इतनी भिन्नता हुई कि साख्य, मीमासा (दो भाग), न्याय, योग, वेदान्त, इन छ शास्त्रो की रचना हुई । यज्ञ-याग और कर्म-काण्डादि बाह्य साधनो की ओर अधिक ध्यान देने और अन्त शुद्धि की कम परवाह करने की अवस्था मे गौतम बुद्ध ने धर्म के स्वरूप मे सशोधन उपस्थित किया, जो कि बौद्ध सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ । इसी प्रकार तप और आत्म-शुद्धि के प्रति उदासीनता तथा हिंसा के अतिरेक को देखकर महावीर ने जैन-सम्प्रदाय

को पुष्ट किया। इसके आगे चलकर शकराचार्य ने अद्वैत, रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत और वल्लभाचार्य ने द्वैताद्वैत आदि मतो की स्थापना की। इधर धार्मिक जीवन के विकास-भेद से कर्म, भक्ति और ज्ञान, इन श्रेणियो का जन्म पहले ही हो चुका था, जिनके फलस्वरूप कर्ममार्गी, भक्तिमार्गी, ज्ञानमार्गी, अनेक पथ और धर्म-साहित्य वन गये। पुष्टिमार्ग, कवीरपथ, दादूपथ, नाथमप्रदाय, इसी के उदाहरण है। वर्तमान प्रार्थना-समाज, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, देवसमाज, थियासफी, आदि भी इसी प्रवृत्ति के सूचक और फल है। फिर त्याग और भोग-प्रवृत्ति अर्थात् कर्म-मार्ग और सन्यास-मार्ग, ये दो विभाग अलग हो गये। वर्णाश्रम के ८ विभागो के धर्म-मार्ग और भी विविध हो गये। भक्ति-मार्ग ने अनेक देवी-देवताओ की उपासना को, मूर्ति-पूजा को तथा योग-मार्ग ने देह-दण्डन तथा चित्त-शुद्धि के निमित्त दान, जप, तीर्थ, व्रत, नियम-विषयक एव जत्र, मत्र, तत्र-सवधी अनेक पथो को जन्म दिया। इन तमाम मतो, सिद्धान्तो, पथो का समावेश कर्म-मार्ग, भक्ति-मार्ग, और ज्ञान-मार्ग में भली-भाति हो जाता है। ये तीनो मार्ग मनुष्य की तीन वलवती चित्त-वृत्तियो के अनुसार वने है—कर्मण्यता या क्रियाशीलता, भावुकता या भावना-प्रचुरता और विरक्ति अथवा उदासीनता, ये तीनो उत्तरोत्तर ऊची सीढियाँ है। हिन्दू का जीवन कर्म से आरभ होकर ज्ञान में समाप्त होता है। ज्ञान का सवध मनुष्य के लक्ष्य से है—कर्म और भक्ति का साधनो से।

७ : नवदम्पति के लिए

नवदम्पतियो की दाम्पत्य जीवन-सम्बन्धी कई कठिनाइया अक्सर सामने आया करती है। कही पति-पत्नी का आपस मे मन-मुटाव हो जाता है, कही दूसरे लोग उन्हे एक-दूसरे के खिलाफ वहकाकर उनका गृह-जीवन क्लेशमय कर देते है, कही वे मा-बाप से बिगाड कर लेते है, कही कच्ची उम्र मे माता-पिता के पद को पहुचकर दुखी होते हुए देखे जाते है और कही तरह-तरह के गुप्त रोगो के शिकार हो जाते है। वाल्यावस्था मे हुए विवाहो

के ऐसे दुष्परिणाम बहुत देखे जाते हैं। एक ओर उन्हें सामाजिक और सांसारिक व्यवहार के नियमों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता और दूसरी ओर समाज की अलिखित मर्यादा उन्हें अपने बड़े-बूढ़ों के सलाह-मशविरे से रोक देती है। ऐसी अवस्था में, कठिनाई, उलझन या संकट के समय न स्वयं उन्हें प्रकाश-पथ दिखाई देता है और न दूसरों की काफी सहायता उन्हें मिल पाती है। धूर्त और स्वार्थी लोग ऐसी परिस्थितियों में न केवल खुद बेजा लाभ उठाते हैं, बल्कि दम्पति को भी बड़े संकट में डाल देते हैं। धनी और रईस लोगों के यहां ऐसी दुर्घटनाएं अधिक होती हैं, क्योंकि उनका धन और ऐश्वर्य खुशामदियों, धूर्तों, स्वार्थियों के काम की चीज होता है। अतएव अपने नव-विवाहित भाई-बहनों के लाभ के लिए कुछ ऐसे व्यावहारिक नियम यहां दिये जाते हैं, जिनके ज्ञान और पालन से वे बहुत से संकटों से बच सकेंगे

(१) सबसे पहली और जरूरी बात यह है कि उन्हें आपस में खूब प्रेम बढ़ाना चाहिए। एक को दूसरे के गुण की कद्र करनी चाहिए और दोनों को उदार दृष्टि से देखकर उन्हें दूर करने में परस्पर सहायता देनी चाहिए। पति बड़ा और पत्नी छोटी, यह भाव दिल से निकाल डालना चाहिए। प्रेम बढ़ाने का यह मतलब नहीं कि दिन-रात भोग-विलास की बातें सोचते और करते रहें, बल्कि यह कि एक-दूसरे का हृदय एक-दूसरे से अभिन्न हो जाय। एक का दुःख दूसरे को अपना दुःख मालूम होने लगे, एक की त्रुटि दूसरे को अपनी त्रुटि मालूम होने लगे। एक-दूसरे को अपना सखा, हितैषी और सेवक समझे। एक-दूसरे की रुचि का खयाल रक्खे। स्वभाव की त्रुटि या व्यवहार की भूलों को हृदय का दोष न समझ ले।

(२) दूसरी बात यह है कि परस्पर इतना विश्वास पैदा करलें और रखें कि तीसरा कोई भी व्यक्ति एक-दूसरे के बारे में उन्हें कुछ भी कह दे तो एकाएक उनके दिल पर उसका असर न हो। यदि असर हो भी जाय तो उसके अनुसार व्यवहार तो एकाएक हर्गिज न कर बैठना चाहिए। च

सम्बन्धी बुराई एक ऐसी वात होती है, जिसे स्वार्थी या नादान हितैषी इस तरह कह देते है कि सहसा विश्वास हो जाता है या होने लगता है। ऐसे समय खास तौर पर सावधान रहने की जरूरत है। ऐसे मामलो मे अत्युक्ति और अनुदारता की वहुत प्रवलता देखी जाती है। ऐसी वाते सुनकर, एकाएक आवेश मे आकर पति का पत्नी से या पत्नी का पति से विगाड कर लेना भारी भूल है। ऐसे मामलो मे एकवार तो मनुष्य अपनी आखो पर भी विश्वास न करे तो अच्छा। दोनो को एक-दूसरे के हृदय पर इतना विश्वास हो जाना चाहिए कि कोई बुराई प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी उसपर सहसा विश्वास न कर बैठे। यह मालूम हो कि नही, मेरी आखो को कुछ भ्रम हो रहा है। ऐसा विश्वास जमता है कि एक-दूसरे का हृदय एक-दूसरे पर खुला कर देने से पति पत्नी दोनो का निजी जीवन एक-दूसरे के लिए खुली पुस्तक होनी चाहिए। यदि दो मे से किसी के मन मे कोई कुविचार या कुविकार भी पैदा हो तो उसतक का जिक्र परस्पर मे करने योग्य हृदयैक्य दोनो का चाहिए। दो मे से जो ज्यादा समझदार और योग्य है उसे चाहिए कि ऐसे कुविचारो और कुविकारो की हानिया दूसरे को समझावे और उनके दूर करने मे सहायता दे। दोनो को एक-दूसरे के दिल का इतना इत्मीनान होना चाहिए कि वह निर्भय होकर अपनी वुराइया उससे कह दे और विश्वास-घात का भय न रहे। विश्वास मे कही गई बातो की रक्षा अपने प्राण की रक्षा के समान करनी चाहिए।

(३) तीसरी और सबसे नाजुक वात है दो मे से किसी से कोई नैतिक भूल हो जाने के समय की व्यवहार-नीति। दुर्भाग्य से हमारे समाज मे पुरुष की ैतिक भूल इतनी वुरी निगाह से नही देखी जाती, जितनी की स्त्री की देखी जाती है। ऐसी बुराइयो की भयकरता तो दोनो दशाओ मे समान है। यदि ऐसी कोई भूल हो जाय तो एकाएक लड पडने, वहिष्कार कर देने या आवेश मे आकर और कोई अनहोनी वात कर बैठने के पहले यह देखना चाहिए कि यह दोष भूल से हुआ है, जान-बूझकर किया गया है, या जबरन हुआ है। यदि भूल से हुआ है तो भूल दिखाना और उसका प्रायश्चित्त कराना

पहला उपाय है। यदि जान-बूझकर किया गया है तो इसका विचार अधिक गम्भीरता से करना चाहिए। इसके मूल कारण को खोजना चाहिए। कैसे लोगो की सगति मे अवतक का जीवन बीता है, कैसा साहित्य पढने या देखने की रुचि है, कैसा आहार-विहार है, घर का वायु-मण्डल कैसा है, इत्यादि बातो की छानबीन करके फिर भूल को नष्ट करने का उद्योग करना चाहिए। असफल होने की अवस्था मे बहिष्कार या सम्बन्ध-विच्छेद अन्तिम उपाय होना चाहिए। यदि जब्र किया गया हो तो जब्र करने वाला असली अपराधी है, उसका इलाज करना चाहिए और जिसपर जब्र किया गया हो उसे ऐसी सामर्थ्य प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिए, जिससे किसी किस्म के बलात्कार का शिकार वह न हो पाये। ऐसे अवसरो पर मनोभावो का उत्कट हो जाना स्वाभाविक है, परन्तु ऐसे ही समय बहुत शान्ति, धीरज, गम्भीरता, कुशलता और दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है। नवीन दम्पति ऐसे अवसरो पर कर्त्तव्य-मूढ हो सकते है। उन्हे घर के समझदार विश्वास-पात्र बडे-बूढो की अथवा अनुभवी मित्रो की सहायता ऐसे समय ले लेनी चहिए। बिना सोचे, तौले और आदमी देखे ऐसी बातो की चर्चा हलके दिल से न करनी चाहिए। दूसरे के घर की सुनी बातो की चर्चा भी बिना वजह और प्रयोजन के न करनी चाहिए।

(४) चौथी बात यह कि नवीन दम्पतियो को या तो घर के किसी बडे-बूढे को या किसी विश्वास-पात्र मित्र को या किसी महापुरुष को अपना पथ-दर्शक बनाना चाहिए। लज्जा और सकोच छोडकर अपनी कठिनाइया उनके सामने रखनी चाहिए और उनसे सलाह लेनी चाहिए। अक्सर देखा गया है कि झूठी लज्जा के वशवर्ती होकर कितने ही युवक-युवती बुराइयो, बुरी बातो, बुरे व्यवहारो और हरकतो को मन मसोसकर सहते रहते है— इससे खुद वे भी बुराई के शिकार होते रहते है और घर या समाज मे भी गन्दगी फैलती रहती है और उनकी आत्मा को भीतर-ही-भीतर क्लेश होता रहता है। कई बीमारियो मे वे फस जाते है और दु ख पाते रहते है। यह हालत बहुत खतरनाक है। इससे बेहतर यह है कि नि सकोच होकर गुह्य

बातो की भी चर्चा अधिकारी पुरुषो के सामने कर ली जाय।

(५) पाचवा नियम यह होना चाहिए कि विवाह के बाद योग्य अवस्था होते ही पति-पत्नी को साथ रहना चाहिए। दूर देशो मे अलग-अलग रहना, सो भी बहुत दिनो तक, भयप्रद है। साथ रहते हुए, जहा तक हो, सयम का पालन करना चाहिए। पर सयम के लोभ से अथवा खर्च-वर्च और असुविधा के खयाल से दूर रहना अनुचित और कुफलदायी है।

(६) गुप्तरोग हो जाने की अवस्था मे अपने जीवन के दूसरे साथी को उससे बचाने की चिन्ता रखनी चाहिए। उसके इलाज का पूरा प्रबन्ध करके आइन्दा उसे न होने देने के कारणो को जड से उखाड डालना चाहिए। अनुचित आहार-विहार, असयम, गदे स्थानो पर पाखाना-पेशाब, वेश्या-सेवन आदि से गुप्त रोग हो जाया करते हैं। सादा और अल्प आहार, सयम, स्वच्छता के ज्ञान और पालन से मनुष्य ऐसे रोगो से दूर रह सकता है। विज्ञापनी दवाइयो से हमेशा बचना चाहिए।

(७) सातवी बात यह है कि अश्लील और कामुकता तथा विलासिता के भावो को बढानेवाले नाटक, उपन्यास, आदि पढने व ऐसे थियेटर, सिनेमा, चित्र देखने से अपने को बचाना चाहिए। ऐसे मित्रो की सगति और ऐसे विषयो की चर्चा से उदासीन रहना चाहिए।

(८) आठवी बात यह है कि पत्नी की रुचि अपने अगीकृत कामो मे धीरे-धीरे बढानी चाहिए और उसे उनके ज्ञान और अनुभव का अवसर देना चाहिए। दोनो को एक-दूसरे के जीवन को बनाने और अगीकृत कार्यों को पूर्ण करने में दिलचस्पी लेनी चाहिए।

मुझे आशा है कि ये बाते नवदम्पतियो के लिए कुछ हद तक मार्ग-दर्शक का काम देगी'

●